तुलसी वाङ्मय

आगे की सुधि लेइ

आचार्य तुलसी

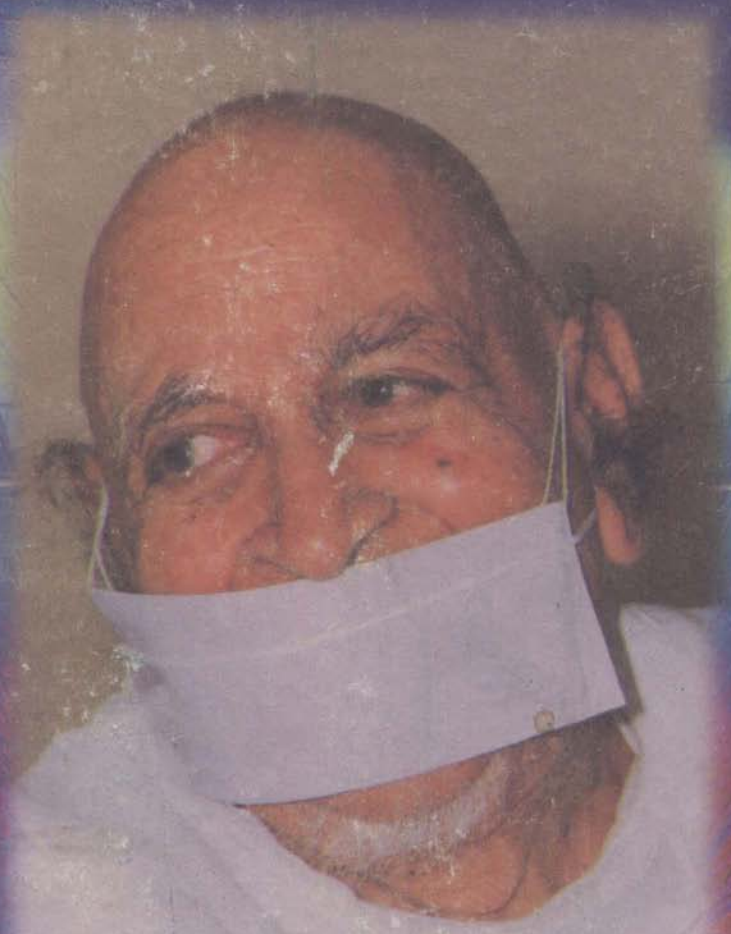

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला—४

आगे की सुधि लेइ

आचार्य तुलसी

एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी वाङ्मय

आचार्य श्री तुलसी बीसवीं सदी के एक विशिष्ट पुरुष थे। उनका कर्तृत्व बहुमुखी था। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से उन्होंने एक सफल धर्मक्रांति की, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। पदयात्राओं के द्वारा जन-जागरण का सघन अभियान चलाया। शिक्षा के क्षेत्र में *जैन विश्वभारती संस्थान* (मान्य विश्वविद्यालय) उनका महान अवदान है।

भारतीय वाङ्मय को भी उन्होंने बहुत समृद्ध बनाया। विभिन्न विधाओं में उन्होंने अनेक भाषाओं में साहित्य सरजा। जीवन के दूसरे दशक में प्रारंभ हुई उनकी साहित्य-साधना नवें दशक में प्रवेश कर जीवन के अंतिम समय तक चलती रही। उनका लेखन तो साहित्य बना ही, वाग्धारा भी साहित्य बनी। उनका तथा उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को उजागर करनेवाला साहित्य *तुलसी वाङ्मय* के रूप में संपादित हो रहा है। थोड़े विस्तार में *तुलसी वाङ्मय* का वर्गीकृत रूप इस प्रकार है–

● आत्मकथा साहित्य ● प्रवचन साहित्य ● यात्रा साहित्य ● कथा साहित्य ● जीवनवृत्त साहित्य ● निबंध साहित्य ● संदेश साहित्य ● संस्मरण साहित्य ● संवाद साहित्य ● विचार साहित्य ● संस्कृत साहित्य ● आख्यान साहित्य ● काव्य साहित्य ● पद्य साहित्य ● गीत साहित्य ● आदि आदि।

उनके साहित्य में कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है कि आज भी उसमें वह ताजगी महसूस होती है, जो उसके रचना-क्षणों में थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगे की सुधि लेइ

आचार्य तुलसी

जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादक :
मुनि धर्मरुचि

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती
लाडनूं (राज.) ३४१३०६

© प्रकाशकाधीन

सौजन्य : 'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति' स्व. श्रीमती मक्खूदेवी
(धर्मपत्नी स्व. चंदनमलजी लूणिया) की पुण्य स्मृति में
श्रीमती फूलदेवी (धर्मपत्नी स्व. नेमीचंदजी) एवं
श्री पन्नालाल, शुभकरण लूणिया
(चाड़वास–शिलांग–इंदौर)

संस्करण : २००५

मूल्य : सौ रुपये मात्र

कंपोज एवं टाइप सेटिंग :
सर्वोत्तम साहित्य संस्थान, उदयपुर

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, सुगन निवास
चंदनसागर, बीकानेर ३३४००१ (राज.)

Aage Ki Sudhi Lei
by Acharya Tulsi

ISBN 81-7195-103-1
Rs. 100.00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धवाणी

आचार्य तुलसी युगद्रष्टा और युगस्रष्टा दोनों थे। उन्होंने युग को देखा और नवयुग का सिरजन किया। नैतिकता और अध्यात्म–इन दोनों विषयों को उनकी प्रकाश-रश्मियों ने आलोकित किया।

आचार्य तुलसी महान परिव्राजक थे। प्रव्रज्या ने उनके अनुभव के वातायन को विस्तार दिया। व्यापकता उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। युग के व्यापक दर्शन ने युगीन समस्याओं के निवारण का दायित्व पूरे कौशल के साथ निभाया।

आचार्य तुलसी प्रवचनकार थे। प्रवचन करने का अधिकार हर-किसी को प्राप्त नहीं होता। जिसकी अंतःप्रज्ञा जाग्रत होती है, वही पुरुष प्रवचनकार हो सकता है।

आचार्य तुलसी महान क्रांतिकारी थे। उनकी क्रांत वाणी ने जनमानस को बदला। परिमाणतः रूढ़िवाद के स्थान पर गतिशीलता के दर्शन हुए।

आचार्य तुलसी सिद्धपुरुष थे। उनकी सिद्धि अनेक दिशाओं में ज्योति विकिरण करती थी। उस ज्योति का हर कण दूसरों के लिए ज्योतिपुंज जैसा होता था। उनका चिंतन और अनुभव उनकी वाणी में अतिमात्रा में प्रस्फुटित हुआ है। उनकी वाणी में भी सिद्धि थी। उनका हर वाक्य एक शिक्षा-पद था।

कुछ व्यक्ति साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं, कुछ व्यक्ति बोलते हैं और सहज साहित्य का सृजन हो जाता है।

आचार्य तुलसी ने सुदीर्घकाल–साठ वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन प्रवचन किया। कभी-कभी दिन में दो बार, तीन बार, और चार बार भी। फलतः प्रवचनों का एक विशाल कोष हमारे सामने है।

इन प्रवचनों में केवल शब्दों का चयन नहीं है, अपितु अर्थ का गांभीर्य भी है, एक प्रेरणा भी है। उसमें स्पष्ट है–चेतना का स्पंदन। मानव की स्पंदित चेतना ही नए विकास का आयाम खोलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह कहना संगत नहीं होगा कि उनके प्रवचन जनता के लिए उपयोगी हैं, बल्कि कहना यह संगत होगा कि इनमें युग को नई दिशा, नई दृष्टि और नया दर्शन देने की क्षमता है।

'प्रवचन प्राथेय ग्रंथमाला' के रूप में संकलित/संपादित हो रहे उनके प्रवचनों की रेखाएं एक चित्र का निर्माण कर सकती हैं–वह चित्र, जिसमें मानवता को झांका जा सकता है। उनकी अनुभूति का एक स्वर विमर्शनीय है–

> 'आचार जीवन की मूल पूंजी है। इस धन से संपन्न व्यक्ति ही वास्तव में संपन्न है। जिसके पास यह पूंजी नहीं है, यह धन नहीं है, वह महादरिद्र है, भले वह कितना भी बड़ा अर्थपति क्यों न हो। यह कितनी गंभीर चिंतनीय बात है कि आज मानव जीवन की यह मूल पूंजी ठुकराकर एकमात्र पैसे के पीछे पागल-सा बन रहा है। उसके समक्ष अपना एक ही लक्ष्य है कि येन केन प्रकारेण अधिक-से-अधिक पैसा अर्जित और संगृहीत किया जाए। **संयमः खलु जीवनम्–संयम ही जीवन है** के स्थान पर *पैसा ही जीवन है* को उसने अपना आदर्श-सूत्र बना लिया है। इस अर्थप्रधान या अर्थकेंद्रित चिंतन ने समाज में अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों एवं भ्रष्टाचार को पनपने की उर्वरा तैयार की है।'

उनके प्रवचनों के संकलन/संपादन का प्रयत्न श्रीचंदजी रामपुरिया ने किया, और कई व्यक्तियों ने भी किया, पर इस कार्य में शक्ति का सर्वाधिक नियोजन किया मुनि धर्मरुचि ने। उसी का परिणाम है कि 'प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला' के इक्कीस भाग *तुलसी वाङ्मय* के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में एक साथ पाठक को उपलब्ध हो रहे हैं। आचार्यवर की सिद्धवाणी से पाठक लाभान्वित होगा, उससे पूर्व मुनि धर्मरुचि स्वयं भी बहुत लाभान्वित हुए हैं। इसी लिए उन्होंने शारीरिक दुर्बलता के बावजूद इस कार्य में अथक श्रम किया है। उनकी श्रम की बूंदें पाठक को निष्णात करती रहेंगी।

आचार्य तुलसी को जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करना युग का धर्म है। इस धर्म की आराधना में जो संलग्न है, वह साधुवाद का पात्र है।

२६ सितंबर २००४

२०१वां भिक्षु निर्वाण वर्ष — **आचार्य महाप्रज्ञ**

सिरियारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वकथ्य

साहित्य की अनेक विधाएं हैं। हर विधा अपने क्षेत्र में उपयोगी और महत्वपूर्ण होती है। उपयोगिता की दृष्टि से किन्हीं दो विधाओं की तुलना नहीं हो सकती। रुचि, अभिव्यक्ति, भाषा आदि के आधार पर भी साहित्य को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। कोई भी भाषा हो, समग्र साहित्य के दो रूप हैं–विद्वद्भोग्य और जनभोग्य। विद्वद्भोग्य साहित्य की भाषा, शैली और विषयवस्तु स्तर की होती है। उसे पढ़ने के लिए विकसित मस्तिष्क, एकाग्रता और अनुकूल पृष्ठभूमि की अपेक्षा रहती है। जनभोग्य साहित्य मां के दूध की तरह सबके काम में आनेवाला होता है। उस साहित्य का एक उत्स है–प्रवचन।

प्रवचनकार प्रवचन करता है। उसके सामने जनता होती है। जनता में विद्वान और साधारण जन–दोनों प्रकार के व्यक्ति होते हैं। वे उस समय ऐसी बातें सुनना चाहते हैं, जो सुनने के साथ-साथ आत्मसात हो जाएं। उस समय पांडित्य के प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रहती। जनभाषा, जनजीवन के लिए उपयोगी बातें, जन-समस्याएं एवं उनके समाधान, जनता की अपेक्षाएं और प्राथमिक रूप की तात्त्विक एवं सैद्धांतिक चर्चा–इन बिंदुओं को ध्यान में रखकर किया जानेवाला प्रवचन सहज रूप में जनभोग्य बन जाता है। उसमें कई बार पुनरुक्ति हो सकती है, पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रतिपादित एक ही बात अपनी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न नहीं लगने देती।

जैनविद्यामनीषी श्रावक श्रीचंदजी रामपुरिया प्रवचन-साहित्य का बहुत मूल्यांकन करते हैं। वे बहुत बार कहते हैं–'आचार्यों के प्रवचन का एक भी वाक्य खोना नहीं चाहिए।' श्रीचंदजी-जैसे उच्चकोटि के विद्वान और अनुभवी व्यक्ति के मुंह से ऐसी बात सुनकर कभी-कभी मन में संकोच-सा हो जाता है, पर यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि प्रवचनों का साहित्य के रूप में संकलन करने का काम इन्हीं के द्वारा प्रारंभ किया गया। रामपुरियाजी द्वारा संकलित पुस्तकें—*प्रवचन डायरी* नाम से प्रकाशित हुईं।

प्रवचन-संकलन का सिलसिला चला तो चलता ही चला। समय-समय पर वे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। हमारे अनेक साधु-साध्वियों ने अपना समय और श्रम लगाया और प्रवचन-साहित्य की धारा-सी बह चली। वह साहित्य पहले भिन्न-भिन्न नामों से प्रकाशित हुआ, फिर *प्रवचन पाथेय* में परिणत हो गया।

आगे की सुधि लेइ, 'प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला' का १३वां पुष्प है। इसमें मुख्यतः सन १९६६ में हुई श्रीगंगानगर-यात्रा के प्रवचन संकलित हैं। इनका संकलन साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने नहीं, साध्वी कनकप्रभा ने किया। इन वर्षों में प्रवचन-संकलन का काम मुनि धर्मरुचि कर रहा है। साध्वीप्रमुखा ने प्रवचनों की फाइलें इसे सौंप दीं। मुनि धर्मरुचि की इस क्षेत्र में अच्छी पकड़ और गहरी लगन है। वह शरीर से दुर्बल है, पर बहुत श्रमशील है। जो काम हाथ में लेता है, उसे पूरी निष्ठा से करता है। वह मानता है कि प्रवचन सुनने और लिखने से उसे बहुत लाभ हुआ है।

सन १९६६ के प्रवचनों का संपादन सन १९९२ में हो, यह श्रम का दुरूह काम है, पर मुनि धर्मरुचि ने इसे सहज बना लिया। प्रवचनकार कोई, संकलनकर्ता कोई और संपादक कोई, लेकिन एक लक्ष्य से प्रतिबद्ध होने के कारण इनमें कहीं दुरूहता की झलक नहीं मिलती। जनभोग्य साहित्य की शृंखला में यह एक नई कड़ी जुड़ रही है। इसकी उपयोगिता का अंकन पाठकों पर छोड़कर मैं यही कामना करता हूं कि इस क्षेत्र में काम करने के लिए और भी साधु-साध्वियां दक्ष बनें।

जैन विश्वभारती, लाडनूं
१ फरवरी १९९२

आचार्य तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादकीय

उट्ठिए णो पमायए—यह भगवान महावीर का संदेश है, बल्कि कहना यों चाहिए कि सभी तीर्थंकरों का संदेश है, समूची ऋषि-परंपरा का संदेश है। ऋषि जागरण के प्रतीक होते हैं, जागरण की प्रेरणा होते हैं। वे स्वयं जागरण को जीते हैं और जन-जन को जागरण का संदेश देते हैं। इसलिए जागरण का यह संदेश उतना ही शाश्वत है, जितनी शाश्वत ऋषि-परंपरा।

आचार्य श्री तुलसी भारतीय ऋषि-परंपरा के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं। तेरापंथ धर्मसंघ उन्हें अनुशास्ता के रूप में पाकर गौरवान्वित हुआ है तो जैन-शासन उन्हें एक प्रभावक आचार्य के रूप में पाकर महिमामंडित बना है, पर इनसे भी विशिष्ट और व्यापक पहचान मिली है उन्हें एक मानव-धर्म के आचार्य के रूप में। इसका आधार बना है—उनका जागरण संदेश। विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में यह जागरण-संदेश कभी अणुव्रत के रूप में प्रतिध्वनित हुआ है तो कभी शांति-शोध और अहिंसा प्रशिक्षण के रूप में। कभी इसे प्रेक्षाध्यान की भाषा मिली है तो कभी जीवन-विज्ञान की। हालांकि आचार्यश्री तुलसी का जागरण-संदेश जीवन-जागरण का संदेश है पर उसका दायरा इतना व्यापक है कि व्यक्तिगत से लेकर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर तक उभरनेवाली समस्याओं का समाधान अनायास उसमें मिल जाता है। यही कारण है कि भले नई दिल्ली में *राष्ट्रीय एकता परिषद* की महत्त्वपूर्ण बैठक हो और चाहे इटली में धर्मगुरुओं की प्रतिनिधि सभा, आचार्यश्री की प्रत्यक्ष-परोक्ष उपस्थिति के लिए आग्रहभरा निवेदन रहता है; और व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान पाने के लिए तो विभिन्न वर्गों, विभिन्न स्तरों के लोग सैकड़ों-हजारों की संख्या में उनकी प्रवचन-सभाओं में उपस्थित होते ही रहते हैं। मैं अनेक बार लोगों के मुंह से इस आशय की शब्दावली सुनता हूं कि आज आचार्यश्री ने समूचा प्रवचन मुझे लक्ष्य करके ही किया था। उनका प्रवचन सुनकर मेरी वर्षों की उलझन/समस्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाहित हो गई। मैं नहीं जानता कि आचार्यश्री किस-किस को लक्ष्य करके प्रवचन करते हैं, पर इतना सुनिश्चित रूप से जानता हूं और अनुभव करता हूं कि आचार्यश्री के प्रवचनों से प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से लोगों की समस्याएं समाधान की राह पाती हैं।

मैं मानता हूं, हर प्रवचनकार की प्रवचन करने की अपनी एक शैली होती है। आचार्यश्री की भी अपनी एक शैली है, विशिष्ट शैली है। उनके प्रवचनों में तत्त्व, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, काव्य, आख्यान, संगीत, कथा, दृष्टांत, संस्मरण, घटना, लोकोक्ति, इतिहास, परंपरा, बीते कल की समीक्षा, आनेवाले कल की तस्वीर, वर्तमान युग-बोध, प्रेरणा, प्रशिक्षण, मार्गदर्शन, प्रयोग का जो मिला-जुला समृद्ध रूप देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वे अपने प्रवचन के लिए कोई एक विषय लेते हैं, उसका प्रतिपादन शुरू करते हैं और उसके बीच में जो कोई विशेष शब्द, दार्शनिक या तात्त्विक संदर्भ, ऐतिहासिक प्रसंग या सामयिक-शाश्वत चर्चा सामने आ जाती है, उसकी कली-कली खोलते चलते हैं। इस प्रतिपादन में प्रायः ऐसा अनुभव किया जाता है कि आचार्यश्री ने अपना मूल विषय छोड़ दिया है और वे एकदम विषयांतर हो गए हैं, पर मुझे लगता है, यह स्थूल दृष्टि की बात है। सूक्ष्म दृष्टि कि बात यह है कि आचार्यश्री बिलकुल अपने विषय पर चलते हैं। उनके प्रवचन का मूलतः एक ही विषय है—जागरण; और यह जागरण का स्वर उनके प्रवचन-प्रवचन एवं प्रवचन के हर वाक्य-वाक्य तथा शब्द-शब्द में अनुगुंजित होता हुआ सुनाई देता है। इसे केंद्र में रखकर ही वे विभिन्न संदर्भों में अपनी बात कहते हैं। शुरू किया गया विषय तो बहुत गौण बात है। प्रवचनकार को कहीं-न-कहीं से तो अपनी बात का सूत्र उठाना ही होता है।

हालांकि आचार्यश्री के प्रवचनों में साहित्यिक गुण-सुमनों का सौरभ सहज रूप में महकता है, पर उनके प्रवचनों की विशेषताएं हैं—सहजता, सुबोधता, हृदय को छूने की अर्हता और समस्याओं की समाधायक क्षमता। उनकी इन विशेषताओं को सुरक्षित रखने के लिए अपेक्षित है कि उनका उसी स्तर पर संकलन/संपादन हो। मैं इस दृष्टि से अपने-आपको बहुत अक्षम पाता हूं। पर गुरु गुरु ही होते हैं। वे निर्माता होते हैं। ना-कुछ को भी बहुत-कुछ बना देते हैं। मिट्टी को भी घड़ा बना देते हैं। अपनी अक्षमता की अनुभूति में भी यह सक्षमता प्राप्त कर मैंने आचार्यप्रवर के प्रवचनों के संकलन/संपादन का काम शुरू किया। उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फलस्वरूप गत वर्षों में *प्रवचन पाथेय* के पुष्प क्रमांक–४,५,६,८,१० और १२ प्रकाशित होकर जनता के हाथों में पहुंचे। इस क्रम में *प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला* का यह तेरहवां पुष्प *आगे की सुधि लेइ* के नाम से प्रकाश में आ रहा है। इसमें श्रीगंगानगर-यात्रा (सन १९६६) के लगभग तीन माह के प्रवचन संकलित हैं।

आगे की सुधि लेइ की मूल सामग्री महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने इस दायित्व पर आने से पूर्व संकलित की थी। हालांकि उनका संपादन का जैसा अनुभव है, इस कार्य में उनकी जैसी त्वरित गति है और आचार्यप्रवर का उन्हें जैसा विश्वास प्राप्त है, वह सब देखते हुए इसका संपादन उनके लिए सहज कार्य था, तथापि उन्होंने यह कार्य स्वयं न कर मुझे सौंपा। इसके पीछे उनका क्या दृष्टिकोण रहा है, यह वे ही जानती हैं। मैं तो ऐसा मानता हूं कि यह मेरे संपादन की एक परीक्षा है। मैं नहीं जानता कि मैं इस परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित किया जाऊंगा या अनुत्तीर्ण, पर मैं स्वयं अपने-आपको अनुत्तीर्ण नहीं मानता, क्योंकि किसी कार्य को निष्ठा और ईमानदारीपूर्वक करना ही मेरी उत्तीर्णता की कसौटी है। वैसे यह कार्य सौंपकर महाश्रमणीजी ने अपने हृदय की उदारता का परिचय दिया है। इस निमित्त से पूज्य गुरुदेव की इस कृति से जुड़ने का मुझे सहज अवसर प्राप्त हुआ। मैं मानता हूं, गुरु की किसी कृति से जुड़ना किसी शिष्य के लिए अत्यंत सौभाग्य की बात है। महाश्रमणीजी को यह सौभाग्य सहज रूप से प्राप्त है। अपने इस सौभाग्य में उन्होंने मुझे भी सहभागी बनाया, इसके लिए मैं अत्यंत कृतज्ञ हूं।

पूज्य गुरुदेव मेरी अंतहीन आस्था के केंद्र हैं। धर्मचक्र-प्रवर्तक भगवान महावीर तथा तेरापंथ-प्रणेता आचार्य भिक्षु और उनकी सात पीढ़ियों को देखने के सौभाग्य से मैं वंचित रहा हूं, पर पूज्य गुरुदेव को देखता हूं तो पाता हूं कि उन सबके व्यक्तित्व की बहुत-सी विशेषताएं इस एक व्यक्तित्व में सन्निहित हैं। मुझे ऐसे महान गुरु मिले, इससे बढ़कर मेरे जीवन का और क्या सौभाग्य होगा! इस सौभाग्य की प्राप्ति के कारण मुझे उस सौभाग्य की अप्राप्ति का कोई गम नहीं है। जीवन के किसी क्षेत्र में मिलनेवाली सफलता उनके मंगल आशीर्वाद का ही सुप्रसाद है। इस कार्य की संपन्नता भी उनके आशीर्वाद की ही उपलब्धि है। चाहता हूं कि उनके इस आशीर्वाद की छत्रछाया में उनके हर आदेश/निदेश को उपलब्धि में बदलता रहूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघपरामर्शक मुनिश्री मधुकरजी मेरे स्थायी संरक्षक हैं। उनका कुशल दिशादर्शन मेरे विकास की विभिन्न राहें आलोकित करता रहा है।

संसारपक्षीया बहिन साध्वी निर्वाणश्रीजी का इस संपादन-कार्य में सहज सहयोग प्राप्त हुआ है। वे मेरे जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ प्रेरक और पूरक के रूप में जुड़ी हुई हैं। हालांकि साधु-जीवन की अपनी कुछ मर्यादाएं होती हैं, तथापि इस सीमा में छोटी बहिन के रूप में उनका जो सहयोग मुझे प्राप्त है, वह मेरी संयम-यात्रा के लिए बहुत मूल्यवान है। मैं चाहता हूं, भाई-बहिन का यह तादात्म्य संबंध परस्पर सहयोग की राह से गुजरता हुआ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अभिवृद्धि में योगभूत बनता रहे।

तुलसीप्रज्ञा के संपादक डॉ. परमेश्वर सोलंकी के श्रम का मूल्यांकन करता हूं, जिन्होंने परिशिष्ट क्रमांक ३ तैयार कर मेरे कार्य में सहयोग किया है।

मेरे अनन्य सहयोगी मुनि मुनिसुव्रतजी का उल्लेख करना नहीं भूल सकता। सेवा का उनमें सहज संस्कार है। पूज्य गुरुदेव की सेवा में तो उन्हें सहज आत्मतोष मिलता ही है, छोटे-बड़े किसी साधु की सेवा भी वे अत्यंत प्रसन्नता से करते हैं। वे मुझे अत्यंत आत्मीय भाव से सहयोग दे रहे हैं। उनके इस सहयोग के कारण ही मैं पुस्तक-संपादन के लिए पर्याप्त समय निकाल पाया।

पिछले दिनों एक वरिष्ठ समाजसेवी ने मुझसे कहा—'महाराज! मैं इन दिनों *प्रवचन पाथेय* पढ़ रहा हूं। वह पुस्तक बहुत उपयोगी है।' ऐसी ही अनुभूति विदेश में कार्यरत एक प्रबुद्ध इंजीनियर की है। मैं मानता हूं, आचार्यश्री के प्रवचन इतने हृदयग्राही हैं कि ऐसी अनुभूति किसी ग्राहक-बुद्धिवाले पाठक को होना बहुत स्वाभाविक है। जैसाकि आचार्यप्रवर ने मेरे लिए अपने स्वकथ्य में लिखा है, मैं स्वयं भी इन प्रवचनों के सुनने और लिखने से बहुत लाभान्वित हुआ हूं। जिस प्रकार गुड़ सबके लिए मीठा होता है, उसी प्रकार आचार्यप्रवर के प्रवचन जन-जन के लिए मंगलकारी हैं। अस्तु, *आगे की सुधि लेइ* के रूप में प्रवचनों का यह संकलन लोगों के हाथों में है। लोग इसे पढ़ें, उस पर मनन करें और जागरण का संदेश हृदयंगम कर अपना जीवन सार्थकता की दिशा में मोड़ें—यही अपेक्षा है।

जैन विश्वभारती, लाडनूं
बसंत पंचमी, वि. सं. २०४८

—मुनि धर्मरुचि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्करण : २००५

आगे की सुधि लेइ का संस्करण : २००५ अपेक्षित परिष्कार एवं परिवर्धन के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

संपादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

कालजयी व्यक्तित्व आचार्य श्री तुलसी की अमृत-वाणी (प्रवचन) के संकलन भिन्न-भिन्न नामों से *प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला* के पुष्पों के रूप में वर्षों से *जैन विश्वभारती* द्वारा प्रकाशित होते रहे हैं। विगत कुछ वर्षों से आचार्य श्री तुलसी का साहित्य *तुलसी वाङ्मय* के रूप में संकलित/संपादित हो रहा है। सुझाव आया कि 'प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला' को भी *तुलसी वाङ्मय* में समाविष्ट कर देना चाहिए। सुझाव उपयुक्त था। अतः अब यह ग्रंथमाला *तुलसी वाङ्मय* के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में प्रकाशित हो रही है। इससे इस ग्रंथमाला की व्यापकता और बढ़ेगी, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत ग्रंथमाला के संयोजन/संपादन में आदरणीय मुनिश्री धर्मरुचिजी ने अपने समय, श्रम एवं शक्ति का जो नियोजन किया है, वह प्रशस्य और अनुकरणीय है। इस ग्रंथमाला के प्रकाशन में चाड़वास (राज.) निवासी श्रद्धा की प्रतिमूर्ति स्व. श्रीमती मक्खूदेवी (धर्मपत्नी श्री चंदनमलजी लूणिया) की पुण्य स्मृति में शासनभक्त एवं समर्पित लूणिया परिवार का अर्थ-सौजन्य उपलब्ध हुआ है। इस सहयोग के लिए श्रीमती फूलदेवी (धर्मपत्नी स्व. नेमीचंदजी लूणिया) एवं श्री पन्नालालजी, श्री शुभकरणजी तथा उत्साही युवा कार्यकर्ता श्री मनोज लूणिया के प्रति *जैन विश्वभारती* की ओर से हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं और यह आशा करता हूं कि यह परिवार संस्था की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास में इसी प्रकार योगभूत बना रहेगा। इस कार्य के संपादन में सर्वोत्तम साहित्य संस्थान के भाई किशन जैन की निष्ठापूर्ण सक्रियता रही है। प्रमोद कुमार ने बहुत तत्परता से कंपोजिंग कार्य किया है। इन सबके सहयोग की स्मृति करते हुए यह आशा करता हूं कि इस ग्रंथमाला से जन-जन को नई दिशा और नई दृष्टि मिलेगी।

दिनांक २६ सितंबर २००४
२०१वां भिक्षु निर्वाण वर्ष
जैन विश्वभारती, लाडनूं

नरेंद्र छाजेड़
मंत्री
जैन विश्वभारती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

१.	धर्म : सर्वोच्च तत्त्व	१
२.	शांति का सही मार्ग	६
३.	अध्यात्म की खोज	१३
४.	अहिंसा : एक विश्लेषण	१६
५.	साध्य और सिद्धि	२५
६.	धर्म और व्यवहार	३०
७.	नियति और पुरुषार्थ	४२
८.	आत्मविकास की प्रक्रिया	४८
९.	धर्म का स्वरूप	५४
१०.	विद्यार्थी और जीवन-निर्माण की दिशा	६४
११.	अध्यात्म और व्यवहार	७१
१२.	साधना की सफलता का रहस्य	७५
१३.	स्वयं की उपासना	८१
१४.	आत्मा : महात्मा : परमात्मा	८८
१५.	मुक्ति का मार्ग	९९
१६.	संतोषी : परमसुखी	१०३
१७.	जैन-धर्म और अहिंसा	१०५
१८.	जीवन की सफलता के दो आधार	१११
१९.	सत्य की खोज	११७
२०.	शांति का मार्ग—अपरिग्रह	१२२
२१.	संत-दर्शन का माहात्म्य	१२८
२२.	जनतंत्र और धर्म	१३१
२३.	आत्मा और पुद्गल	१३९
२४.	मद्यपान : एक घातक प्रवृत्ति	१४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५. श्रद्धा और आचार की समन्विति १५४
२६. जैन-धर्म : एक वैज्ञानिक धर्म १६०
२७. साधना का प्रभाव १६६
२८. सत्संग का महत्त्व १७३
२९. कैसे मनाएं महावीर को १७९
३०. विद्याध्ययन : क्यों : कैसे १८६
३१. सुख और शांति का मार्ग १९६
३२. दीक्षा : सुख और शांति की दिशा में प्रयाण २०२
३३. आत्मदर्शन : जीवन का वरदान २०७
३४. जाग्रत जीवन २११
३५. आकांक्षाओं का संयम २२०
३६. पूंजीवाद और अपरिग्रह २२९
३७. सच्चरित्र क्यों बनें २३४
३८. अच्छे और बुरे का विवेक २३८
३९. जाग्रति : क्यों : कैसे २४८
४०. धर्म का तूफान २५४
४१. अनेकांत और वीतरागता २५९
४२. अहिंसा और अनासक्ति २६३
४३. शांति-सुख का मार्ग—त्याग २७०
४४. मैत्री और राग २७५
४५. आचार और विचार से पवित्र बनें २७८
४६. आस्तिक : नास्तिक २८१
४७. आगे की सुधि लेइ २८५
४८. महाव्रत से पूर्व अणुव्रत २९०
४९. दुःख-मुक्ति का आवाहन—अणुव्रत २९५
५०. आचार और मर्यादा २९९
५१. स्वस्थ समाज रचना ३०२
५२. अणुव्रत : जाग्रत धर्म ३०५
५३. समता का दर्शन ३०७
५४. संघ का गौरव ३१३
• **परिशिष्ट** ३१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ : धर्म : सर्वोच्च तत्त्व

जीवन : एक कच्चा धागा

जीवन एक कच्चा धागा है। इसे टूटने में समय नहीं लगता। एक झटका लगा कि टूट जाता है, पर जिस प्रकार चतुर जुलाहा कच्चे धागों को भी चातुर्य से धीरे-धीरे काम लेता हुआ उनका वस्त्र बनाकर लाभान्वित होता है, उसी प्रकार हर व्यक्ति चातुर्य से इस जीवन का लाभ उठा सकता है।

जीवन की सार्थकता

जीवन की सार्थकता धन-संपत्ति पाना नहीं है, ऊंची-ऊंची बिल्डिंगों का निर्माण करना और बड़े-बड़े कल-कारखाने लगाना भी नहीं है। क्यों? यह इसलिए कि ये सब उपलब्धियां भौतिक जीवन से संबंध रखती हैं। इनसे आत्मा का कोई हित नहीं सधता। आत्मिक दृष्टि से सबसे बड़ी उपलब्धि है—शील और आचार। यह उपलब्धि जिसके पास होती है, वह सारे संसार को जीत लेता है। *विदुरनीति* का एक श्लोक इसी भावना का प्रतिनिधित्व करता है—

सभा जिता वस्त्रवता, मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता, सर्वं शीलवता जितम्॥

— जो अच्छे वस्त्र धारण करता है, वह सभा को जीत लेता है, जिसके पास गाय है, वह तरह-तरह की मिठाइयां खाने की इच्छा को जीत लेता है (पूरी कर लेता है), जिसके पास वाहन है, वह लंबे मार्ग को भी जीत लेता है (तय कर लेता है), पर शीलसंपन्न सबको जीत लेता है।

मैं मानता हूं, यदि चरित्र ऊंचा है तो वहां सब योग्यताएं स्वयं व्यक्त हो जाती हैं। चरित्र-विकास की योजना लेकर हम ग्राम-ग्राम में घूम रहे हैं। आज भी हमने पंजाब और राजस्थान दो प्रांतों की क्षेत्र-स्पर्शना की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज से बारह वर्ष पहले हम डाबड़ी आए थे। इस बीच कई यात्राएं पूरी करके आज फिर यहां आ गए हैं।

हम सब राही हैं

हम राही हैं। इसलिए घूमते रहते हैं। मैं ही क्यों, आप भी तो राही हैं। लेकिन कैसी बात है कि आप स्वयं को स्थायी मान बैठे हैं! यदि गहराई में पैठें तो मेरा विचार ही सही होगा। आप निश्चित समझें कि कोई स्थायी है ही नहीं। जो आता है, वह अपना गमन पूर्व से ही निश्चित करके आता है।

धर्म का स्वरूप और मर्यादा

आगमन के अवसर पर मैं जनता से एक बात कहना चाहूंगा कि वह धर्म का वास्तविक स्वरूप समझे। सामान्यतः लोग धर्म को कठोर आचरण कहकर उससे बचना चाहते हैं। इस विषय में मेरा चिंतन सर्वथा भिन्न है। मैं मानता हूं, वास्तव में धर्म ऐसा तत्त्व है, जिससे सरल दूसरा कोई मार्ग हो नहीं सकता। बावजूद इसके, पता नहीं क्यों लोग इसे खांडे की धार मानकर चलते हैं। इसी संदर्भ में मैंने कहा है–

अथ से इति तक जिसका अवितथ पथ है सीधा-सादा।
कथनी-करनी की समानता बस जिसकी मर्यादा।
जाने क्यों भय खाते मानव समझ इसे असि-धारा॥
जाग्रत धर्म हमारा॥
जीवित धर्म हमारा॥

यह एक अनुभूत सचाई है कि धर्म का मार्ग प्रारंभ से अंत तक बिलकुल सीधा है। धर्म की बहुत छोटी-सी मर्यादा है–जैसा कहना, वैसा करना। जहां कथनी और करनी में अंतर पड़ता है, वहां धर्म सुरक्षित नहीं रह सकता। इसलिए धार्मिक व्यक्ति की यह बहुत स्पष्ट पहचान है कि वह अपनी कथनी और करनी की एकरूपता के प्रति विशेष जागरूक होता है।

पर्व-धर्म : नित्य-धर्म

धर्म के दो रूप हैं–पर्व-धर्म और नित्य-धर्म। पर्व-धर्म का अर्थ है–क्रियाकांड–उपासना। नित्य-धर्म का अर्थ है–सत्य, अहिंसा अपरिग्रह, शील, संयम, करुणा, मैत्री आदि का व्यवहारगत होना। हालांकि क्रियाकांड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या उपासना कोई निरर्थक तत्त्व नहीं है, उसका भी जीवन में मूल्य है, तथापि मात्र वे क्रियाकांड हमारे लिए उपयोगी हैं, जो नित्य-धर्म को पुष्ट करें, जीवन की पवित्रता साधें। जो क्रियाकांड इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते, उनकी कोई सार्थकता समझ में नहीं आती। आज स्थिति यह है कि क्रियाकांड तो बहुत बढ़े हैं, पूजा-उपासना खूब चलती है, पर जीवन की पवित्रता की अपेक्षा से उनका कोई असर दिखाई नहीं देता। उनकी ओट में धर्म के मौलिक सिद्धांत व्यवहारगत बनाने की बात सर्वथा गौण-सी हो गई है। इस स्थिति में पर्व-धर्म मात्र प्रदर्शन बनकर रह गया है। इसलिए मैंने कहा है–

पर्व-धर्म का बढ़ा प्रदर्शन क्रियाकांड अनगिन हैं।
नित्य-धर्म हो रहा उपेक्षित छिन्न-भिन्न जीवन है।
अत्यावश्यक है यह चिंतन धर्माचार्यों द्वारा।।
जाग्रत धर्म हमारा।।
जीवित धर्म हमारा।।

जाग्रत धर्म

आज धर्म के क्षेत्र में अनेक प्रकार की बुराइयां आ गई हैं। लोग धर्म को भी अपनी मानसिकता के अनुकूल ढालने का प्रयास कर रहे हैं। यह अच्छी बात नहीं है। होना यह चाहिए कि व्यक्ति स्वयं का जीवन धर्म के अनुरूप बनाए, धर्म के सिद्धांत जीवन-व्यवहार में उतारे। जब तक धर्म के सिद्धांत जीवन-व्यवहार में नहीं आते, तब तक धर्म से व्यक्ति का अपेक्षित हित नहीं होता।

मैं देखता हूं, लोग अपने-अपने धर्म को ऊंचा और श्रेष्ठ साबित करने का प्रयत्न करते हैं, पर मेरी दृष्टि में सबसे श्रेष्ठ और पवित्र धर्म है–सत्य और अहिंसा। मैं तो यहां तक कहता हूं कि इससे भिन्न धर्म का कोई दूसरा रूप हो ही नहीं सकता। इस धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसे सिद्धांततः सभी एकमत से स्वीकार करते हैं। इसकी दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इसे करने के लिए व्यक्ति को अतिरिक्त समय लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। बस, अपने हर व्यवहार/प्रवृत्ति के साथ इसे जोड़ने की अपेक्षा है। यह धर्म का व्यावहारिक रूप है। मेरी दृष्टि में व्यावहारिक धर्म ही जाग्रत धर्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वोच्च तत्त्व

बंधुओ! धर्म जीवन का सर्वोच्च तत्त्व है, सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। इसकी तुलना में संसार की कोई चीज नहीं ठहरती। लोग अर्थ को चाहे कितना ही मूल्य क्यों न दें, पर इसके समक्ष वह कुछ भी नहीं है। इसकी तुलना में उसका पलड़ा हलका रह जाता है, बहुत हलका रह जाता है।

प्रसंग पंडित जगन्नाथजी का

पंडित जगन्नाथजी दिल्लीनरेश के अत्यंत कृपापात्र थे। एक बार किसी बात पर नरेश के नाराज होने पर वे वहां से नेपाल चले गए। नेपालनरेश ने पंडितजी को शरण दी और आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध करवाईं। पंडितजी वहां रहने लगे। एक दिन नेपालनरेश ने उनसे पूछा–'क्यों पंडितजी! किसी बात की कमी तो नहीं है?'

पंडितजी ने सुना और तत्काल संस्कृत में बोले–

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा, मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
नेपालभूपात् परिदीयमानं, शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्।

– राजन! मेरी इच्छा पूर्ण करनेवाले या तो भगवान हैं या दिल्ली-नरेश। आपके द्वारा मुझे जो प्राप्त है, वह तो शाक या लवण के लिए ही पर्याप्त हो सकेगा।

बंधुओ! यही बात मैं आपसे कह रहा था। अर्थ धर्म की तुलना में कोई महत्त्व का तत्त्व नहीं है। जीवन में सुख और शांति प्राप्त करने की अभीप्सा धर्म ही पूरी कर सकता है। धन तो मात्र जीवन चलाने का एक साधन है। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति धर्म का सही-सही मूल्यांकन करे और उसे जीवन के क्षण-क्षण में जीने का प्रयत्न करे।

जीवन की सार्थकता

डाबड़ी में हम आज दूसरी बार आए हैं। तब और अब में बहुत अंतर आ गया हैं, पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परिवर्तन प्रकृति का एक अनिवार्य नियम है। व्यक्ति के जीवन में भी कितना परिवर्तन आ जाता है! इसे टाला नहीं जा सकता। टालने की जरूरत भी क्या है? जरूरत इतनी ही है कि व्यक्ति हर बदलती परिस्थिति में अपने-आपको संभालकर रखे। धन का आना और जाना–ये दोनों स्थितियां भी इसी परिवर्तन की परिणतियां हैं, पर इन दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति धर्म पर सुदृढ़ रहे, यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षित है। जिस व्यक्ति को धर्म पर गहरी श्रद्धा होती है, जिसका व्यवहार धर्म से ओतप्रोत होता है, वह अपना जीवन सार्थक बना लेता है।

संतों के आगमन पर आपको किसी प्रकार की ऊपरी तैयारी की अपेक्षा नहीं है। तैयारी बस एक ही बात की अपेक्षित है। वह अपेक्षा है—अपना हृदय तैयार करने की। संतों के जीवन से प्रेरणा लेकर आप अपना जीवन संयम की दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करें, उसे व्रत और संकल्प से भावित करने का प्रयास करें। निश्चय ही आपके जीवन में आनंद का स्रोत फूट पड़ेगा।

डाबड़ी

६ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२ : शांति का सही मार्ग

हर प्राणी को सुख की चाह है। दुःख किसी को काम्य नहीं है। इसलिए व्यक्ति सुख की टोह में अपना समूचा जीवन बिता देता है। सुख का साधन है–संतोष। **संतोषी परम सुखी**–यह जनश्रुति यथार्थपूर्ण है, क्योंकि संतोष से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। कोई गरीब हो या धनवान, तृष्णा के रहते उसके लिए शांति का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता, क्योंकि तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। इस संदर्भ में कवि सुंदरदासजी ने लिखा है–

जो दस बीस पचास भए, सय होय हजार तो लाख मंगेगी।
कोड़ अरब्ब खरब्ब असंख, धरापति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल को राज करूं, तृष्णा दिन की दिन और बढ़ेगी।
'सुंदर' एक संतोष बिना नर! तेरी तो भूख कभू न भगेगी॥

यह एक शाश्वत तथ्य है कि ज्यों-ज्यों इच्छा की पूर्ति होती है, त्यों-त्यों आकांक्षा का विस्तार होता जाता है। जो व्यक्ति दस रुपयों की इच्छा करता है, वह स्वर्ग और पाताल का राज्य पाकर भी संतुष्ट नहीं होता। शास्त्रों में कपिल मुनि का उदाहरण आता है, जो इस तथ्य की पूर्ण पुष्टि करता है।

प्रसंग कपिल मुनि का

कपिल कौशांबी के राजपुरोहित कश्यप का पुत्र था। यशा उसकी माता थी। अचानक कश्यप की मृत्यु हो गई। अतः राजा ने कश्यप के स्थान पर राजपुरोहित के रूप में किसी दूसरे ब्राह्मण की नियुक्ति कर दी। वह ब्राह्मण जब बाजार से होकर गुजरता, तब छत्र धारण करता। उसे देखकर यशा की आंखों में आंसू आ जाते। एक दिन कपिल ने उसे रोते हुए देखा तो उसका कारण पूछा। यशा ने कहा–'वत्स! एक दिन तुम्हारे पिताश्री भी इस राजपुरोहित की तरह छत्र धारण करके राजसी ठाट-बाट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ बाजार से गुजरते थे, पर तुम्हारे अनपढ़ होने के कारण उनका यह पद इस ब्राह्मण को मिल गया। हमारा सारा सम्मान और ठाट-बाट इस ब्राह्मण के पास चला गया।' कपिल को अपनी अज्ञता पर बहुत दुःख हुआ। उसने कहा–'मां! अब मैं विद्या पढ़ूंगा।' यशा ने कहा–'यह तो बहुत अच्छी बात है, पर तुम्हें पढ़ाएगा कौन? यहां के सभी ब्राह्मण ईर्ष्यालु हैं।' फिर वह दो क्षण जरा चिंतन करके बोली–'हां, एक काम हो सकता है। तुम यहां से श्रावस्ती नगरी चले जाओ। वहां तुम्हारे पिताश्री के परम मित्र इंद्रदत्त रहते हैं। वे तुम्हें सहर्ष विद्याध्ययन कराएंगे।'

कपिल श्रावस्ती पहुंच गया। वहां उसने इंद्रदत्त से संपर्क किया। कपिल का मित्र-पुत्र के रूप में परिचय पाकर वह अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने अध्ययन करवाना तत्काल स्वीकार कर लिया। उसके भोजन और आवास की व्यवस्था उसने नगरी के शालिभद्र नामक एक धनाढ्य सेठ के घर पर कर दी। कपिल का अध्ययन व्यवस्थित रूप से शुरू हो गया, पर कुछ ही दिनों पश्चात एक दुर्घटना घटित हो गई। सेठ के घर पर दासी की एक कन्या थी। कपिल को भोजन करवाने तथा उसके कक्ष की सफाई आदि करने का काम वही करती थी। वह युवा थी। कपिल उसके रूप-लावण्य में उलझ गया। प्रतिदिन के संसर्ग से संबंधों की प्रगाढ़ता हो गई। उन दोनों के पारस्परिक व्यवहार की वर्जनाएं टूटने लगीं। इस क्रम में एक दिन वह भी आया, जब दासकन्या ने अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर दिया। वह बोली–'मैं तुम्हारे चरणों में ही रहना चाहती हूं। तुम ही मेरे सर्वस्व हो। इस सेठ के यहां तो मात्र अपने जीवन-निर्वाह के लिए रह रही हूं। यदि तुम्हारे पास मेरे भरण-पोषण जितनी व्यवस्था होती तो यहां रहती ही नहीं।'

कुछ दिन और बीते। एक दिन कपिल ने देखा कि आज दासकन्या बहुत उदास है। उसने उससे उदासी का कारण पूछा। वह बोली–'दासी-महोत्सव का दिन सन्निकट है। मैं वह महोत्सव मनाना चाहती हूं।' कपिल बोला–'खुशी से मनाओ। उदास होने की क्या बात है?' दास-कन्या बोली–'तुम मेरी पीड़ा नहीं समझते। मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। इस निर्धनता के कारण मुझे कितना अपमानित एवं तिरस्कृत होना पड़ रहा है। मेरी सखियां मेरी हंसी कर रही हैं, मुझ पर ताने कस रही हैं। बोलो कि ऐसी स्थिति में महोत्सव मनाऊं तो कैसे मनाऊं।' दासकन्या की इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति ने कपिल को अत्यंत संवेदित किया। उसका मन व्यथित हो उठा, पर वह निरुपाय था। चाहकर भी उसे सहयोग करने की स्थिति में नहीं था। अपने इस असहायत्व, निरुपायत्व एवं अपुरुषत्व पर उसे हलका रोष आया। अंदर-ही-अंदर उसकी आत्मा ने धिक्कारा भी। उसकी आंखें छलछला आईं। उसकी यह स्थिति देख दासकन्या बोली–'पुरुषपात्र होकर रोते हो! तुम्हें यह शोभा नहीं देता। इतने अधीर मत बनो। रोने से समस्या नहीं सुलझेगी। कुछ पुरुषार्थ करो।' कपिल बोला–'तुम ठीक कहती हो, पर मेरी यहां किसी से जान-पहचान नहीं। व्यापार-व्यवसाय करना मैं बिलकुल भी जानता नहीं। अन्य कोई कला मेरे पास है नहीं। पढ़ा-लिखा भी अब तक मैं विशेष हूं नहीं। ऐसी स्थिति में तुम ही बताओ कि मैं क्या पुरुषार्थ करूं।'

दासकन्या ने कहा–'देखो, मैं तुम्हें एक उपाय बताती हूं, समाधान सुझाती हूं। इस नगरी में धन नाम का एक सेठ है। उसका वर्षों से यह क्रम है कि प्रातःकाल सबसे पहले पहुंचकर बधाई देनेवाले ब्राह्मण को वह दो माशा सोना देता है। तुम यह उपाय काम में लेकर दो माशा सोना ले आओ। मेरी समस्या समाहित हो जाएगी। मैं उससे अच्छी तरह से दासी-महोत्सव मना लूंगी।'

कपिल को दासकन्या की यह बात जच गई। बस, अगले ही दिन जाकर सेठ को बधाई देने का निर्णय उसने कर लिया। प्रातः जल्दी उठने की चिंता में उसे रात में पूरी नींद भी नहीं आई। वह अर्ध-रात्रि में ही जग गया। सही समय का उसे बोध नहीं हुआ। इस आशंका से कि मेरे से पूर्व आज कोई दूसरा ब्राह्मण कहीं सेठ को बधाई देने न पहुंच जाए, वह तत्काल वहां से प्रस्थित हो गया, पर वह थोड़ी ही दूर गया होगा कि राजपुरुषों की नजर उस पर पड़ी। उन्होंने चोर समझकर उसे पकड़ लिया और डंडों से उसकी खूब पिटाई की। कपिल के मन में विचार आया–सोना तो पता नहीं मिलेगा या नहीं, डंडे तो पहले ही मिल गए!

प्रातः चोर के रूप में कपिल को राजा के सम्मुख हाजिर किया गया। कपिल ने रुआंसे स्वर में कहा–'महाराज! मैं चोर नहीं हूं। राजपुरुषों ने मुझे मात्र संदेहवश पकड़ा है।' राजा ने पूछा–'फिर तुम अर्धरात्रि में क्यों घूम रहे थे?' राजा के इस प्रश्न पर कपिल ने अपनी सारी बात सरलता से बता दी। राजा को उसकी बात पर विश्वास हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। उसकी परिस्थिति समझकर उसके मन में उसके प्रति सहानुभूति भी पैदा हो गई। दयार्द्र होकर उसने कहा–'मैं तुम्हारी सत्यवादिता पर प्रसन्न हूं। तुम जो-कुछ चाहो, वह मांग लो। तुम्हारी इच्छा मैं पूरी करूंगा।' राजा की बात सुनकर कपिल के पैरों में घुंघरू बंध गए। वह मन-ही-मन दासकन्या को धन्यवाद देने लगा। लेकिन 'क्या मांगू' इस बिंदु पर उसका दिमाग उलझ गया। उसने राजा से निवेदन किया–'मुझे सोचने के लिए कुछ समय दीजिए।' राजा ने कहा–'अच्छा, तुम सोचकर बता दो।' आज्ञा लेकर कपिल राजा की अशोक वाटिका में चला गया और खड़ा-खड़ा सोचने लगा कि राजा जब मेरे पर तुष्ट है, तब दो माशा सोना ही क्यों मांगूं; दो से होगा भी क्या; क्यों न चार माशा मांग लूं; पर उतने से भी क्या होगा; आधा तो दासी-महोत्सव में ही खर्च हो जाएगा; शेष दो माशा कुछ दिन खाने में पूरा हो जाएगा; कपड़े फटे हुए हैं, उनकी व्यवस्था कैसे होगी; मकान भी तो बनवाना है·····अच्छा है, बीस माशा मांग लूं।····· यों वह बढ़ता गया, बढ़ता गया और इस क्रम में उसकी आकांक्षा आधा राज्य मांगने तक पहुंच गई। पर उसे यहां भी विराम कहां था! वह और आगे बढ़ी–क्यों न पूरा राज्य ही मांग लूं और राजा को संन्यासी बनने का कह दूं। मैं राजा होकर आस-पास के राज्य और जीत लूंगा। इस संसार में मेरा एकछत्र·····

उधर राजा उसकी प्रतीक्षा में था। घंटों का समय बीत गया, तथापि वह नहीं लौटा तो उसकी खबर करने के लिए उसने अपने अनुचरों को भेजा। वे वाटिका में पहुंचे। उन्होंने कपिल से कहा–'महाराज तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' कपिल बोला–'अभी थोड़ी देर और ठहरो। मैं अब तक पूरा सोच नहीं पाया हूं, सोच ही रहा हूं।'

लालसा के शिखर पर पहुंचकर कपिल मुड़ा–कहां मैं दो माशा सोना प्राप्त करने के लिए घर से चला था और कहां पूरा राज्य ही मांगने के लिए उद्यत हो गया! रे कपिल! तुझ जैसा भी कोई अधम होगा! राजपुरुषों द्वारा चोर के रूप में परिचय कराए जाने के बाद भी राजा ने दयार्द्र बनकर तुझसे इच्छित मांगने को कहा। इस अनुग्रह का यह बदला! इतनी कृतघ्नता! और वह भी उस दासकन्या के कारण! उस प्रिया के कारण! कौन किसकी प्रिया! कौन किसका प्रिय! कौन-सा घर! यह सारा मायाजाल है। चला था विद्याध्ययन के लिए और कहां फंस गया इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायाजाल में! तिस पर भी मन भरा नहीं! यह तो अब भी खाली-का-खाली ही है। और यह धन से कभी भर भी नहीं सकता। संसार-भर का धन प्राप्त करके भी मन की लालसा शांत नहीं हो सकती। इसे भरा जा सकता है तो एकमात्र संतोष से भरा जा सकता है। संतों के पास संतोष ही तो है। इसी लिए वे सदा शांति की अनुभूति करते हैं, सदा सुखी रहते हैं। अच्छा है मैं साधु बन जाऊं।.....

बस, उसकी एकाग्रता बढ़ी और उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। वह स्वयंबुद्ध बन गया। केशों का लुंचन करके वह राजा के समक्ष हाजिर हुआ।

कपिल अब याचक नहीं, मुनि थे। राजा-सहित सारी सभा उन्हें इस वेश में देखकर आश्चर्यचकित थी। राजा ने कहा–'बोलो कि क्या सोचा।' कपिल मुनि बोले–'राजन! मांगने का समय बीत गया। जो मुझे पाना है, वह मैंने प्राप्त कर लिया। अब कुछ भी पाना शेष नहीं बचा है। वैसे मांगने के लिए मैंने सोचा बहुत था; और जो सोचा था, वह मांग लेता तो अभी तुम भूखे फकीर बन जाते।' यों कहते हुए उन्होंने पूरा राज्य मांगने तक की अपनी लालसा की सारी कहानी सुनाई। एक क्षण रुककर उन्होंने कहा–'लेकिन राजन! पूरा राज्य भी मुझे तृप्त नहीं कर सका। मेरी लालसा तुम्हारे विशाल राज्य से कहीं विशाल थी, किंतु जैसे ही मैंने मुड़कर संतोष की दिशा में मुंह किया, मेरा मार्ग प्रशस्त हो गया। सचमुच तृष्णा आकाश की तरह अनंत है। दो माशे सोने की प्राप्ति की आकांक्षा से मैं घर से प्रस्थित हुआ था और वह दो करोड़ सोनैयों पर भी समाप्त नहीं हुई। लाभ के साथ लोभ जुड़ा हुआ है। ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों व्यक्ति का लोभ भी बढ़ता जाता है। इस तृष्णा का अंत पदार्थ से नहीं पाया जा सकता। संतोष ही उसका अंत है। त्याग ही उसे जीत सकता है। इस संतोष और त्याग का जीवन जीने के लिए मैंने साधुत्व स्वीकार कर लिया है। अब अकिंचन होकर भी मैं परम सुखी हूं, परम शांति का अनुभव कर रहा हूं।'

मुनि कपिल अस्खलित वाणी में बोले जा रहे थे–'भूपाल! संतोष से बढ़कर संसार में कोई धन नहीं है, त्याग से बढ़कर कोई उपलब्धि नहीं है। जिसने संतोष को पा लिया, त्याग का पथ अंगीकार कर लिया, उसने सब-कुछ पा लिया। और कुछ पाने की बात बस समाप्त हो गई। वह परम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखी हो गया। बहुत-कुछ पास होने पर भी गृहस्थ की आकांक्षा नहीं मिटती। वह सात पीढ़ियों तक के लिए धन बटोरने का प्रयत्न करता है,भाग-दौड़ करता है। दूसरी तरफ संतजन कल की भी चिंता नहीं करते। साधु और गृहस्थ के सुखी और दुखी होने का यही राज है। इसलिए यदि तुम भी सुखी होना चाहते हो, शांति का अनुभव करना चाहते हो तो संतोष की दिशा में प्रयाण करो, त्याग की दिशा में प्रस्थान करो।'

कपिल मुनि का उपदेश सुनकर राजा-सहित सारी परिषद संतोष और त्याग की धारा में प्रवाहित होने लगी।

अणुव्रत : जीने की सच्ची कला

बंधुओ! यह कपिल की नहीं, संतोष और त्याग के चमत्कार की कहानी है, शांति को उपलब्ध होने का दर्शन है। आप भी इससे प्रेरणा लें और संतोष व त्याग का पथ स्वीकार करें। आप कहेंगे, कपिल तो मुनि बन गए, पर हम तो मुनि नहीं बन सकते, दीक्षा स्वीकार नहीं कर सकते। ठीक है, आप मुनि नहीं बन सकते, दीक्षा स्वीकार नहीं कर सकते, पर अपना जीवन नरक तो न बनाएं; एक सीमा तक तो अपनी लालसा को नियंत्रित रखें। संतोष की दिशा में चरण तो गतिशील करें; त्याग-संयम की आंशिक साधना तो करें। अणुव्रत संतोष के साथ जीने का रास्ता है, त्याग और संयम की साधना का उपक्रम है। इसके छोटे-छोटे व्रत अंगीकार कर आप अपना जीवन सुख-शांतिमय बना सकते हैं, मानव-जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकते हैं। अणुव्रत के छोटे-छोटे व्रत आप सुनें–

- निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करूंगा।
- अमानत में खयानत नहीं करूंगा।
- किसी को धोखा नहीं दूंगा।
- बेमेल मिलावट नहीं करूंगा।
- नकली को असली बताकर नहीं बेचूंगा।
- तौल-माप में कमी-बेशी नहीं करूंगा।
- परस्त्री और वेश्यागमन नहीं करूंगा।
- जुआ नहीं खेलूंगा।
- मद्य-मांस का उपयोग नही करूंगा।
- धूम्रपान नहीं करूंगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- सगाई-विवाह में ठहराव नही करूंगा।
- पैसे आदि के प्रलोभन से वोट न दूंगा और न लूंगा।

इस प्रकार के और भी अनेक व्रत हैं। इन व्रतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सभी धर्मों के लोग इन्हें समान रूप से स्वीकार कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहूं तो इन व्रतों की यह संकलना संपूर्ण मानवीय आचार-संहिता है, स्वस्थ समाज संरचना का कार्यक्रम है, जीने की सच्ची कला है। यह कला सीखकर यानी अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार कर आप अच्छा जीवन जीने का पथ प्रशस्त कर सकते हैं।

किराड़ा

१२ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३ : अध्यात्म की खोज

आज संसार में भौतिक विकास अपनी चरम सीमा पर है। पर इसके बावजूद मनुष्य अशांत है, यह एक सचाई है। शांति की खोज में वह चारों ओर भटक रहा है। पहाड़, गुफा, जंगल, आकाश, समुद्र ..... सब उसने छान डाले हैं, फिर भी उसे शांति नहीं मिली। अब तो वह चंद्रलोक में भी पहुंचने की चेष्टा में है, पर वहां भी शांति नहीं हो। वह मिल भी नहीं सकती। यह बहुत सीधी-सी बात है कि जो चीज जहां नहीं है, वह वहां खोजने से नहीं मिल सकती। शांति बाहर है नहीं, वह है अपनी आत्मा के भीतर। इसलिए शांति की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को बाहर से भीतर की ओर मुड़ना होगा, अपने अंतःस्थल में उसे खोजना होगा।

शांति की खोज का अर्थ

अंतःस्थल में शांति की खोज का अर्थ है आत्मस्थ होना, अध्यात्म को जीना। हमने अध्यात्म को जीकर शांति का अनुभव किया है। आज के इस सुविधावादी एवं साधनबहुल युग में भी हम साधु लोग अनेक प्रकार के अभावों में जीते हैं। हालांकि पदयात्रा करना, नंगे पांव चलना, भिक्षा से अनिवार्य अपेक्षाओं की पूर्ति करना आदि हमारी जीवनचर्या के अनिवार्य अंग हैं, तथापि इन चर्या-नियमों को निभाते हुए हमें अनिर्वचनीय शांति की अनुभूति होती है। हमारी शांति इनसे कहीं बाधित नहीं होती।

अणुव्रत : अध्यात्म को जीने का उपक्रम

मैं ऐसा मानता हूं कि शांति की चाह सार्वकालिक है, सार्वजनीन है। भौतिक आविष्कारों से चमत्कृत करनेवाले वैज्ञानिक भी आज अध्यात्म की खोज में अभिरुचि ले रहे हैं। शांति की चाह उन्हें भी है। आप निश्चित मानें, कोई व्यक्ति जीवन के किसी क्षेत्र में चाहे कितनी ही ऊंचाई को क्यों न छू ले, आत्मशांति की चाह उसकी भी रहेगी। जैसाकि मैंने अभी कहा, शांति की खोज का अर्थ है—अध्यात्म को जीना। इसे उलटकर हम इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में भी कह सकते हैं कि अध्यात्म को जीकर ही व्यक्ति आत्म-शांति को उपलब्ध हो सकता है। अणुव्रत अध्यात्म को जीने की सीधी और सरल प्रक्रिया है। हालांकि इसके व्रत छोटे-छोटे हैं, तथापि इनका प्रभाव बहुत गहरा है। *गीता* में कहा गया है—**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्।** अणुव्रत के संदर्भ में इसे इस भाषा में कहा जा सकता है—**अणुरपि व्रतस्यैष, त्रायते महतो भयात्।** मैं गांव-गांव और शहर-शहर में अणुव्रत की चर्चा करता हूं। इसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्पों के आधार पर जन-जन अध्यात्म के मार्ग पर चलना सीखे, आत्मशांति का अनुभव करे।

निर्विशेषण धर्म

भादरा में मैं लंबी प्रतीक्षा के बाद आया हूं। यहां आने का भी मेरा यही उद्देश्य है कि आपको अणुव्रत का कार्यक्रम समझाऊं, उस पर चलने की प्रेरणा दूं। अणुव्रत आज निर्विशेषण धर्म के रूप में जन-जन को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। मैं मानता हूं, वास्तव में तो धर्म निर्विशेषण ही है, पर धर्म के प्रवक्ताओं की विभिन्नता के कारण उसके भी विभिन्न नाम हो गए हैं। मूलतः धर्म तो सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, करुणा, मैत्री आदि तत्त्व हैं। आप ध्यान दें, संसार के सभी धर्म इन्हें एकमत से स्वीकार करते हैं। जो धर्म इन्हें स्वीकार नहीं करता, वह मेरी दृष्टि में वास्तव में धर्म है ही नहीं।

धर्म और संप्रदाय

धर्म और धर्म-संप्रदाय का भेद आप लोगों को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। हर-एक संप्रदाय में धर्म हो सकता है, पर संप्रदाय धर्म नहीं है। धर्म की सुरक्षा और साधना के लिए संप्रदाय भी उपयोगी है, तथापि संप्रदाय धर्म नहीं है। धर्म का संबंध तो जीवन की पवित्रता से है और वह सत्य, अहिंसा आदि तत्त्वों के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प इन्हीं तथ्यों पर आधारित हैं।

धर्म : परम वैज्ञानिक तत्त्व

बंधुओ! धर्म एक परम वैज्ञानिक तत्त्व है। मेरी दृष्टि में धर्म से बढ़कर दूसरा कोई वैज्ञानिक तत्त्व हो नहीं सकता। इसमें रूढ़ि को कोई स्थान नहीं है। जो लोग धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवाद को प्रोत्साहन देते हैं, वे भयंकर भूल करते हैं। मेरा स्पष्ट अभिमत है कि इस वैज्ञानिक युग में वे धर्म टिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं सकेंगे, जो रूढ़िवादी हैं। भविष्य उसी धर्म का है, जो जाग्रत है और जाग्रति का पाठ पढ़ाता है। सचमुच ऐसा ही धर्म हमारे लिए उपयोगी है। अणुव्रत जाग्रत धर्म है, जीवित धर्म है। अणुव्रत-पथ अपनाकर आप अपने जीवन में आत्मशांति का अनुभव कर सकते हैं, उसे पवित्रता से भर सकते हैं। आत्मशांति की अनुभूति और पवित्रता की प्राप्ति से बढ़कर जीवन का और क्या सौभाग्य हो सकता है! आप अपने-अपने सौभाग्य को जगाएंगे—ऐसी आशा करता हूं।

भादरा

१४ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४ : अहिंसा : एक विश्लेषण

धर्म एक है, पर उसके रूप अनेक हैं। जैसे आकाश के एक होने पर भी घटाकाश, पटाकाश आदि भेदों से उसे अनेक भागों में बांटा जाता है, वैसे ही धर्म एक होने पर भी उसे अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षांति आदि भेदों की प्रधानता से विवेचित किया जाता है। इसकी एक बड़ी उपयोगिता है। धर्म के एक रूप का ही विवेचन करने से वह सबके लिए उपयोगी नहीं हो सकता, क्योंकि लोगों की रुचियां एक सरीखी नहीं होतीं। और तो क्या, खाद्य व पेय की रुचि में भी भिन्नता पाई जाती है। बंगाल और बिहार में चावल अधिक मात्रा में खाया जाता है, जबकि राजस्थान में बाजरे का उपयोग ज्यादा होता है।

धर्म के विभिन्न रूप

धर्म के क्षेत्र में भी रुचि-सदृशता की बात नहीं हो सकती। कोई साधक ध्यान की साधना करना चाहता है तो कोई जप में रस लेता है। किसी को अध्ययन-अध्यापन का काम अच्छा लगता है तो किसी की रुचि खाद्य-संयम में होती है। कोई भक्ति-रस में लीन रहता है तो किसी का मन सेवा में खूब लगता है।..... साधना की ये विभिन्न भूमिकाएं हैं। इनमें से एक ही भूमिका पर चलने का आग्रह नहीं होना चाहिए। एक व्यक्ति साधना के जिस मार्ग पर चलता है, दूसरा उसका ही अनुकरण करे, यह एकांत आग्रह गलत होता है।

साधक अपने साधना-पथ का निर्धारण या चयन करने में स्वतंत्र है। वह अपनी रुचि के अनुसार अपना साधना-पथ निर्धारित कर सकता है, पर इसके साथ ही वह दूसरों की स्वतंत्रता में बाधक भी न बने, यह नितांत आवश्यक है। जैसे वह अपने साधना-पथ का निर्धारण या चयन करने में स्वतंत्र है, वैसे ही हर साधक स्वतंत्र है। इस स्थिति में किसी की स्वतंत्रता बाधित करनेवाला साधक नहीं, बाधक है। अलबत्ता, इसमें कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठिनाई नहीं कि साधक अपने स्वीकृत साधना-पथ पर चलने की दूसरों को प्रेरणा दे; उसकी उपयोगिता और उपादेयता से परिचित करवाए, पर बलात किसी पर अपनी रुचि या चयन थोपना अनधिकृत चेष्टा है, एक प्रकार की हिंसा है। अध्यात्म के क्षेत्र में इसे कभी मान्यता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए मैंने कहा कि विभिन्न रुचियां हैं और विभिन्न साधना के क्रम हैं। जिसे जो क्रम रुचिकर लगे, वह उसे स्वीकार करके चले। मूलभूत बात है मंजिल पर पहुंचने की। जो कोई मार्ग व्यक्ति को मंजिल तक पहुंचाता है, वह उपादेय है, सही है। इसके ठीक विपरीत जिस पथ पर चलकर व्यक्ति उजाड़ में फंस जाता है, भटक जाता है, वह वास्तव में सही पथ नहीं है, इसलिए उपदेय भी नहीं है।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि सभी विचार अपेक्षाभेद से सही हो सकते हैं, बशर्ते कि उनमें आग्रह न हो। इसी के समानांतर सभी प्रकार के विचार अयथार्थ हो सकते हैं, यदि उनके पीछे आग्रह जुड़ा हुआ है। वस्तुतः वैचारिक आग्रह बहुत ही खतरनाक तत्त्व है। जहां वैचारिक आग्रह जागता है, वहां सत्य सो जाता है। एक अपेक्षा से सत्य अनाग्रह का ही नाम है। भगवान महावीर ने अनाग्रह पर बहुत बल दिया है। अनेकांत का सिद्धांत उसी अनाग्रह पर आधारित है।

मोक्ष-प्राप्ति और संप्रदाय

मुझसे कई बार पूछा जाता है कि क्या मोक्ष की प्राप्ति के लिए जैनत्व की मोहर लगाना जरूरी है। इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहा करता हूं कि मोक्ष-प्राप्ति और किसी धर्मसंप्रदायविशेष की मोहर लगाने का परस्पर कोई सीधा संबंध नहीं है। व्यक्ति किसी धर्म-संप्रदायविशेष से संबद्ध न होकर भी यदि सन्मार्गी है, सत्यनिष्ठ है, प्रामाणिक है, नैतिक है, चरित्रवान है.....तो उसकी मोक्ष-प्राप्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि वह उन्मार्ग पर चल रहा है, उसका जीवन दुर्व्यसनों का अड्डा है, आचार-विचार शुद्ध नहीं है तो चाहे वह किसी धर्मसंप्रदाय की मोहर क्यों न लगा ले, उसे मोक्ष नहीं मिल सकता।

मेरी दृष्टि में संप्रदायविशेष की मोहर लगानी ही चाहिए और नहीं ही लगानी चाहिए—ये दोनों ही बातें ऐकांतिक आग्रह प्रकट करती हैं। मोहर लगाने की बात मैं एकांततः अनुपादेय नहीं मानता। जहां मंजिल तक पहुंचने के मार्ग अनेक होते हैं और व्यक्ति अपरिपक्व स्थिति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, वहां भटकाव से बचने के लिए किसी एक पथ को निश्चित रूप से पकड़ना अवश्यक है, अन्यथा भटकाव की बहुत संभावना हैं। वह स्वयं कदाचित न भटके तो दंभी लोग उसे पथच्युत कर देते हैं, उसे उन्मार्ग में डाल देते हैं, भटका देते हैं, परंतु जो परिपक्व अवस्था में है, वह चाहे किसी अवस्था में क्यों न रहे, वह कभी भटकेगा नहीं, दूसरों के बहकावे में नहीं आएगा। ऐसी स्थिति में संप्रदायविशेष से जुड़े रहने की विशेष उपादेयता नहीं रह जाती। इसलिए ऐकांतिक आग्रह की बात उचित नहीं है।

एक भ्रांति का निवारण

आज मुझे अहिंसा के संबंध में कुछ कहना है। यों तो अहिंसा की परिचर्चा सदा से चलती आई है, लेकिन जब से राजनीतिक क्षेत्र में उसका प्रवेश हुआ है, तब से वह अधिक चर्चनीय बन गई है। प्राचीन धारणा के अनुसार कुछ समय पूर्व तक अहिंसा को धर्म-क्षेत्र तक सीमित रखा जाता था। इसके अतिरिक्त उसे कहीं अवकाश नहीं था। मैं मानता हूं, यह अहिंसा के विषय में एक बहुत बड़ी भ्रांति थी। गांधीजी ने यह भ्रांति मिटाकर राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसक प्रयोग किए। यह ठीक ही बात है कि बड़ी भ्रांति बड़े आदमी ही मिटा सकते हैं। थोड़ा-बहुत अंधकार तो दीपक मिटा सकते हैं, पर उसका सर्वनाश तो सूर्य के द्वारा ही संभव हो पाता है। गांधीजी के प्रयत्न से लोगों की समझ में आया कि अहिंसा एक व्यापक तत्त्व है और जीवन की सार्थकता के लिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अहिंसा का क्या उपयोग है

लेकिन जो लोग अहिंसा का सिद्धांत ठीक ढंग से समझ नहीं पाए हैं, उनके दिमाग में आज भी अहिंसा एक प्रश्नचिह्न बनी हुई है। अभी पिछले दिनों जब मैं डाबड़ी में था, तब दिल्ली से अनेक पत्रकार आए। उनमें से एक पत्रकार ने अलग समय लेकर पूछा—'हमारा भारत अहिंसाप्रधान देश है। हम अहिंसा की बात करते हैं और उसी को आधार मानकर काम करते हैं। लेकिन मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि इससे क्या काम हो रहा है; वर्तमान में जबकि हमारा देश संकटकालीन स्थिति से होकर गुजर रहा है, अहिंसा का क्या उपयोग है? पाकिस्तान और चीन के आक्रमण के दौरान राष्ट्र हथियार न उठाए, सैनिक कार्रवाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न करे, क्या यह ठीक है?'

उसे समाधान देते हुए मैंने कहा–'शायद आप मेरे विचारों से परिचित नहीं हैं, इसलिए ऐसी भ्रांत धारणा के शिकार बने हुए हैं। मेरी दृष्टि में अहिंसा जीवन की पवित्रता का साधन है। जहां व्यक्ति को अपने जीवन का विकास करना है, वृत्तियों पर नियंत्रण करना है, वहां उसे अहिंसा की शरण में आना होगा, पर जहां व्यक्ति का लक्ष्य आत्म-पवित्रता नहीं है, वहां अहिंसा शरण नहीं बन सकेगी। कोई राष्ट्र आपके राष्ट्र को हड़पना चाहता है, आप पर आक्रमण करता है, ऐसी स्थिति में अहिंसा सफल कैसे हो सकेगी? वहां तो आपको हथियार उठाना आवश्यक हो सकता है; हिंसा का सहारा लेना जरूरी हो सकता है। हालांकि हिंसा हिंसा ही है, उसे अहिंसा नहीं माना जा सकता, तथापि परिग्रह की सीमा से बंधे व्यक्ति के लिए यह हिंसा आवश्यक हो जाती है। यह संभव नहीं है कि आप परिग्रह से तो बंधे रहें और हिंसा से सर्वथा बचना चाहें। यदि आप अहिंसा से पूंजी का संरक्षण चाहते हैं, अपने वैभव, कुर्सी, ठाट-बाट और शान-शौकत का संरक्षण चाहते हैं तो यह आपकी भूल है। हिंसा का संरक्षण अहिंसा से कैसे हो सकता है? राष्ट्र पर कोई आक्रमण करता है और आपका उस पर अपनत्व है, इसलिए उसकी सुरक्षा का दायित्व भी आप पर ही है। ऐसी स्थिति में यदि अहिंसा की ओट लेकर कोई राष्ट्र की सुरक्षा के दायित्व से बचना चाहता है तो यह उसे बदनाम करने की बात है। जहां ममकार है, वहां अहिंसा नहीं हो सकती। ममत्व की मात्रा जितनी कम होती है, अहिंसा का विकास उतना ही अधिक होता है।'

अहिंसा और अभय

मैंने आगे कहा–'अहिंसक व्यक्ति की पहचान यह है कि वह न तो क्रूर हो सकता है और न कायर। जिस प्रकार निर्दयता बुरी है, उसी प्रकार बुजदिली भी अच्छी नहीं है। डराना हिंसा है तो डरना भी हिंसा है। अहिंसा के लिए अभय की साधना आवश्यक है। किसने कहा कि अहिंसा कायरों का धर्म है? अहिंसक में जो वीर वृत्ति होती है, वह एक हिंसक में नहीं हो सकती। हिंसा क्यों होती है–इस प्रश्न पर गंभीरता से चिंतन करें तो यह तथ्य बहुत स्पष्ट रूप से उजागर होता है कि हिंसा का कारण भय है। आप जा रहे हैं। मार्ग में भैंस मिलती है। आपको देखते ही वह आक्रामक मुद्रा में आ जाती है। इसका कारण यही तो है कि वह आपसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भयभीत हो जाती है; अपनी सुरक्षा के लिए वह हिंसक बन जाती है। यदि वह आपसे भयभीत न हो तो उसकी हिंसात्मक वृत्ति नहीं उभर सकती। वस्तुतः हिंसा और भय तथा अभय और अहिंसा में तादात्म्य संबंध है। लेकिन आम जनता में यह भ्रम रहता है कि भयभीत रहना अहिंसा है।'

सामाजिक परिवेश और अहिंसा

मैंने कहा–'समाज और राष्ट्र में रहकर व्यक्ति जो-कुछ करता है, वह सब-कुछ अहिंसा है–यह मानना भी बहुत बड़ी भ्रांति है। गृहस्थ जीवन में कौन-कौन-सी हिंसा नहीं होती? अहिंसा तो कहीं-कहीं होती है। जीवन के हर व्यवहार को अहिंसा से तौलना ठीक नहीं है। मनुजी ने तो गार्हस्थ्य-जीवन में पांच वध के स्थान बताए हैं–

पंचशूना गृहस्थस्य, चुल्लीपेषण्युपस्करी।
कंडनी उदकुंभश्च, बध्यंते यास्तु वाहयन्॥

– चुल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और जलकुंभ–ये पांच हिंसा के स्थान हैं।

कहने तात्पर्य यह कि घर, परिवार और समाज में रहनेवाले व्यक्ति का जीवन हिंसा के साथ जुड़ा हुआ है।'

विवेक अपेक्षित है

अपने प्रतिपादन का दूसरा पहलू छूते हुए मैंने कहा–'पर इस संदर्भ में एक बात अवश्य ध्यान देने की है। गार्हस्थ्य जीवन में व्यक्ति हिंसा से नहीं बच सकता, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह अहिंसा की साधना बिलकुल भी न करे। गृहस्थ की भूमिका में भी जीवन में अहिंसा की पुट आवश्यक है, अत्यंत आवश्यक है। जितनी हिंसा से बचना उसके लिए संभव हो, उतनी हिंसा से उसे सलक्ष्य बचना चाहिए। एक विवेकसंपन्न व्यक्ति अपनी घर-गृहस्थी चलाता हुआ भी एक सीमा तक अहिंसा को व्यवहार्य बना सकता है। जो हिंसा गफलतवश होती है या अविवेक के कारण होती है, उसे बड़ी सहजता से टाला जा सकता है। घर-घर में अनाज पीसा जाता है, पिसाया जाता है। अब यदि सावधानी नहीं रखी जाती है तो अनाज के साथ घुण भी पीसे जा सकते हैं। रसोई बनाते समय विवेक नहीं रखा जाता है तो अनेक जीव मर सकते हैं। जो गृहिणी इस दृष्टि से सजग होती है, गफलत नहीं करती, वह सहज रूप से इस हिंसा से बच जाती है। इसी क्रम में पानी बिना छाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं रखना, अनावश्यक पानी नहीं गिराना आदि का विवेक हो तो इनसे होनेवाली अनावश्यक हिंसा का बचाव हो जाता है। किसान लोग खेती करते हैं। हल के नीचे आकर सैकड़ों कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं। यदि उस समय किसान लोग विवेक से काम लें तो हिंसा से काफी बचाव हो सकता है। जैन-धर्म ने विवेक पर अत्यधिक बल दिया है। शास्त्रों में कहा गया है–**विवेगे धम्ममाहिए**–विवेक ही धर्म है। मैं मानता हूं, यदि यह विवेक की बात समझ में आ जाए तो जीवन में अहिंसा की पुट की बात समझ में आ जाएगी।'

मैंने कहा–'विवेक की अपेक्षा अहिंसा की साधना के लिए ही अपेक्षित नहीं है, बल्कि हर प्रवृत्ति में आवश्यक है। एक विवेकविकल व्यक्ति अपना हित-अहित नहीं सोच सकता। उसे यह भी पता नहीं रहता कि भोजन किसलिए करना चाहिए; स्वाद के लिए या पेट भरने के लिए। स्वादिष्ट भोजन मिलने पर वह मात्रा का ध्यान नही रख पाता। एक बार किसी भोज में एक व्यक्ति भोजन करने गया। भोज में लड्डू परोसे गए। उसने इतने लड्डू खाए कि पानी के लिए तो खैर स्थान रहा ही नहीं, उसे श्वास लेने में भी कठिनाई होने लगी। बेचैनी की हालत में वह वहीं लेट गया। लोगों ने वैद्य को बुलाया। वैद्य ने शरीर का निरीक्षण कर कहा–*कोई चिंता की बात नहीं है। ज्यादा खाने से बदहजमी हो गई है। दो गोलियां देता हूं। उनसे ठीक हो जाएगा।* उस व्यक्ति ने सुना और वह लेटा-लेटा ही बोला–*वैद्यजी! गोलियों के लिए स्थान होता तो दो लड्डू ही और न खा लेता!*'

अपनी बात का उपसंहार करते हुए मैंने कहा–'हिंसा और अहिंसा का सिद्धांत गंभीरता से समझना हमारे जीवन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। फिर युद्ध के परिप्रेक्ष्य में तो इसका महत्त्व और भी अधिक है। मैं मानता हूं कि घर, परिवार, समाज और राष्ट्र के दायित्वों से बंधा व्यक्ति अनेक प्रकार की ऐसी प्रवृत्तियां करता है, जिनमें स्पष्ट रूप में हिंसा है। इसी क्रम में हथियार उठाना, युद्ध करना आदि प्रवृत्तियां भी हिंसा हैं। उन्हें अहिंसा कभी नहीं माना जा सकता, पर इसके समानांतर यह भी बहुत स्पष्ट कि वे हत्या की कोटि में नहीं हैं। राष्ट्र की सुरक्षा के लिए हथियार उठाना और हत्या करना– इन दोनों बातों में बहुत अंतर है। राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध करनेवाला कभी हत्यारा नहीं कहलाता, पर युद्ध में भी प्रतिपक्षी राष्ट्र के बेगुनाह व निहत्थे नागरिकों को मारना हत्या है। अहिंसा की परिचर्चा में मुझे पंडित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेहरू के शब्द याद आ रहे हैं—*हमारे सैनिक चीन और पाकिस्तान से लड़ें, पर क्रूरता न हो। शत्रुओं के प्रति घृणा का भाव न हो, क्योंकि हमारा विरोध किसी व्यक्ति या जाति से नहीं है।* निष्कर्ष यह कि अहिंसा का क्षेत्र अपरिग्रह है, अनासक्ति है। इनकी सुरक्षा का दायित्व वह बहुत अच्छी तरह ले सकती है, परंतु जब राष्ट्र स्वयं परिग्रह है, उसके साथ आपका अपनत्व/आसक्ति/ममकार जुड़ा हुआ है, तब उसकी सुरक्षा अहिंसा से कैसे संभव है? वहां हिंसा से सर्वथा कैसे बचा जा सकता है?'

अहिंसा के संदर्भ में मेरे उपर्युक्त विचार सुनकर वह पत्रकार बोला—'अहिंसा की यह विवेचना मैंने आज ही सुनी। मुझे आज एक नया दर्शन मिला है। ये विचार जितना अधिक विस्तार पाएं, उतना ही व्यक्ति और राष्ट्र का हित है।'

मैंने कहा—'विचार-प्रसार का काम आप पत्रकार लोगों का है। फूल में खुशबू होती है, पर उसका फैलना हवा पर निर्भर है। हम अपने विचार आपके सामने रखते हैं। अब ये कहां पहुंचते हैं और कहां नहीं, यह हमारे चिंतन का बिंदु नहीं है। यह तो आपके चिंतन और कलम पर निर्भर करता है।'

हिंसा और अहिंसा : यथार्थ स्वरूप

हिंसा और अहिंसा की परिभाषा अपनी सुविधा के अनुकूल नहीं हो सकती। **न हि भैषजमातुरेच्छानुकारि**। यानी दवा रोगी की इच्छा के अनुसार नहीं दी जाती। वह वैद्य की इच्छा के अनुसार दी जाती है। अतः हिंसा-अहिंसा का मूल स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है।

हिंसा का अर्थ प्राणों का अपहरण करना ही नहीं है। गाली देना, पीटना, अंग-भंग करना आदि-आदि सारी प्रवृत्तियां भी हिंसा के अंतर्गत आती हैं। कोई व्यक्ति यहां रहता है। दूसरा व्यक्ति कलकत्ता (कोलकाता) में है। वह वहां बैठा-बैठा यहां रहनेवाले व्यक्ति के प्रति दुश्चिंतन करता है। इससे यहां रहनेवाले व्यक्ति का अनिष्ट होता है या नहीं, यह तो आगे का प्रश्न है, पर वह अनिष्ट चिंतन करनेवाला तो निश्चय ही हिंसक हो गया।

हिंसा का संबंध मूलतः व्यक्ति की अपनी वृत्तियों से है। वृत्तियों के पतन से हिंसा अवश्यंभावी है। जहां वृत्ति दूषित नहीं है, वहां हिंसा नहीं होती। मैंने अपनी शुद्ध नीति से कोई काम किया। उससे पचासों व्यक्तियों को हानि हुई। बावजूद इसके, मैं हिंसा का भागी नहीं बना। उदाहरणार्थ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्यान में तंबाकू का प्रसंग आ गया। मैंने धूम्रपान को बुरा बताकर उस पर कड़ा प्रहार किया। फलस्वरूप सैकड़ों श्रोताओं ने तंबाकू का त्याग कर दिया। पंडाल के बाहर तंबाकू की दुकान थी। तंबाकू को बुरा समझकर एक भी व्यक्ति दुकान पर नहीं गया। इससे दुकानदार को बहुत नुकसान पहुंचा, लेकिन इसके लिए मैं दोषी नहीं हूं। मैंने तो उन व्यक्तियों की वृत्ति बदलने के लिए सहृदयता से उपदेश दिया था, दुकानदार की रोजी-रोटी मारने के लिए नहीं। हां, यदि मेरी वृत्ति दूषित है, मैं दुकानदार को नुकसान पहुंचाने के उद्देश्य से लोगों को वहां जाने से रोकता हूं तो वह हिंसा है। वस्तुतः दुकानदार ने गलत धंधा किया, इसलिए वह नुकसान में रहा। अतः आप यह तत्त्व समझें कि हिंसा का अर्थ है—मन, वचन और काया का अनियंत्रण। मन, वाणी और काया पर विवेक का अकुंश न रहे, यह हिंसा है। अहिंसा है—मन, वचन और काया का संयम, अपनी हर प्रवृत्ति पर विवेक का अकुंश।

आत्महत्या भयंकर पाप है

हिंसा के संदर्भ में एक बात और समझने की है। जैसे दूसरे प्राणी को मारना हिंसा है, वैसे ही आत्महत्या भी हिंसा है, बल्कि पर-हत्या से भी बड़ा पाप है, भयंकर पाप है। यही कारण है कि हमारे धर्मग्रंथों में इस प्रवृत्ति पर गहरा प्रहार किया गया है।

विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर आत्महत्या की बात सोचता है और व्यापारी व्यापार में विफल होकर। बहनें आपस में लड़-झगड़कर आत्महत्या का पथ चुनती हैं, पर यह कोई समाधान नहीं है। कवि ने कहा है—

अब तो घबराकर कहते हैं मर जाएंगे।
मरकर भी चैन नहीं मिला तो कहां जाएंगे?

अपेक्षित यह है कि व्यक्ति प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति का दृढ़ता के साथ मुकाबला करे, उसे समता से सहन करे, आत्म-हत्या न करे।

अहिंसा का आदर्श

भगवान महावीर ने मारनेवाले को भी अपना मित्र समझने की बात कही है। उनकी दृष्टि में मारनेवाला हमें सहिष्णुता की साधना का मौका देता है। इसी तरह की बात क्राइस्ट ने कही है—'तुम्हारे एक गाल पर कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तमाचा लगाता है तो दूसरा भी उसके सामने कर दो।' श्रीकृष्ण ने *गीता* में कहा है—**आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः**। पर ये सब ऊंचे आदर्शों की बातें हैं। पहुंचे हुए साधक ही इन्हें निभा सकते हैं। आम आदमी इन्हें व्यवहार्य नहीं बना सकता।

अहिंसा का व्यावहारिक रूप

जन-साधारण के लिए अहिंसा का व्यावहारिक रूप है—वह निरपराध प्राणी का वध न करे। तोड़-फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग न ले। गुस्से में बेभान न बने। व्यापार-व्यवसाय में प्रामाणिकता रखे। खाद्य पदार्थों में बेमेल मिलावट न करे। तौल-माप में कमी-बेशी न करे। ऐसा झूठ न बोले, जिससे किसी का बड़ा अहित हो जाए। खान-पान की शुद्धि और अशुद्धि का विवेक रखे। यानी मांस-मद्य-जैसे अखाद्य और अपेय पदार्थों का सेवन न करे।

धर्म प्रायोगिक बने

मैं मानता हूं, ये छोटी-छोटी सीमाएं यदि व्यक्ति स्वीकार कर लेता है तो उसका जीवन काफी अच्छा बन सकता है। गहराई से देखा जाए तो यही धर्म का प्रायोगिक रूप है। यह सुनिश्चित है कि जब तक धर्म का प्रायोगिक रूप सामने नहीं आता, तब तक लोगों की आस्था उस पर गहरी टिकती नहीं।

आज विज्ञान धर्म से आगे है। इसका कारण यही तो है कि वह प्रायोगिक है। वह अपनी हर स्थापना प्रयोग के धरातल पर उपस्थित करता है। मेरा अभिमत है कि जिस दिन धर्म को भी प्रयोग का धरातल प्राप्त होगा, उस दिन विज्ञान भी धर्म के समक्ष प्रणत हो जाएगा, किंतु जब तक धर्म केवल ग्रंथों और धर्मस्थानों की शोभा का तत्त्व बना रहता है, रूढ़ियों से जकड़ा रहता है, तब तक ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसलिए आज सबसे बड़ी अपेक्षा है कि धर्म का प्रायोगिक रूप सामने आए। इसी में व्यक्ति और धर्म दोनों का हित निहित है।

धर्म के लिए हम हवा की बात न करें, क्योंकि हवाई महल का कोई अस्तित्व नहीं होता। अणुव्रत हवाई महल नहीं है। इसी लिए वह जन-जन के आकर्षण का केंद्र है। जन-साधारण इसे आधार मानकर चले तो धर्म का निखरा हुआ व्यावहारिक और प्रायोगिक रूप सामने आ सकता है।

भादरा, १५ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५ : साध्य और सिद्धि

लक्ष्य-निर्धारण जरूरी है

हमारे सामने चार तत्त्व हैं--साध्य, सिद्धि, साधन और साधक। सबसे पहले व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि उसका साध्य क्या है। एक व्यापारी यह सोचता है कि मुझे व्यापार में कहां तक पहुंचना है। एक मैट्रिक-पास विद्यार्थी अपने आगे के अध्ययन के बारे में सोचता है। एक यात्री भी अपना लक्ष्य स्थिर करके चलता है। यह बहुत स्पष्ट है कि लक्ष्य न हो तो साधन बेकार हो जाते हैं, सिद्धि की बात भी बेमानी रह जाती है।

बहुत-से लोग जीवन में लक्ष्यहीन चलते हैं। उन्हें यह भी पता नहीं है कि हमारा जन्म क्यों हुआ है, इस जीवन-यात्रा का अंत कहां है। लक्ष्य की स्पष्टता के बिना दूसरे तत्त्वों की जानकारी भी नहीं हो सकती।

शिक्षा का उद्देश्य

एक विद्यार्थी से पूछा जाए कि तुम क्यों पढ़ते हो तो शायद वह इस प्रश्न का उचित उत्तर नहीं दे सकता। डिग्री प्राप्त करने के लिए, आजीविका चलाने के लिए, अच्छा वेतन पाने के लिए, अच्छी लड़की से शादी करने के लिए, पोजीशन के लिए.....अध्ययन करना विद्या का महत्त्व न समझने का परिणाम है। अध्ययन का मूल उद्देश्य इनमें से कोई नहीं हो सकता। ये तो सब गौण बातें हैं। शिक्षा का सही उद्देश्य है--आत्मवान बनना, आत्मा से परमात्मा तक पहुंचना या स्वयं को पहचानना। लेकिन लक्ष्य कौन जाने! स्वयं अध्यापक भी जब यह बात नहीं जानते, तब विद्यार्थी कैसे जान सकेंगे?

कौन हूं : कहां से आया हूं : कहां जाऊंगा

लेकिन यह तो निश्चित है कि लक्ष्यहीन विद्या फल नहीं सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्लक्ष्य काम करना कोल्हू के बैल की तरह घूमना है। अपने लक्ष्य-निर्धारण के संदर्भ में अनेक व्यक्ति मेरे सामने प्रश्न भी करते हैं। एक भाई ने अपनी समस्या रखते हुए कहा–'आचार्यजी! मैंने *महाभारत* पढ़ा है, *गीता* पढ़ी है, फिर भी मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, कहां जाऊंगा, ये प्रश्न समाहित नहीं होते।'

मैं कौन हूं, इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर यही है कि मैं त्रैकालिक आत्मा हूं। पहले था और भविष्य में भी रहूंगा। वर्तमान में जो चीज है, वह अतीत में थी और भविष्य में भी उसका अस्तित्व रहेगा, क्योंकि अतीत और भविष्य के बिना वर्तमान का कोई मूल्य नहीं हो सकता। जो लोग आत्मा को नहीं मानते या जल-बुदबुद की तरह नश्वर मानते हैं, वे भ्रांति में हैं। कोई व्यक्ति आज कोई पाप करता है। यदि आगे वह नहीं है तो फल कौन भोगेगा? आज एक व्यक्ति तरुण है तो एक दिन वह बच्चा था और कभी वृद्ध भी होगा। इसी तरह आत्मा की त्रैकालिक सत्ता में भी संदेह नहीं होना चाहिए।

मैं कहां से आया हूं, मैं कहां जाऊंगा–इन दोनों प्रश्नों के समाधान के रूप में *चौरासी का चक्कर* आता है। कोई प्राणी चाहे वह देव हो या नारक, मनुष्य हो या तिर्यंच, वह मोक्ष से नहीं आएगा। इसी तरह जब तक उसकी मुक्ति नहीं होती, वह संसार में है, तब तक उसे इस चौरासी में ही चक्कर लगाना होगा। आत्मा को न मानें तो इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिल सकता।

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य

एक नास्तिक व्यक्ति अपना लक्ष्य स्थिर नहीं कर सकता। इसी लिए वह घूमता रहता है। अतः पहला काम है–लक्ष्य का स्थिरीकरण। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है–सब बंधनों से मुक्त होना। दूसरे शब्दों में शाश्वत सुखों की प्राप्ति।

कई व्यक्ति पूछते हैं कि मुक्ति में मित्र हैं या नहीं; खाना, सिनेमा आदि हैं या नहीं। यदि नहीं हैं, तो ऐसी मुक्ति हमें नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि में ऐसा सोचना उचित नहीं है। भूख, नींद आदि सब बीमारियां हैं। जहां बीमारी न हो, वहां दवा लेने की जरूरत ही नहीं है। आज भी यदि भारत सरकार कहे कि ऐसी चीज खाने को दी जाएगी, जिसे खाने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद चार माह तक भूख नहीं लगेगी तो उसे कौन मंजूर नहीं करेगा? फिर जहां शाश्वत सुखों की प्राप्ति हो, उस मुक्ति को भला कौन इनकार कर सकता है?

मोक्ष का साधन–कषाय-मुक्ति

मुक्ति हमारा साध्य है तो उसके लिए साधन की भी अपेक्षा है। साधन बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। रसोई बनानी है तो उसके लिए आटा, बेसवार, बरतन, चूल्हा, ईंधन और पानी की भी जरूरत होगी। मोक्ष का साधन है–कषाय-मुक्ति। कषाय यानी रागद्वेषात्मक उत्ताप। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि उसके प्रकट रूप हैं। क्रोध, मान, दंभ, लोभ, वासना आदि जब व्यक्त होते हैं, तब शरीर की नसें तन जाती हैं। कषाय मिटे बिना मुक्ति नहीं हो सकती। व्यक्ति घंटों तक मौन करे, घर छोड़कर जंगल में रहे, *आगम* पढ़े या बहुत लंबी तपस्या करके अपना शरीर सुखा दे, फिर भी यदि कषाय प्रबल है तो जो परिणाम आना चाहिए, वह नहीं आ सकता।

कषाय : संसार का मूल

अभी हम भीतर बैठे थे तो आपके भादरा के वैद्य मोदीजी एक साधु को देख रहे थे। हमने उनको बताया–'इतने माह तक दवा दी, पथ्य-परहेज भी रखा, फिर भी बीमारी नहीं गई।.....' उस साधु को देखकर मोदीजी ने कहा–'आपने सब-कुछ किया, पर रोग का मूल नहीं पकड़ा। उसे पकड़े बिना दवा क्या करेगी?' यही बात आप लोगों से मैं कहता हूं कि संसार का मूल कषाय है। जब तक भीतरी कषाय नहीं मिटता, तब तक आप मुक्ति के साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। एक सीमा तक कषाय मिटे बिना मोक्ष तो दूर, स्वर्ग भी मिलना कठिन है। अतः त्याग-तपस्या जितनी संभव हो उतनी करें, पर अपना मन, वृत्तियां और आदतें बदलना जरूरी है।

धर्म : लक्ष्य और फल

कुछ लोग अगले जन्म के भौतिक सुखों के लिए धर्म करते हैं, पर यह धर्म का सही लक्ष्य नहीं है। धर्म का फल तत्काल मिलता है। व्यक्ति आज धर्म करे और फल अगले जन्म में मिले, इसमें मेरा विश्वास नहीं है। यह कहा जाता है कि आम का वृक्ष बारह वर्षों से फलता है, पर धार्मिक क्रिया का फल तो तत्काल मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वतः भौतिक उपलब्धि धर्म का आनुषंगिक फल है। वास्तविक फल है–शांति, आत्म-शुद्धि या पवित्रता। धार्मिक क्रिया करने से तत्काल शांति मिलती है। गौण फल बाद में मिलते रहते हैं। यदि क्रिया-काल में शांति नहीं मिलती है तो मान लेना चाहिए कि सही रूप में धर्माचरण नहीं हुआ है। इसी प्रकार धर्म करने के क्षणों में आत्मा निर्मल बननी चाहिए, पवित्रता की अनुभूति होनी चाहिए, अन्यथा इसका अर्थ यही होगा कि धर्म के नाम पर कोई भ्रम पाला जा रहा है।

सिद्धि और साधक

तीसरी बात है–साध्य और साधन दोनों ठीक हैं तो सिद्धि स्वयं मिल जाएगी। चाबी ठीक लगेगी तो ताला स्वयं खुल जाएगा। अतः सिद्धि के लिए साध्य और साधन का सही निर्धारण जरूरी है।

इन सबके साथ सबसे बड़ी अपेक्षा है साधक की। मिट्टी, पानी आदि सब होने पर भी कुंभकार न हो तो घड़ा नहीं बन सकेगा। साधक कौन? जो मोक्ष का अधिकारी हो। अधिकारी वह होता है, जिसकी लक्ष्य के प्रति संपूर्ण आस्था हो। *गीता* में कहा गया है–**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**–श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने कहा–**सड्ढी आणाए मेहावी**–आज्ञा में श्रद्धा करनेवाला मेधावी होता है। मेधावी मोक्ष का अधिकारी है। यद्यपि तर्क निकम्मा तत्त्व नहीं है, पर वह जिज्ञासा को समाहित करने के लिए होना चाहिए, श्रद्धायुक्त होना चाहिए। मात्र जय-विजय के लिए तर्क करनेवाला परास्त हो जाता है।

मैं देखता हूं, वैज्ञानिकों से अधिक तार्किक कोई नहीं होता। वे बाल की खाल खींच लेते हैं, पर उन जैसा श्रद्धालु भी कोई नहीं होता। यदि उन्हें यह जच जाए कि बालू के कणों में से तेल निकल सकता है तो इस कार्य के पीछे वे जी-जान से जुट जाएंगे, मर खपेंगे, पर अपने लक्ष्य से नहीं हटेंगे। निश्चय ही श्रद्धा की दृढ़ता के बिना ऐसा कभी संभव नहीं है।

एक व्यक्ति ने एक कुआं खोदा, पर पानी नहीं निकला। दूसरा, तीसरा, चौथा कुआं और खोदा। इसके बावजूद पानी नहीं निकला। वह निराश होकर बैठ गया। दूसरा व्यक्ति आया और उसकी स्थिति जानकर बोला–'चार क्या, पचास कुएं खोद लोगे तो भी पानी नहीं निकलेगा। चार कुएं खोदे हैं, उतनी ही खुदाई यदि एक स्थान पर कर लेते तो निस्संदेह पानी निकल आता।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कबीर ने कहा है–

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
हूं बवरी ढूंढ़न गई, रही किनारे बैठ।।

यदि कुछ पाना है तो गहरे पानी में उतरना होगा, अंदर डुबकियां भरनी होंगी। ऊपर की डुबकियों से कुछ नहीं होगा, तट पर बैठने से कुछ नहीं मिलेगा। दृढ़ श्रद्धालु के साथ-साथ साधक विनीत हो, सच्चरित्र और परिश्रमी हो, तभी वह अपने साध्य के निकट पहुंच सकेगा। अतः साधक अपना लक्ष्य स्थिर करके अनुकूल साधन जुटाए, यह नितांत अपेक्षित है।

भादरा

१६ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ : धर्म और व्यवहार*

आज नोहर में व्यापारी-सम्मेलन का आयोजन है। व्यापारियों को उद्‌बोधित करने के लिए यह कार्यक्रम बना है। सम्मेलन हो या प्रवचन, मूल बात यह है कि लोगों में नैतिकता के प्रति अभिरुचि जाग्रत हो। इसी उद्देश्य से विभिन्न कार्यक्रम रखे जाते हैं।

धर्म सूर्य है

जिस जैन-धर्म में मैं दीक्षित हूं, वह आज प्रायः व्यापारियों तक सीमित रह गया है। हालांकि धर्म किसी वर्गविशेष तक सीमित रहे, यह बात अच्छी नहीं है, हितकर नहीं है, धर्म की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। मैंने कल ही प्रवचन में कहा था कि धर्म दीप और चिराग नहीं है, बल्ब भी नहीं है। वह है सूर्य। जैसे सूर्य बिना किसी भेद-भाव के सारे संसार को आलोक बांटता है, उसी प्रकार धर्म भी प्राणिमात्र को जीवन का आलोक बांटता है।

पर दुर्भाग्य से आज धर्म संप्रदायों की संकीर्ण सीमाओं में सिमटकर रह गया है। हालांकि मैं ऐसा मानता हूं कि हर-एक संप्रदाय का प्रारंभ किसी शुभ उद्देश्य से होता है, तथापि कालांतर में वह उद्देश्य प्रायः गौण हो जाता है, खो जाता है और सांप्रदायिकता शेष रह जाती है, संप्रदाय की चारदीवारी को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न प्रमुख हो जाता है। इसकी एक परिणति यह होती है कि एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय के व्यापक सिद्धांत स्वीकार करने में भी संकोच महसूस करने लगता है। बहुत-से लोगों की मानसिकता तो ऐसी बन जाती है कि वे अपने संप्रदाय की सीमा से बाहर आकर कुछ सुनना-समझना भी पसंद नहीं करते। कुछ सीमा से बाहर आते भी हैं तो उदासीन भाव से सुनते हैं, ग्रहणशील मानस से नहीं।

---

*व्यापारी-सम्मेलन में पदत्त प्रवचन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-धर्म गुणपरक है

यही बात जैन-धर्म के बारे में हुई। जैन-धर्म का उद्देश्य और उसके सिद्धांत उतने ही व्यापक हैं, जितने कि होने चाहिए। मैं जहां तक समझ पाया हूं, जैन-धर्म के दृष्टिकोण में संकीर्णता को कहीं कोई स्थान नहीं है। जैन-धर्म व्यक्तिपरक नहीं है। वह किसी व्यक्तिविशेष को महत्त्व नहीं देता। वह उसी को महत्त्व या मूल्य देता है, जो गुणी है। वस्तुतः गुणहीन व्यक्ति किसी के आकर्षण का केंद्र नहीं हो सकता। इसी लिए तो कहा गया है–

जिन मारग में देख लो गुण लारे पूजा।
निगुणां नै पूजै तका मारग है दूजा॥

गुणाः पूजास्थानम्–यह सूक्त भी इसी तथ्य का प्रतीक है। जाति और वर्ण की पूजा नहीं होती। पूजा गुणों की होती है। जैन-धर्म इसका मूर्त रूप है।

स्याद्वाद : सामंजस्य की विचारधारा

जैन-धर्म के मूल तत्त्व सत्य और अहिंसा हैं। सत्य और अहिंसा से अधिक व्यापक तत्त्व और कौन-सा हो सकता है? इनके बिना किसी व्यक्ति का जीवन विकसित होना तो बहुत दूर, चलता भी नहीं। जैन-धर्म की व्यापकता का एक बहुत ही पुष्ट और स्पष्ट प्रमाण है–स्याद्वाद। यह चिंतन के दृष्टिकोण को आकाश जितनी व्यापकता देता है। हम जानते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति का भिन्न-भिन्न चिंतन होता है। धारणा भी अलग-अलग होती है। ऐसी स्थिति में विचारों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करना अत्यंत आवश्यक है। परिवार और ग्राम की बात आप छोड़ें, घर में भी सामंजस्य न हो तो प्रतिदिन कलह का वातावरण बना रहता है। सामंजस्य की विचार-धारा ही स्याद्वाद है। आज इसकी विशद चर्चा अप्रासंगिक हो जाएगी, अन्यथा इसे समझना बहुत आवश्यक और उपयोगी है।

दृष्टि व्यापक हो रही है

आज का चिंतन है कि विभिन्न धर्मों के विचार और तत्त्व सबके सामने आने चाहिए। इस अपेक्षा से जनता की दृष्टि व्यापक हो रही है। आज व्यक्ति दूसरे धर्म को सुनना चाहता है। वह समय चला गया, जब आपस में तनाव और कटुता का वातावरण बना रहता था। विशेष रूप से आज का बौद्धिक वर्ग व्यापक दृष्टि से काम कर रहा है। अच्छे तत्त्व जहां भी मिलते हैं, संप्रदायभेद के बिना उनका अनुसंधान करके उन्हें जनता के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामने रख रहा है।

जैन-धर्म वर्गविशेष में क्यों सिमटा

जैन-धर्म का दृष्टिकोण बहुत व्यापक है, फिर भी वह एक वर्गविशेष में सिमटा हुआ है। ऐसा क्यों? भगवान महावीर के समय उनके अनुयायियों में कृषक, शिल्पी, कर्मकर, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण सभी थे। प्रमुख श्रावकों का विवेचन जहां भी आता है, वहां कुंभकार, किसान आदि भी गिने जाते हैं। इससे जैन-धर्म के व्यापक दृष्टिकोण का पता चलता है।

भगवान महावीर के निर्वाण की कई शताब्दियों पश्चात जैन-धर्म पर बड़ी आपत्ति आई। परिणामतः धर्म का प्रचलन कठिन हो गया। तब एक ओसवाल वर्ग बनाया गया। ओसवाल कोई जाति नहीं थी, बल्कि जैन-धर्म स्वीकार करनेवाले ओसवाल कहलाने लगे। फलतः अनेक वर्गों के लोग उस वर्ग में आए। इससे जैन-धर्म की तात्कालिक स्थितियों में कुछ सुविधा हुई होगी, पर यह बहुत स्पष्ट है कि वह दृष्टि जैन-धर्म का दायरे संकुचित करने में कारण अवश्य बनी। आज चाहने पर भी यह वर्ग-व्यवस्था मिटाने में कठिनाई हो रही है।

दायरा व्यापक हो

आज अनेक अग्रवाल व सरावगी जैन हैं, पर बहुत अरसे तक इस बात की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। जब से हमने इस संदर्भ में कुछ सोचा-समझा, तब से एक भावना बन रही है कि जब तक धर्म एक कटघरे में बंद रहेगा, तब तक वह न तो स्वयं विकसित हो सकेगा और न अपनी बहुमूल्य सेवा से जनता को भी लाभान्वित कर सकेगा। इस दृष्टि से मैंने अपने साधु-साध्वियों से कहा—'अपना दायरा व्यापक करो। ओसवाल, अग्रवाल, महाजन, हरिजन कोई कौम क्यों न हो, कोई वर्ग क्यों न हो, वह धर्म से वंचित न रहे। यदि कोई धार्मिक बनना चाहे, तो उसे पूरा सहयोग मिले।'

पर आप जानते हैं कि दृष्किोण बनना एक बात है और सफलता प्राप्त होना दूसरी बात। सफलता के लिए वर्षों तक खपना पड़ता है। कई बार तो शताब्दियां बीत जाती हैं, तथापि फल सामने नहीं आता। हमने एक दृष्टिकोण बनाया और उसका कुछ-कुछ नतीजा सामने भी आने लगा है। पहले जो संकोच था, वह अब मिट रहा है। निकट संपर्क से भ्रांतियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी मिट रही हैं। यह भी इस दिशा में एक बहुत बड़ी सफलता है, शुभ भविष्य की सूचना है।

अभी भादरा में लगातार चार दिन तक सार्वजनिक व्याख्यान हुए। सुनकर वहां के एक एडवोकेट आए और बोले–'मैं दूर से आपके बारे में सुनता बहुत था, पर सोचता यही था कि वृत्तियां संकीर्ण हैं। लेकिन दो समय व्याख्यान सुनने से मेरी सारी भ्रांतियां खत्म हो गई हैं।'

स्वयं बदलो : जग बदलेगा

वैसे एक-दो दिन में न तो भ्रांतियां पैदा ही हो सकती हैं और न मिट ही सकती हैं। भावुकता में जो बात बनती है, उसके परिणाम में ठोसता नहीं होती। ठोस परिणाम ठोस कार्य का ही आ सकता है। मुझे प्रसन्नता है कि आज ठोस परिवर्तन आ रहा है। पर यह परिवर्तन मात्र जनता के विचारों में आया है, ऐसी बात नहीं है। हमारे विचारों व बोलने की शैली में भी परिवर्तन आया है। यह सुनिश्चित सिद्धांत है कि जो स्वयं नहीं बदलता, वह दुनिया को भी नहीं बदल सकता। कवि ने कितना सुंदर कहा है–

तुम आओ डग एक तो हम आएं डग अट्ठ।
तुम हमसे करड़े रहो तो हम भी करड़े लट्ठ।।

मैं अनुभव करता हूं कि जब तक हमारी ओर से उदारता नहीं आई, तब तक जनता भी अनुदार बनी रही, पर जैसे ही हमारा दृष्टिकोण बदला, विचारधारा उदार बनी, जनता हमसे घुलमिल गई। उसने अपना दिल दे दिया।

श्रद्धा बढ़ रही है

ऐसा कहा जाता है कि आजकल धर्म के प्रति श्रद्धा की कमी है, पर मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। मुझे तो लगता है कि लोगों की श्रद्धा बढ़ रही है। यह सच है कि रूढ़ क्रिया के प्रति भावना कम हो रही है। एक चिंतक व्यक्ति रूढ़ कैसे हो सकता है? पीपल पूजने की बात वह कैसे मान लेगा? इस वैज्ञानिक युग में प्रयोग के बिना विश्वास टिक नहीं सकता। इसी लिए तो रूढ़, जर्जरित और सड़ी-गली परंपराओं के प्रति लोगों का आकर्षण घटता जा रहा है, लेकिन जहां भी वास्तविकता है, वैज्ञानिकता है, वहां लोगों की आस्था गहरी हो रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रिक गिरावट क्यों

आज लोगों का चरित्र गिरता हुआ दिखाई दे रहा है, पर यह भी निष्कारण नहीं है। स्थितियां इतनी जटिल हो रही हैं कि जीना दूभर हो गया है। कानून का भार और दूषित वातावरण का दबाव इस सीमा तक बढ़ रहा है कि चाहकर भी व्यक्ति के लिए नैतिक बने रहना बहुत कठिन हो रहा है। आपको यह सुनकर संभवतः आश्चर्य होगा कि सांसद और विधायक भी कानून का संपूर्ण रूप से पालन नहीं करते, जबकि वे स्वयं कानून के निर्माता हैं। एक बार पं. नेहरू के पास श्रीप्रकाश जैन गए और बोले–'हम भ्रष्टाचार की जड़ें उखाड़ने की बात करते हैं, पर रिश्वत बिना तो हमारा काम भी नहीं चलता। ऐसी स्थिति में औरों से क्या आशा कर सकते हैं?'

अंधकार में प्रकाश-किरण

यह कोई एक-दो व्यक्तियों की बात नहीं, अपितु व्यापक समस्या है। बहुत-से व्यक्ति सदाचार के पथ पर चलना चाहते हैं, पर अनेक विवशताओं के कारण चल नहीं पाते। इस स्थिति के बाद भी जनता धर्म की बात सुनना चाहती है, दुराचार, दंभ एवं धोखे से स्वयं का पिंड छुड़ाना चाहती है और सही रास्ता बतानेवालों का संपूर्ण समर्पण के साथ अनुसरण करने के लिए भी तैयार रहती है, यह अंधकार में भी प्रकाश की एक किरण है।

हम दिल्ली से चले और नोहर तक आए हैं। रास्ते में जहां भी ठहरे, वहां जनता का उत्साह देखते ही बनता था। फिर एक बात और है– आनेवाले लोग मात्र दर्शक नहीं थे, जिज्ञासा एवं श्रद्धाभाव से अनेक लोगों ने हमसे संपर्क भी किया। उनकी चाह थी कि हमें कोई मार्ग मिले। हम तत्परता से उस पर चलने के लिए तैयार हैं। इससे हमें लगा कि जनता में नैतिकता के प्रति आज भी आकर्षण है।

आज की हमारी सभा में व्यापारी ज्यादा हैं। व्यापारी भले बड़े हों या छोटे, काफी समझदार होते हैं। वे हर काम में सामंजस्य बिठाना जानते हैं। इसी लिए मैं कहता हूं कि स्याद्वाद एक प्रकार का वाणिज्य है तथा आग्रह कृषि है। कृषक हल खींचता रहता है, जबकि दुकानदार ग्राहक से बात करके उसे अनुकूल बना लेता है। कुछ लोग तो इसके लिए तंबाकू, भंग और यहां तक कि शराब भी काम में लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शराब पीता नहीं हूं, किंतु·····

परसों की ही घटना है। मैं गोगामेड़ी में था। वहां के लोग मेरे पास आए। प्रभुदानजी बारठ वहां के प्रमुख और प्रभावशाली व्यक्ति हैं। वे बोले–'आचार्यजी! कृपा करके ग्रामवासी लोगों का शराब से पिंड छुड़ा दीजिए।' मैंने शराब छोड़ने का आह्वान किया तो कइयों ने इनकार कर दिया। आखिर प्रभुदानजी ने सलक्ष्य एक जागीरदार की ओर संकेत किया। मैंने उनसे पूछा तो वे बोले–'महाराज! मैं शराब पीता तो नहीं, किंतु पिलाता अवश्य हूं; और पिलाने के लिए कभी-कभी थोड़ी-बहुत पीनी भी पड़ती है। थोड़ी पिलाता हूं और काम ज्यादा लेता हूं। यहां के अफसरों व अधिकारियों से काम निकलाना होता है। चूंकि सीधे तरीके से काम होता नहीं, इसलिए ऐसा करना पड़ता है। आठ रुपए मन के गुड़ से मैं यह साधारण चीज तैयार करता हूं। पर वे लोग बोतल देखकर खुश हो जाते हैं। फलतः मेरा काम बहुत आसानी से बन जाता है।' मुझे लगा, आदमी समझदार हैं। सोचकर काम करते हैं। ये सर्वथा शराब तो संभवतः नहीं छोड़ सकें, पर नशे के रूप में पीने का त्याग कर सकते हैं। मैंने प्रेरणा दी। प्रेरित होकर उन्होंने नशे के रूप में शराब का उपयोग न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली।

होशियार भी, बदनाम भी

हां, तो मैं कहा रहा था कि व्यापारी लोग सामंजस्य करना जानते हैं, इसलिए वे होशियार कहलाते हैं, पर जितने होशियार कहलाते हैं, उतने ही बदनाम भी हैं। प्रश्न होता है कि जब आज कोई भी वर्ग ऐसा नहीं है, जिसमें बुराई न हो, फिर व्यापारी ही बदनाम क्यों होते हैं। इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। उन्होंने अपनी होशियारी का सदुपयोग की अपेक्षा दुरुपयोग अधिक किया है। दूसरा कारण है–उनकी बढ़ती हुई लालसा। कैसी बात है कि वे जानते-बूझते हुए भी अनजान बन रहे हैं! क्या वे जानते नहीं हैं कि यह धन-वैभव नश्वर है? क्या वे इस सचाई से अनभिज्ञ हैं कि यह न तो उनके साथ जानेवाला है और न जीवन-भर टिकनेवाला ही है? फिर उसे बटोरने के लिए बेतहाशा दौड़ क्यों?

लक्ष्य क्या है

मैं बहुधा व्यापारियों से पूछा करता हूं कि आपका लक्ष्य क्या है; लाखों-करोड़ों रुपए क्यों कमाते हैं; इसके पीछे कोई सामाजिक या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजनीतिक दृष्टिकोण है या कोई दूसरा चिंतन है; खाने के लिए रोटी और लेटने के लिए साढ़े तीन हाथ जमीन से अधिक का क्या उपयोग है।

याचक राजा के पास गया। राजा दानी था। उसने कहा–'जो इच्छा हो, वह मांग लो।' याचक ने जमीन मांगी तो राजा ने कहा–'सूर्योदय से चलो और सूर्योस्त तक वापस उसी स्थान पर आ जाओ। बीच में जितनी जमीन का अनुमापन कर सकोगे, वह तुम्हारी हो जाएगी।'

याचक ने खाना-पीना छोड़कर दौड़ शुरू की। चलते-चलते थक गया, पर लोभ का संवरण नहीं कर सका। दौड़ता ही गया, दौड़ता ही गया..... लंबा मार्ग तय करने के बाद लौटने लगा तो श्वास बुरी तरह फूलने लगा। वह चल नहीं सका। बची-खुची शक्ति बटोरकर जैसे-तैसे फिर भी चला, पर थोड़ी दूर चलने के बाद ही गिर पड़ा। गिरते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

उधर राजा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसने राजपुरुषों से कहा–'वह व्यक्ति अभी तक आया नहीं। तलाश की जाए।' राजपुरुषों ने खोज की तो उसकी लाश पड़ी मिली। राजा वहां पहुंचा और बोला–'मनुष्य की लालसा कितनी ही तीव्र क्यों न हो, आखिर तो वह साढ़े तीन हाथ जमीन पर ही लेटेगा!'

व्यापारी बंधुओ! मैं भी आप लोगों से पूछना चाहता हूं कि कहीं अति लालसा का भूत ही तो आपके सिर पर सवार नहीं हो गया है। मेरे अभिमत में अर्थपति बनने का लक्ष्य गलत है। धन का अनावश्यक संग्रह अनेक विकृतियां एवं कठिनाइयां पैदा करता है, पर आंतरिक लगाव टूटना सहज भी तो नहीं है। जब तक वह लगाव मौजूद रहता है, तब तक गलत काम करके धन संचय करने की प्रवृत्ति चलती रहती है; सीधे-सादे लोगों को ठगने का प्रयास होता रहता है; तौल-माप में गड़बड़ होती रहती है। आंखों के सामने ग्राहक को बराबर तौलकर दिया जाता है, पर घर जाकर जब वह तौलता है तो वजन कम मिलता है। इसी लिए आम जनता में धारणा बन रही है कि व्यापारी बेईमान हैं।

समय की नब्ज पहचानें

हालांकि इस बात का एक दूसरा पहलू भी है। व्यापारियों के बुरे या बेईमान बनने का सारा दोष उन्हें ही नहीं दिया जा सकता। स्वयं सरकार भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं है। उसकी व्यापारी-वर्ग पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कड़ी दृष्टि है। आए साल कर-भार बढ़ता ही जा रहा है। अनेक प्रकार की कानूनी अड़चनें उपस्थित हो रही हैं। ऐसी स्थिति में बहुत-से व्यापारियों को अपनी रोजी-रोटी चलाने के लिए मजबूरन अनैतिक बनना पड़ता है, पर इस परिप्रेक्ष्य में मैं उपस्थित सभी व्यापारियों से एक बात कहना चाहता हूं कि कठिनाइयों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद आपको नैतिकता और प्रामाणिकता का यथासंभव खयाल रखना चाहिए। रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और चिकित्सा–इन पांच अनिवार्य अपेक्षाओं की पूर्ति की व्यवस्था के बाद अधिक संचय नहीं करना चाहिए। अधिक संग्रह आध्यात्मिक दृष्टि से तो बुरा है ही, आज के युग में सामाजिक दृष्टि से भी अनुचित माना जाने लगा है। ऐसी स्थिति में आपमें से जो व्यापारी समय की नब्ज पहचानते हुए अपने चिंतन और व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन कर लेंगे, वे बहुत-सी कठिनाइयों से सहज ही बच जाएंगे। इसके विपरीत जो समय की नब्ज नहीं पहचानेंगे, वे कठिनाइयों के चक्रव्यूह में फंस जाएंगे। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि परिस्थितियां आपको बदलने के लिए बाध्य करें, उससे पूर्व ही आप संभलें। समझदारी और विवेक का तकाजा यही है।

बदलने से आप मेरा तात्पर्य समझते ही होंगे। आप अर्जित और संचित धन पर अपना वैयक्तिक अधिकार और ममत्व कम करें। यदि आप का धन समाज के उपयोग में आता है तो वह किसी को अखरेगा नहीं । अतः आपमें से प्रत्येक व्यापारी अपना लक्ष्य स्थिर करे। लक्ष्य स्थिर है तो व्यापार में प्रामाणिकता बरते। मृगतृष्णा में न दौड़े। सचाई से जो नफा होता है, वह बेईमानी से नहीं हो सकता। बेईमानी से व्यक्ति एक-दो बार सफल हो सकता है, पर उसकी जड़ें कमजोर होती हैं। सचाई में पहले कष्ट हो सकता है, पर अंत में उसका परिणाम अच्छा आता है।

प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता को सज्जन और दुर्जन की प्रीति से तौला जाता है। दुर्जन की प्रीति शुरू में गहरी होती है, पर धीरे-धीरे समूल नष्ट हो जाती है। सज्जन की प्रीति प्रारंभ में सामान्य-सी होती है, पर बढ़ते-बढ़ते इतनी गहरी हो जाती है कि अभिन्नता की भूमिका में पहुंच जाती है। भर्तृहरि ने इस तथ्य को छाया के साथ तौलते हुए कहा है–

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना, छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप देखें, सुबह की छाया लंबी होती है, किंतु दोपहर में सूर्य जब मस्तक पर आ जाता है, छाया स्वयं में सिमट जाती है। मध्याह्न में जो छाया अपने में सिमटी हुई होती है, वह संध्या तक बहुत विशाल हो जाती है। इसी प्रकार प्रामाणिकता और सत्यनिष्ठा से जो व्यापार किया जाता है, उसमें प्रारंभ में मुसीबतें आ सकती हैं, पर अंत में सफलता का द्वार खुल जाता है।

आप देखें, जो साधक साधना करते हैं, एकांत में ध्यान करते हैं, श्मशान और सूने घर में कायोत्सर्ग करते हैं, उनके जब सिद्धि निकट होती है, तब उन्हें बहुत-सी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। हमारे एक मुनि ने विशेष साधना प्रारंभ की। अपना अनुभव बताते हुए उसने कहा–'शुरू-शुरू में मन व्यग्र हो गया। भावना में अनेक प्रकार के उभार आने लगे। बुरी बातों की स्मृतियां ताजा होने लगीं। एक बार तो मेरा मन साधना से हटने लगा, लेकिन मैंने यह सुन रखा था कि साधना के क्षेत्र में भयंकर तूफान आते हैं, उस स्थिति में जो दृढ़ रहता है, वही आगे बढ़ता है। इसलिए मैं अपनी बात पर दृढ़ रहा और अब मैं समस्थिति में हूं।'

अच्छे व्यापारी की पहचान

व्यापारियो ! यदि प्रारंभिक मुसीबतों में आप स्थिर रह सकें तो आगे का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो सकता है। आपका विरोध है तो सरकार और कानून से है, ग्राहकों ने आपके साथ क्या अन्याय किया है? आप उनकी कसर ग्राहकों से निकालते हैं, यह कहां का न्याय है? जिस व्यापारी का ग्राहकों के साथ व्यवहार अच्छा नहीं है, उसका व्यापार धीरे-धीरे ठप्प-सा हो जाता है। इसके विपरीत जो व्यापारी ग्राहकों का विश्वास बनाए रखता है, उसके सामने ऐसी स्थिति पैदा नहीं होती, बल्कि उसका व्यापार और अच्छा चलता है। मूलभूत बात है व्यापार में नैतिकता और प्रामाणिकता की। आध्यात्मिक और व्यावसायिक दोनों दृष्टियों से यह आवश्यक है। अच्छे व्यापारी की पहली पहचान यह है कि वह ग्राहक के साथ कभी धोखाधड़ी नहीं करता, उसकी मजबूरी का कभी गलत लाभ नहीं उठाता, क्रूर नहीं बनता। जो व्यापारी ग्राहक को ठगता है, उसकी विवशता का लाभ उठाता है, वह अच्छा व्यापारी तो खैर हो ही नहीं सकता, मनुष्य कहलाने का अधिकारी भी कहां तक है, यह एक प्रश्न है। मैं पूछना चाहता हूं कि जिस व्यापारी की मानवीय संवेदना समाप्त हो गई, वह कैसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य; जिसकी मानवीय संवेदना मौजूद है, वह ग्राहक के साथ कभी धोखाधड़ी कैसे करेगा; उससे अनुचित लाभ कैसे कमाएगा।

हालांकि मैं मानता हूं कि सब व्यापारी बुरे नहीं होते, पर कुछ-एक गलत व्यापारी भी पूरे व्यापारी-वर्ग को बदनाम कर देते हैं। कुछ व्यापारी तो इस तरह के भी मिल सकते हैं, जो मंदिर में जाकर प्रार्थना करते हों—'प्रभो! आज तो ऐसी कृपा करें, जिससे ग्राहक से मनचाहा लाभ कमाऊं। ऐसा मूर्ख ग्राहक भेजें, जो पांच के पचीस दे।.....'

आप कहेंगे कि ऐसा भी कोई व्यापारी होता है क्या। व्यापारी बंधुओ! यह संसार है। यहां किसी बात की नास्ति नहीं है। हम किसी संभावना से सर्वथा इनकार नहीं कर सकते, पर इतना स्पष्ट है कि ऐसे व्यापारी पूरे व्यापारी-वर्ग के लिए कलंक हैं, व्यापार के लिए अभिशाप हैं।

मैं पूरे व्यापारी-वर्ग से इस बात की प्रेरणा करना चाहता हूं कि वह अपना आत्मालोचन करे। जिस-किसी व्यापारी के व्यापार में कोई गलत प्रवृत्ति चल रही है, वह उसे अविलंब बंद करे। मैं पूछना चाहता हूं कि जो व्यवहार वह अपने लिए नहीं चाहता, वह व्यवहार दूसरों के लिए हितकर कैसे होगा। *गीता* में कहा गया है—**आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।** मैं मानता हूं, हजारों ग्रंथों का सार यही है। यदि व्यापारियों की धारणा इससे विपरीत जमी है और वे यह मानते हैं कि गलत काम किए बिना हमारा धंधा ही नहीं चल सकता तो यह चिंतन का घोर दारिद्र्य है, मानवता का पतन है।

व्यक्ति से गलती हो सकती है और उसका सुधार भी हो सकता है, पर गलती को गलती न मानना आस्था की त्रुटि है। मैं ऐसे अनेक व्यक्तियों को जानता हूं, जिनकी प्रामाणिकता में पूर्ण निष्ठा है और वे अपने कार्य-क्षेत्र में सफल भी हो रहे हैं। हालांकि आदर्श ईमानदार बनना बहुत कठिन बात है, कोई-कोई व्यापारी ही इस भूमिका में रह सकता है, तथापि विचारों में हीनता न हो, आस्था असम्यक न हो, यह तो सबके लिए आवश्यक है। यानी विचार सदा ऊंचे रहें और उन्हें आचार में जितना ढाला जा सके, उतना ढालने का प्रयत्न किया जाए।

अणुव्रत : आदर्श तक पहुंचने का माध्यम

अणुव्रत क्या है? उस आदर्श तक पहुंचने का माध्यम ही तो है। अणुव्रत कहता है कि व्यक्ति अपने आचार और व्यवहार से धार्मिक बने।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंदिर, मस्जिद या अन्य किसी धर्मस्थान से उसका कोई विरोध नहीं, पर वह व्यक्ति को धर्मस्थान में जाकर धार्मिक बनने से पहले आचार और व्यवहार से धार्मिक देखना चाहता है। वस्तुतः कौन व्यक्ति धर्मस्थान में जाकर कितनी पूजा-उपासना करता है, यह धार्मिकता की सही कसौटी नहीं है। सही कसौटी यह है कि वह लोगों के साथ कैसे पेश आता है। यदि उसके व्यवहार से लोगों को यह महसूस हो कि यह धार्मिक है तो वास्तव में वह धार्मिक है। इसके विपरीत उसके संपर्क में आनेवाले यदि उसके धार्मिक होने की साक्षी नहीं भरते हैं तो धर्मस्थान में पूजा-उपासना करने के बावजूद वह धार्मिक नहीं है। वैसे निश्चय में धर्म की कसौटी स्वयं की आत्मा है, पर व्यवहार में तो वे लोग ही हैं, जो व्यक्ति के संपर्क में रहते हैं। इस दृष्टि से अणुव्रत जीवन-व्यवहार की शुद्धि पर सर्वाधिक बल देता है। मैंने एक पद्य कहा है–

ग्रंथ-ग्रंथ में पढ़ी धर्म की सुंदरतम परिभाषा।
हर धर्मस्थल में भी जिसका मिला रूप निखरा-सा।
धर्मशून्य धार्मिक का जीवन कैसा व्यंग्य करारा!
जागृत धर्म हमारा॥
जीवित धर्म हमारा॥

हम *कुरान, वेद, पिटक*·····किसी धर्म-ग्रंथ को क्यों न पढ़ें, उसमें धर्म की सुंदर-से-सुंदर परिभाषा मिलती है, लेकिन धार्मिकों का जीवन उसके अनुकूल नहीं है, यह विधि का करारा व्यंग्य है। धर्म को आत्मगत करने के लिए व्यापारी अणुव्रत को समझें। यह आत्म-धर्म है, मानव-धर्म है। मैं चाहता हूं, हर व्यापारी प्रतिज्ञा करे कि मैं प्रामाणिक रहूंगा–

- मैं तौल-माप में कमी-बेशी नहीं करूंगा।
- मैं सौदे के बीच में कुछ नहीं खाऊंगा।
- मैं बेईमानी से मिलावट करके नहीं बेचूंगा।
- मैं एक चीज दिखाकर दूसरी चीज नहीं दूंगा।
- मैं नकली को असली बताकर नहीं बेचूंगा।
- मैं कालाबाजारी नहीं करूंगा।

मैंने आपसे कुछ बातें कही हैं। आप इन पर गंभीरता से चिंतन-मनन करें। गंभीरता से चिंतन-मनन करने का अर्थ है कि आप धर्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्ठा रखें और अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार करें। ईमानदारी इसका फलित है। आपको आकाश में नहीं, धरती पर चलना है। अतः समझना चाहिए कि ईमानदारी और बेईमानी का संबंध मात्र कानून से नहीं है; कानून का लंघन ही बेईमानी नहीं है। छिप-छिपकर गलत काम करना सबसे बड़ी बेईमानी है। ईमानदारी का संबंध व्यक्ति की सद्वृत्तियों से है। केवल शब्द पकड़कर चलनेवाला सही अर्थ में ईमानदार नहीं हो सकता। अतः अपनी आंतरिक वृत्तियां देखकर चलें, आत्म-निरीक्षण करें तथा दूसरे वर्गों के साथ सामंजस्य स्थापित करके प्रामाणिकता का परिचय दें। इससे आध्यात्मिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से आप सुखी हो सकेंगे।

नोहर

२० फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७ : नियति और पुरुषार्थ

इस संसार में लोग अनेक प्रकार की साधना करते हैं, पर सबका लक्ष्य एक नहीं होता। कोई व्यक्ति भौतिक उपलब्धि के लिए साधना करता है। कोई विशेष कला में दक्ष होने के लिए साधना करता है। कोई आत्म-शुद्धि के लिए साधना का पथ स्वीकार करता है।.....

धर्म की चरम परिणति

जैन-धर्म आत्मलक्षी धर्म है। वह परम शांति को पाने का मार्ग प्रशस्त करता है, बंधन-मुक्ति यानी मोक्ष का उपाय बताता है। वस्तुतः धर्म की अंतिम परिणति मोक्ष ही है। बीच की सुविधाएं तो उसके प्रासंगिक फल हैं। कोई व्यक्ति यहां से कलकत्ता (कोलकाता) जाता है। वहां पहुंचने से पहले मार्ग में अनेक स्टेशन आते हैं, पर उनमें से कोई उसका लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार किसी प्रकार की भौतिक सुविधा की प्राप्ति एक आत्मवादी का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है अपना आत्मस्वरूप प्राप्त करना, निर्वाण को प्राप्त होना।

भेद में अभेद

वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद ने धर्म की परिभाषा देते हुए कहा– **यतोऽभ्युदयनिश्रेयस्सिद्धिः सः धर्मः**। यानी जो निर्वाण और भौतिक उन्नति दोनों का निमित्त बनता है, वह धर्म है। जैनाचार्यों ने इस संदर्भ में कहा–**आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः**। अर्थात जो आत्मशुद्धि का साधन है, वह धर्म है। दोनों परिभाषाओं में जो अंतर है, वह स्पष्ट है, पर दोनों में सामंजस्य भी खोजा जा सकता है। धर्म आत्मशुद्धि का साधन है ही, भौतिक अभ्युदय का भी निमित्त बनता है। हां, इसके साथ धर्म का सीधा संबंध नहीं है। धार्मिक क्रियाओं से आत्मशुद्धि के साथ पुण्य का बंधन होता है। उससे भौतिक अनुकूलता की प्राप्ति होती है। मैं मानता हूं, यदि कोई धार्मिक व्यक्ति इस समन्वयात्मक दृष्टि को आधार मानकर चले तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कट्टर नास्तिक और भौतिकवादी से भी समझौता कर सकता है। इसके विपरीत यदि यह दृष्टिकोण छोड़कर चले तो उसे व्यवहार में पग-पग पर उलझनें झेलनी पड़ेंगी।

नियति और पुरुषार्थ

नियति और पुरुषार्थ दो तत्त्व हैं। एक मान्यता के अनुसार व्यक्ति हजार प्रयत्न करे, फिर भी जो होना है, वही होगा। भावी को टालने की शक्ति किसी में नहीं है। इसके विपरीत दूसरी मान्यता पुरुषार्थ पर बल देती है।

स्याद्वाद : सामंजस्य का सूत्र

जैन-दर्शन एक परम पुरुषार्थवादी दर्शन है। वह चाहता है कि मनुष्य कभी अकर्मण्य न बने। वह सदा ही कुछ-न-कुछ करता रहे। जिज्ञासा की जा सकती है कि क्या जैन-दर्शन नियति को नहीं मानता। नहीं क्यों मानता, जैन-दर्शन में पुरुषार्थ के साथ नियति को भी स्थान प्राप्त है। यद्यपि दोनों को मानने का अर्थ है—दो घोड़ों की सवारी करना, पर सामंजस्य का सूत्र जिसके हाथ में है, वह दो तो क्या, हजार घोड़ों की सवारी भी कर सकता है। वह आकाश-पाताल, दिन-रात, प्रकाश-अंधकार, सुख-दुःख···· में सामंजस्य बिठा सकता है। स्याद्वाद एक ऐसा धागा है, जो बिखरे हजारों मोतियों की एक माला बना देता है। यह एक ऐसा शस्त्र है, जिससे सज्जित होनेवाला किसी से पराजित नहीं होता। संत कबीर ने कहा है—

अड़ते से टलता रहे, जलते से जल होय।
'कबीरा' ऐसे पुरुष को गंज सके न कोय॥

मुझे सखेद कहना पड़ता है कि समन्वय का यह सिद्धांत बहुतों ने नहीं समझा है। आईंस्टीन का सिद्धांत *थ्योरी ऑफ रिलेटीविटी* आज के विद्यार्थी समझते हैं, इसलिए वे उसे जानते भी हैं, पर भगवान महावीर को नहीं जानते, जिन्होंने कि स्याद्वाद का व्यापक सिद्धांत दिया है, मानवजाति का बड़ा उपकार किया है। कुछ लोग यह सिद्धांत जानते तो हैं, पर इसे ठीक ढंग से समझते नहीं। वे इसे संशयवाद के रूप में स्वीकार करते हैं। यह एक बड़ी भ्रांति है। स्याद्वाद में संशय को कहीं कोई स्थान नहीं है। यह तो सत्य को समग्रता से जानने का परम वैज्ञानिक सिद्धांत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रांति की बात चल ही पड़ी तो प्रसंगवश एक भ्रांत धारणा का स्पष्टीकरण और कर दूं। कुछ लोगों की यह भ्रांत धारणा रही है कि जैन-धर्म शरीर को कष्ट देना बहुत अच्छा मानता है। इसका आधार है–**देहे दुक्खं महाफलं**। मुझे लगता है कि इस सिद्धांत को समझने में भयंकर भूल हुई है। शरीर को कष्ट देना ही धर्म है, यह जैन-धर्म का अभिमत कदापि नहीं है। शरीर के साथ किसी का क्या विरोध हो सकता है? वस्तुतः कष्ट भोगने की दृष्टि से क्रिया करना कष्ट-क्रिया है। हमारी हर क्रिया कर्म-निर्जरा और आत्म-पवित्रता के लिए हो, यह अपेक्षा है।

देहे दुक्खं महाफलं का तात्पर्य यह है कि देह में कष्ट उत्पन्न होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करना, महान फल देनेवाला है। हमारे यहां साधु-साध्वियों के बाईस परीषहों का उल्लेख मिलता है। उनमें पहला परीषह है–क्षुधा। साधु-साध्वियां भी शरीरधारी हैं, इसलिए उन्हें भूख लगना बिलकुल स्वाभाविक है, पर मान लिजिए, किसी कारण किसी साधु को कभी भोजन नहीं मिला। अब उसे भूख सहनी होगी। साधक समभावपूर्वक यह कष्ट सहन करता है। इससे उसके कर्मों की प्रचुर निर्जरा होती है। यह कितना बड़ा लाभ है! इसी प्रकार साधु-साध्वियों को प्यास भी लगती है, पर कभी ऐसा प्रसंग भी आता है, जब किसी को समय पर पानी नहीं भी मिलता। ऐसे में उसे अत्यंत कष्ट की स्थिति से होकर गुजरना पड़ता है।

वस्तुतः कष्टों में भी आनंद का अनुभव करना महान साधना है। इसी लिए तो हम कहते हैं, कष्ट आएं तो कतराओ मत, हंस-हंसकर सहन करो, पर हमारे भाई-बहिन समझते हैं कि शरीर को कष्ट देना ही धर्म है, इसलिए वे जैसे-तैसे तपस्या करना चाहते हैं। अठाई करने से आठों ही कर्मों का क्षय होता है, यह मानकर दूसरों पर वजन डालकर भी तपस्या करते हैं, लेकिन मैं तो मानता हूं कि तपस्या उस सीमा तक ही करनी चाहिए, जिस सीमा तक मानसिक प्रसन्नता रह सके। मैंने तो अपने जीवन में एक तेला (तीन दिवस का उपवास) किया है। उसमें तीनों दिन व्याख्यान दिया है। पारणे के दिन भी यह क्रम चला है। भगवान ने कभी नहीं कहा कि औरों को कष्ट देकर भी तपस्या करते रहो। औरों को कष्ट देना तो हिंसा है, लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आप तपस्या को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा गौण कर दें। तपस्या भी करणीय है। अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या करनी ही चाहिए। शक्ति का गोपन करना उचित नहीं है।

हां, तो मैं आपसे नियति और पुरुषार्थ के संदर्भ में बता रहा था। हालांकि जैन-दर्शन नियति को भी स्वीकार करके चलता है, पर उसका बल पुरुषार्थ पर है। पुरुषार्थ क्रिया है और नियति परिणाम। परिणाम हमारे हाथ में नहीं होता, उस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता, पर पुरुषार्थ हमारे हाथ में होता है। हम सही दिशा में पर्याप्त पुरुषार्थ करके सफलता अर्जित कर सकते हैं, अपनी लक्ष्य-संसिद्धि कर सकते हैं। यदि पर्याप्त पुरुषार्थ के बाद भी हमें सफलता नहीं मिलती है, लक्ष्य-संसिद्धि नहीं होती है तो हम ऐसा मान सकते हैं कि नियति ही ऐसी थी। यह भी इसलिए कि हमें निराशा न घेरे, पर यहां भी इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता। यह ठीक है कि आज हमें अपेक्षित सफलता नहीं मिली, पर सत्पुरुषार्थ निश्चित रूप से हमारी विकास-यात्रा को आगे बढ़ाता है। कभी-न-कभी उसका सुपरिणाम हमारे सामने अवश्य आता है।

परंतु जो व्यक्ति एकांततः नियति को ही यथार्थ मानता है, उसे कालांतर में निराशा घेर लेती है। वह हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाता है। उसकी कर्मजा शक्ति सुषुप्त पड़ी रहती है, कुंद हो जाती है। उस पर अकर्मण्यता प्रभावी हो जाती है। फलतः पुरुषार्थ-चेतना जाग नहीं पाती। फिर नियति को ही सब-कुछ मानने के बाद वह तप, जप, ध्यान.....करने की कोई अपेक्षा महसूस नहीं करता। सोचता है--जैसा नियति को मान्य होगा, वैसा हो जाएगा। इसका सीधा-सा फलित यह होता है कि व्यक्ति नियति के हाथ का एक यंत्र मात्र बनकर रह जाता है। स्वयं का स्वयं पर कोई नियंत्रण नहीं, कोई अधिकार नहीं। नियति उसे जैसे चलाना चाहे, जहां ले जाना चाहे, वह उसी के अनुरूप गति करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी दुर्बलता और गलत आचरण की जिम्मेदारी भी स्वयं पर लेने की अपेक्षा महसूस नहीं करता; और जब अपेक्षा ही महसूस नहीं करता, तब उससे निवृत्त होने की दिशा में प्रयत्न भी नहीं कर सकता; लेकिन पुरुषार्थ को स्वीकार करने से यह स्थिति नहीं बनती। तब व्यक्ति अपनी हर अच्छी-बुरी प्रवृत्ति की जिम्मेदारी स्वयं ओढ़ता है। अपनी बुरी प्रवृत्ति का परिणाम जानता हुआ उससे उपरत होने की दिशा में प्रयत्न करता है, उपरत होता है। तप-संयम के कुल्हाड़े से अपने पूर्व-संचित कर्म काटता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अपनी पुरुषार्थ-चेतना अधिक-से-अधिक जगाने का प्रयत्न करता है। जहां पुरुषार्थ फलदायी नहीं होता, वहां भी उसे निराशा अपनी गिरफ्त में नहीं ले पाती। वह इस आस्था के साथ अपने पुरुषार्थ का दीप सतत प्रज्वलित रखता है कि आज न सही कल, कल न सही परसों..... कभी-न-कभी तो सफलता अवश्य मिलेगी। ऐसी स्थिति में वह कभी अकर्मण्य नहीं बनता।

अहितकारी है ज्योतिष पर अति विश्वास

जो लोग नियति को ही सब-कुछ मानते हैं, पुरुषार्थ को बिलकुल ही स्वीकार नहीं करते, वे ज्योतिष पर अति विश्वास करने लगते हैं। हालांकि ज्योतिष की बहुत-सी बातें ज्यों-की-त्यों मिल जाती हैं, तथापि उसके आधार पर पुरुषार्थहीन बनकर बैठ जाना, मेरी दृष्टि में उचित नहीं है। मैं देखता हूं, कई व्यक्ति ज्योतिष पर अति विश्वास कर निठल्ले होकर बैठ जाते हैं और अंततः सब-कुछ गंवाकर भूखे फकीर बन जाते हैं। इसी लिए हमारे आचार्यों ने कहा कि ज्योतिष तो तुक या तुस के समान है। बताई हुई बात यथार्थ हो जाए तो तुक मिल जाती है, अन्यथा तुस हो जाती है। इसलिए इस पर अति विश्वास नहीं करना चाहिए, इसे अंतिम नहीं मानना चाहिए, इससे चिपककर नहीं रहना चाहिए।

मेरे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई हैं, जिनसे ज्योतिष पर विश्वास जम सकता है, पर मैं उसके आधार पर नहीं चलता। *भृगु संहिता* में मेरे बारे में अमुक बात लिखी गई है यह मैं तब देखता हूं, जब वह काम संपादित कर लेता हूं। पहले देख लूं तो शायद उसे करने का प्रयास ही न हो। हां, मैं यह अवश्य मानता हूं कि ज्योतिष एक विज्ञान है। उसका किसी को सही और गंभीर ज्ञान हो तो बहुत-सी बातें यथार्थ रूप में जानी जा सकती हैं। बावजूद इसके, ज्योतिष की बात अंतिम मानना मैं समझदारी नहीं कह सकता।

प्रसंग माणकगणी का

ज्योतिष के आधार पर आयुष्य का विश्वास करना तो कई बार बहुत बड़ी कठिनाई पैदा कर सकता है। हमारे धर्मसंघ के षष्टमाचार्य माणकगणी का उदाहरण सामने है। दिवंगत होने से पूर्व अपने उत्तराधिकारी की व्यवस्था वे इसी कारण तो नहीं कर पाए थे कि ज्योतिष के अनुसार उनकी आयु साठ वर्ष थी। इसलिए वे निश्चिंत थे। जब अंतिम समय में उनसे संघ की भावी व्यवस्था करने के लिए निवेदन किया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उन्होंने कहा–'ज्योतिष की और-और सब बातें जब मिली हैं तो यह आयु की बात क्यों नहीं मिलेगी? यह भी अवश्य मिलनी चाहिए।''''''' पर उनका यह विश्वास फलित नहीं हो सका और वे चतुर्विध धर्मसंघ को सनाथ बनाए बिना ही स्वर्ग पधार गए।

ज्योतिष को आधार मानकर कोई संथारा कर दे और उसमें फर्क रह जाए तो बहुत विकट स्थिति पैदा हो सकती है, अनर्थ भी हो सकता है। इसलिए कोई दायित्वशील और समझदार व्यक्ति ज्योतिष की बात पर अति विश्वास नहीं कर सकता, नियति के आधार पर नहीं चल सकता। उसके आधार पर अपने करणीय में ढील नहीं कर सकता। मैं आप लोगों से ही पूछना चाहता हूं कि यदि सब-कुछ नियति ही है तो मनुष्य को विवेक क्यों मिला है; चिंतन के लिए यह मस्तिष्क क्यों प्राप्त हुआ है। आपके उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही मैं कहना चाहता हूं कि व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह नियति को स्वीकार करता हुआ भी उसे बहुत मूल्य न दे, उस पर अवलंबित होकर अपना पुरुषार्थ कमजोर न करे।

अस्तु, हर भाई-बहिन यह समझे कि शरीर को कष्ट देना धर्म नहीं है। धर्म की साधना है–कष्ट आएं तो उन्हें समभाव से सहना। जानकर कड़वा तुंबा खाना, धूप में आतापना लेना, जानबूझकर शेर का सामना करना आदि बातें आज के युग में हठयोग मानी जाती हैं। ऐसी साधना मात्र उन्हीं व्यक्तियों के लिए हो सकती है, जो दृढ़ शक्तिसंपन्न हैं। वे कष्ट झेलकर स्वयं का परीक्षण करते हैं कि हमारी आत्मा में दृढ़ता है या नहीं।

जैन-धर्म समन्वय के सिद्धांत को महत्त्व देता है, इसलिए एकांततः हठयोग को अच्छा या बुरा नहीं मानता। एक मुनि एक मास की तपस्या करता है। पारणे के दिन चावल के एक दाने का आहार करता है और दूसरे दिन से फिर एक मास की तपस्या शुरू कर देता है। एक दूसरा साधु रोजाना मनोज्ञ भोजन करता है और ध्यान साधना में लगा रहता है। इन दोनों मुनियों में दूसरा मुनि पहले मुनि से आगे बढ़ सकता है। इसी प्रकार कभी-कभी घंटों ध्यान करनेवाले मुनि की अपेक्षा एक *नवकारसी* करनेवाला मुनि बहुत आगे बढ़ सकता है। शास्त्रों में कहा गया है कि सोलह प्रहर की कड़ी तपस्या और सात *लव* का ध्यान दोनों तुला पर एक बराबर उतरते हैं। इसलिए साधना की बात सापेक्ष दृष्टि से समझना आवश्यक है। सापेक्ष दृष्टि रखनेवाला भटकाव से बच जाता है।

नोहर, २१ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८ : आत्मविकास की प्रक्रिया

हम साधक हैं। साधक का उद्देश्य होता है—आत्मविकास करना। आत्म-विकास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं। उनमें पहली बात है—निष्ठा। चिंतनपूर्वक स्वीकार कर जिस पथ पर साधक चले, उसके प्रति उसके मन में अटूट श्रद्धा होनी चाहिए। वह सोचे—**इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलं पडिपुण्णं नेआउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति।** यानी यही निर्ग्रंथ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, एक है, प्रतिपूर्ण है, न्याययुक्त है, शुद्ध है, शल्यों को काटनेवाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, निर्याण और निर्वाण का मार्ग है, यथार्थ है, अविच्छिन्न है, सब दुःखों का नाश करनेवाला है। इस मार्ग पर चलनेवाला प्राणी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है, सब दुःखों का अंत कर लेता है।

संशयात्मा विनश्यति

मैं मानता हूं, इतनी गहरी/दृढ़/अटूट निष्ठावाला व्यक्ति निश्चित रूप से अपना लक्ष्य प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो अपने लक्ष्य के प्रति संदिग्ध रहता है, वह सफल नहीं हो सकता। **संशयात्मा विनश्यति**—*गीता* का यह सूत्र भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। *आचारांग* में कहा है—**वितिगिच्छ समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधिं**—आशंकित मन समाधिस्थ नहीं हो सकता। संदेह पहले होना चाहिए, जिसे हम दूसरे शब्दों में जिज्ञासा कह सकते हैं। जांच के बाद जो मार्ग स्वीकार कर लिया, उसके प्रति बाद में अनास्था रखनेवाला भटक जाता है। इसलिए जांच-परखकर स्वीकार किए गए मार्ग पर व्यक्ति को दृढ़ निष्ठा और आत्म-विश्वास के साथ कदम बढ़ाने चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायसराय बनूंगा!

कहा जाता है कि लार्ड कर्जन ने बचपन में संकल्प किया था कि मैं वायसराय बनूंगा। इस लक्ष्य के प्रति उसकी गहरी आस्था थी। इसलिए वह दिन में हजारों बार यह शब्द दोहराता। खाते, पीते, बैठते, सोते, चलते.....हर क्षण उसका यही चिंतन रहता। फलतः एक दिन वह वायसराय बनकर रहा। मैं तो बराबर कहता रहा हूं कि निष्ठा का बल अचिंत्य है।

निष्ठा के बाद ज्ञान के क्षेत्र में विकास होना चाहिए। ज्ञान बहुत ही ऊंचा तत्त्व है, पर आस्थाहीन ज्ञान व्यक्ति को भटका देता है। उस ज्ञान को जैन-दर्शन में अज्ञान माना गया है। वेदांत ने उसे अविद्या की संज्ञा दी है।

ज्ञान के बाद चारित्र का स्थान है। इन तीनों बातों से जो व्यक्ति संपन्न होता है, उसकी लक्ष्य-सिद्धि असंदिग्ध है।

उपासना रूढ़ न बने

जैन-धर्म में उपासना और चारित्र–इन दोनों का महत्त्व है। उपासना काम की चीज है, बशर्ते कि तदनरूप आचरण होता रहे। परंतु उपासना तो आकाश से बातें करे और आचरण पाताल से टकराए, यह उचित नहीं है। यह अंतर पाटा जाना चाहिए। दूसरी बात है कि उपासना रूढ़ न बने। हालांकि रूढ़ होना एकांततः बुरा नहीं होता। एक मार्ग निकाला गया। हजारों मोटरें उस पर से होकर निकलने लगीं और वह मार्ग रूढ़ हो गया। यह रूढ़ता बुरी नहीं कही जा सकती। लेकिन जो अतीत में उपयोगी रहा है, वह वर्तमान में अनुपयोगी होने पर भी मान्यता-प्राप्त रहे, इस रूढ़ता में खतरा रहता है।

भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने कहा है–'परंपरा को तोड़कर चलने में बहुत बड़ा खतरा है। नया मार्ग बना नहीं और पुराना छोड़ दिया, इस स्थिति में भटकने का भी भय रहता है।'

सुप्रसिद्ध विचारक जैनेंद्रकुमार जैन कहते हैं–'परंपरा परम पुरुषार्थ है। मैं इसका पृष्ठपोषक हूं, पर जहां यह विकास में रोड़ा बनती है, वहां इसे खत्म कर देना चाहिए।'

परंपरा और विवेक

बंधुओ! मैं भी परंपरा को बहुत मानता हूं, पर उसे नहीं,जो गली-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सड़ी और निकम्मी है। नदी पार करने के लिए व्यक्ति बेड़ा काम में लेता है, पर क्या नदी पार करने के बाद भी उसे सिर पर उठाए रखना जरूरी है? **विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्**—यह सिद्धांत मेरी दृष्टि में सम्यक नहीं है। अपने हाथ से विष का पौधा लगा लिया—यह भूल हुई, किंतु उसे उखाड़ना ही नहीं, यह क्या काम की बात है? कोई गलत परंपरा पड़ गई या कोई परंपरा अपना मूल्य खो चुकी, उसे तोड़ने में जरा भी संकोच नहीं होना चाहिए।

नियमितता का मूल्य

उपासना का अर्थ मंदिर में धूप, दीप करना या प्रतिमा के चरणों पर फूल चढ़ाना नहीं है। उपासना का अर्थ है—मानसिक एकाग्रता की साधना। चारों ओर भटकते मन को मंत्र, जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि उपासना-क्रियाओं के द्वारा एकाग्र बनाया जा सकता है, पर इसका क्रम व्यवस्थित होना चाहिए। साधना में नियमितता अत्यंत अपेक्षित है। नियमित कार्यों में वैज्ञानिकता स्वयं आ जाती है। जहां नियमितता का अभाव होता है, वहां अच्छी क्रिया भी अपना पूरा लाभ नहीं दे पाती। इसका कारण स्पष्ट ही है कि अनियमितता तल्लीनता आने में बाधक बनती है और जब तल्लीनता नहीं होती, तब वह क्रिया समग्रता से नहीं की जा सकती।

सामायिक है संतुलन का अभ्यास

सामायिक भी एक प्रकार की उपासना है। बहुत अच्छी उपासना है। सामायिक का अर्थ है—समता का लाभ। कोई असंतुलित हो जाए तो सामायिक से पुनः संतुलित बन सकता है। मन, वाणी और क्रिया में संतुलन का अभ्यास ही सामायिक है।

धर्मस्थान : अपेक्षा और आचार्य भिक्षु का मंतव्य

सामायिक के लिए भी समय की नियमितता अत्यंत अपेक्षित है। इसी प्रकार नियत स्थान का महत्त्व भी उसके साथ जुड़ा हुआ है। और यह सामायिक के साथ ही क्यों, ध्यान, जप, स्वाध्याय आदि सभी क्रियाओं के साथ जुड़ा हुआ है। प्राचीनकाल में वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों प्रकार की पौषधशालाएं बनाने का क्रम था, किंतु कालांतर में यह पद्धति छूट गई। लोग मकान बनवाते समय अपनी अन्यान्य विभिन्न अपेक्षाओं का तो बहुत ख्याल रखते हैं, पर उपासना करने के लिए भी एक स्वतंत्र कक्ष की जरूरत है, यह बात उपेक्षित हो जाती है। यही स्थिति सामूहिक उपासना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थल के संदर्भ में है। अपने रहने के लिए बड़े-बड़े मकान लोग बनाते हैं, पर समाज में सामूहिक उपासना के लिए भी कोई स्थान अपेक्षित है, इस तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। फिर ध्यान जाता भी है तो उसे अनदेखा कर देते हैं। ऐसा न करने के पीछे पाप लगने का तर्क दिया जाता है। आचार्य भिक्षु के निषेध की ओट ली जाती है। यह बिलकुल ठीक है कि मकान के निर्माण में हिंसा होती है। वह कोई अहिंसक प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए पाप लगना स्वाभाविक है। इसे इनकार नहीं किया जा सकता, पर यह तर्क देनेवालों से मैं पूछना चाहता हूं कि क्या वैयक्तिक मकान बनाना धर्म का काम है; क्या उसमें हिंसा नहीं होती; पाप का बंधन नहीं होता; यह हिंसा होने और पाप लगने की बात सामूहिक उपासना-स्थल के संदर्भ में ही क्यों याद आती है। अब रही इस संदर्भ में आचार्य भिक्षु के निषेध की बात। मैं स्वीकार करता हूं कि आचार्य भिक्षु ने स्थानक बनाने का निषेध किया है, पर मैं जानना चाहता हूं कि आचार्य भिक्षु ने वैयक्तिक मकान बनाने की आज्ञा कहां दी है। जब यह स्पष्ट है कि उन्होंने इसकी आज्ञा नहीं दी है, तब वैयक्तिक मकान बनाए जाने बंद क्यों नहीं किए जाते? इस संदर्भ में मूलभूत समझने की बात यह है कि आचार्य भिक्षु का स्थानक या धर्मस्थान के निर्माण का निषेध करने के पीछे दृष्टिकोण क्या था। वस्तुतः उनके इस निषेध के पीछे दृष्टि यह रही है कि साधु-साध्वियों के उद्देश्य से धर्मस्थान का निर्माण नहीं होना चाहिए। उनके समय में साधु-साध्वियों की भावना से गांव-गांव में भवन बनाए जाते थे। बनाने में साधु-साध्वियों की खुली प्रेरणा और हस्तक्षेप होता था। उन पर साधु-साध्वियों का स्वामित्व होता था। यह प्रवृत्ति साध्वाचार की दृष्टि से सर्वथा अकल्पनीय है। अतः उन्होंने यह प्रवृत्ति अपने संघ में सर्वथा अमान्य कर दी, लेकिन श्रावक-श्राविकाएं अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान बनाएं, इसका उन्होंने कहीं निषेध नहीं किया। और वे निषेध कर भी कैसे सकते थे, जबकि वे इस तथ्य से अच्छी तरह अभिज्ञ थे कि गृहस्थ पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता; अपनी पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विभिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए उसे अनेक प्रकार की हिंसात्मक प्रवृत्तियां करनी पड़ती हैं; वह चाहकर भी उनसे सर्वथा बच नहीं सकता? मुझे लगता है, जो लोग सामूहिक उपासना के लिए धर्मस्थान नहीं बनाने की बात करते हैं, उनके मन में पाप का भय और आचार्य भिक्षु के सिद्धांत के प्रतिकूल आचरण की चिंता कम है, धन के प्रति आसक्ति ज्यादा है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिक दायित्व से बचने की मनोवृत्ति अधिक है।

किसी को गलतफहमी न हो, इसलिए इस संदर्भ में इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि सामाजिक उपयोगिता के लिए कहीं कोई स्थान बनाया जाता है, फिर चाहे वह शैक्षणिक अपेक्षा से हो, विवाह की अपेक्षा से हो या धार्मिक उपासना की अपेक्षा से हो, उसमें दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रहना चाहिए। यानी उसमें साधु-साध्वियों की भावना बिलकुल भी नहीं जुड़नी चाहिए। स्वामीजी ने जिस बात का निषेध किया था, वह निषेध आज भी वैसे ही है। उसमें किंचित भी न्यूनता नहीं है। उसकी अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि हमारा विश्वास आचार-शुद्धि में है, सुख-सुविधा में नहीं, पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि समाज अपनी अपेक्षा के लिए कोई भवन बनाए तो उसमें साधु-साध्वियां रह नहीं सकते। जिस प्रकार दूसरे-दूसरे मकानों में साधु-साध्वियां रहते हैं, उसी प्रकार उस मकान में भी रह सकते हैं। हालांकि रहें या न रहें, इसका निर्णय तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आधार पर किया जाता है, तथापि अपनी मान्यता के अनुसार उसमें रहने में कोई कठिनाई नहीं है, दोष नहीं है।

मनाही क्यों करूं

पिछले दिनों जोधपुर में समाज का एक भवन बना। एक भाई ने मुझसे कहा–'आप साधु-साध्वियों को उस मकान में रहने की मनाही कर दें।' मैंने पूछा–'क्यों?' भाई बोला–'साधु-साध्वियों का रहना ठीक नहीं लगता।' मैंने प्रश्न किया–'ठीक नहीं लगने का कारण? क्या वह मकान आप लोगों ने साधु-साध्वियों के लिए बनवाया है?' भाई ने कहा–'नहीं, साधु-साध्वियों की भावना से बिलकुल भी नहीं बनवाया है। हमें अपनी विभिन्न सामाजिक प्रवृत्तियों के लिए काफी दिनों से मकान की अपेक्षा महसूस हो रही थी। इसी दृष्टि हमने बनवाया है।' मैंने पूछा–'जब मकान साधु-साध्वियों की भावना से नहीं बना है, तब साधु-साध्वियों के वहां रहने में आपत्ति क्या है?' भाई बोला–'आपत्ति यही है कि लोग कहेंगे कि मकान साधु-साध्वियों के लिए बनवाया गया है।' मैंने कहा–'यदि भवन बनवाने के पीछे आप लोगों के मन में साधु-साध्वियों की दृष्टि से थोड़ा भी चिंतन होता तो मैं अपने साधु-साध्वियों को बिलकुल मनाही कर देता, किंतु जब यह स्थिति है ही नहीं, तब बिना मतलब मनाही क्यों करूं? हालांकि यह जरूरी नहीं कि साधु-साध्वियां वहां रहें ही। फिर लोगों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुचित आलोचना के भय से हम कहां-कहां नहीं रहेंगे? लोगों से यों डरते रहेंगे तो साधुपन भी कैसे पालेंगे? जब हम दोष का सेवन नहीं करते हैं, तब लोगों की तथ्यहीन आलोचना से डरने की आवश्यकता नहीं है।'

बंधुओ ! प्रसंगवश मैंने यह बात स्पष्ट कर दी। हमारा मूल प्रतिपाद्य था—दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना। आप यह बात हृदयंगम कर लें कि आत्मविकास की इससे भिन्न कोई प्रक्रिया हो नहीं सकती। उपासना की बात भी इसमें अंतर्निहित है। हम सब ज्ञान, दर्शन और चारित्र में प्रतिक्षण वर्धमान होते रहें, यही हम सबके लिए काम्य है, यही श्रेयपथ है।

नोहर

२१ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९ : धर्म का स्वरूप

धर्म आत्मशांति की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। दूसरे शब्दों में आत्मशांति और धर्म में अविनाभावी संबंध है। धुआं है तो अग्नि निश्चित है। अग्नि के बिना धुआं नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार आत्मशांति की उपलब्धि धर्म के बिना नहीं हो सकती। धन-संपत्ति और अन्य भौतिक पदार्थ जीवनयापन के साधन जुटा सकते हैं, पर आत्मशांति नहीं दे सकते। यदि धन-वैभव और भौतिक पदार्थ ही व्यक्ति को शांति दे पाते तो सम्राट, राजा और धनपति लोग सर्वाधिक सुखी होते, पर हम देखते हैं कि उन्हें शांति नहीं है। शांति की प्राप्ति में उनकी व्यर्थता वे स्वयं अनुभव करने लगते हैं।

चाबी सही है तो ताला अवश्य खुलेगा

बहुत-से लोग कहते हैं कि हम वर्षों से धर्म करते हैं, पूजा-उपासना करते हैं, फिर भी मन में शांति नहीं है। ऐसा क्यों? धर्म करते हैं और आत्मशांति नहीं मिल रही है—यह बात मैं कभी स्वीकार नहीं कर सकता। जो लोग ऐसा कहते हैं, उसका अर्थ इतना ही है कि उन्होंने धर्म को सही रूप में समझा नहीं है, उसका समुचित उपयोग करना सीखा नहीं है। इस स्थिति के लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं, परंतु बड़ी विचारणीय बात तो यह है कि लोग स्वयं की त्रुटि की ओर ध्यान नहीं देते और धर्म को बदनाम करने लगते हैं। वैद्य रोगी को दवा देता है। रोगी दवा तो लेता है, पर उसके पथ्य-परहेज का ध्यान नहीं रखता। इस स्थिति में उसे स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं होती। नासमझ रोगी दवा का उपयोग सही ढंग से न करने की अपनी गलती तो समझता नहीं और दवा को बेकार कह बदनाम करता है; वैद्य का दोष निकालता है। चाबी यदि सही है तो ताला क्यों नहीं खुलेगा? अवश्य खुलेगा। यदि नहीं खुलता है तो यह मानना चाहिए कि चाबी सही विधि से घुमाई नहीं जा रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलभूत बात यह है कि जब तक धर्म रूढ़ि के रूप में चलता रहेगा, तब तक उससे अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। धर्म का जीवंत और जाग्रत रूप ही वास्तव में धर्म है और वही व्यक्ति के लिए शांति का साधन बनता है। जो लोग धर्म का वास्तविक स्वरूप समझकर उसका सही-सही उपयोग करते हैं, उनके जीवन में शांति के खिलते और महकते फूल देखे जा सकते हैं, पर कठिनाई यह है कि धर्म को सही रूप में जानने-समझने की जिज्ञासा बहुत कम लोगों में मिलती है। फिर कुछ लोग उसे सही रूप में समझ भी लेते हैं तो उसे आचरण के स्तर पर उतार नहीं पाते। ऐसी स्थिति में धर्म का फल उन्हें कैसे मिल सकता है?

उपासना किसकी की जाए

कुछ लोग मुझसे पूछते हैं कि उपासना धर्म है या नहीं। इसका संक्षिप्त-सा उत्तर इतना ही है कि जो उपासना व्यक्ति की आत्मपवित्रता में हेतुभूत बनती है, आत्मशांति का साधन बनती है, वह निश्चय ही धर्म है। यदि वर्षों तक उपासना करने के पश्चात भी जीवन में पवित्रता उद्भूत नहीं होती है, आत्मशांति का अनुभव नहीं होता है तो मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि ऐसी उपासना धर्म का हिस्सा नहीं है, धर्म नहीं है। फिर भले वह और कुछ भी क्यों न हो।

कुछ लोग मूर्ति की पूजा करते हैं। मैं इस पर कोई टिप्पणी करना नहीं चाहता, पर मेरा विश्वास जड़ पूजा में नहीं है। मैं चेतन का पुजारी हूं गुण-पूजा में विश्वास करता हूं। इससे भी आगे मैं तो यह भी कहता हूं कि **अहमेव मयोपास्यः**—मुझे स्वयं की उपासना करनी है। इसे कोई अहं समझ सकता है, पर तत्त्वतः यह अहं नहीं, अपितु अध्यात्म-साधना का एक रहस्यमय सूत्र है।

आपका प्रश्न होगा कि स्वयं की उपासना कैसी होती है। आप उपासना का अर्थ समझें। उपासना का अर्थ है—निकट रहना। स्वयं की उपासना का तात्पर्य है—स्वयं के निकट जाना। स्वयं के निकट कौन नहीं जाना चाहता? अध्यात्म-साधना का उद्देश्य स्वयं के निकट जाना ही तो है, आत्म-साक्षात्कार करना ही तो है। इससे भिन्न अध्यात्म-साधना का कोई उद्देश्य हो नहीं सकता, पर मुझे लगता है कि अधिकतर लोग यह तथ्य भूल रहे हैं। इसी लिए वे विजातीय तत्त्वों की निकटता पाने का प्रयास कर रहे हैं। इस भूल का संशोधन होना अत्यंत आवश्यक है। जैनचार्यों ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-उपासना के सिद्धांत का बहुत गहराई से विवेचन किया है। शंकराचार्य ने भी अपने *शंकरभाष्य* में लिखा है—**स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिः।** अर्थात अपने आत्मस्वरूप का अनुसंधान करना ही भक्ति है, उपासना है।

व्यक्ति औरों की पूजा क्यों करता है? कुछ पाने के लिए ही तो? पर मैं मानता हूं कि औरों से पाने की आकांक्षा वही रखता है, जिसे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा नहीं होता। जिसे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा होता है, वह कभी दूसरे से कुछ भी पाने की आकांक्षा नहीं रख सकता। फिर बहुत सही तो यह है कि व्यक्ति को कुछ मिलता है तो वह उसके स्वयं के पुरुषार्थ से ही मिलता है, स्वयं के पुरुषार्थ के भरोसे से ही मिलता है। दूसरा तो मात्र निमित्त होता है।

राजा तीन-मंजिला महल बनवा रहा था, पर महल पूरा बनता, उससे पूर्व ही ढह गया। उसने दूसरी बार बनवाना शुरू किया, किंतु फिर ढह गया। वह चिंतित हुआ। उसने कुलदेवी की आराधना की। कुलदेवी प्रकट हुई। उसने स्मरण करने का कारण पूछा। राजा ने अपनी समस्या रखते हुए उपाय पूछा। देवी बोली—'इसका एक उपाय है। तुम अपनी नगरी के सभी लोगों को अपने हाथ से कुछ-न-कुछ दान दो। जब तुम सभी लोगों को दे चुके होगे, कोई शेष नहीं बचा होगा, उसके बाद तुम्हारा कार्य निर्विघ्न हो जाएगा।' राजा ने उसी दिन दान देने की उद्घोषणा करवा दी। राजा दान दे तो कौन न ले? प्रातः से ही राजमहल के सामने भीड़ जमा होने लगी। राजा अपने हाथ से हर व्यक्ति को कुछ-न-कुछ दान देता। कई दिन तक लगातार यह क्रम चलता रहा। फिर धीरे-धीरे भीड़ कम होने लगी। इस क्रम में एक दिन ऐसा भी आया, जब एक भी व्यक्ति दान लेने के लिए उपस्थित नहीं हुआ। राजा ने सोचा कि देवी के कथनानुसार मैंने नगरी के सभी लोगों को दान दे दिया है, अब निश्चय ही मेरी इच्छा पूरी होगी। उसने पुनः महल के निर्माण का कार्य शुरू करवाया। पर यह क्या! महल पूरा होने को आया कि पुनः ढह गया। राजा ने पुनः कुलदेवी की आराधना की। देवी ने दर्शन दिए। राजा ने सारी स्थिति निवेदित की। देवी ने कहा—'तुमने अपनी दृष्टि से सबको दान दे दिया है, पर अभी तक एक व्यक्ति शेष रह गया है। उसने तुम्हारे हाथ से दान नहीं लिया है। जब तक तुम उसे कुछ नहीं दे देते, तब तक तुम्हारा काम बनेगा नहीं।' राजा ने पूछा—'मां! कौन है वह व्यक्ति?' देवी बोली—'उत्तर दिशा की बाहरी बस्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अंतिम भाग में एक चारण रहता है। उसे दान देना तुम्हारे लिए अभी शेष है। जब तुम उसे दान दे चुके होगे, तब तुम्हारा इच्छित फलित हो जाएगा।' राजा बोला–'शायद मेरी उद्घोषणा उसके कानों तक पहुंची नहीं है, अन्यथा नगरी के सभी लोगों ने दान लिया है तो उसके न लेने का कोई कारण समझ में नहीं आता। ठीक है, मैं आज ही उसे बुलाकर अपने हाथ से दान दे दूंगा।' देवी ने कहा–'तुम्हारा अनुमान सही नहीं है। उसने तुम्हारी उद्घोषणा बहुत अच्छी तरह से सुनी है, पर वह जानबूझकर नहीं आया है।' राजा को आश्चर्य हुआ। उसने उसी भावधारा में पूछा–'उद्घोषणा सुनकर भी नहीं आया, ऐसी क्या बात है?' देवी बोली–'ऐसे तो वह अत्यंत गरीब है, बड़ी मुश्किल से अपना काम चलाता है। यहां तक कि उसके पास खेती करने के लिए बैलों की जोड़ी भी नहीं है। मात्र एक बैल है। इसलिए हल में एक तरफ बैल जोतता है और दूसरी तरफ अपने पुत्र को, पर इसके बावजूद वह किसी का सहयोग नहीं लेता। उसका संकल्प है कि मैं अपने पुरुषार्थ का ही खाऊंगा। दूसरों से कुछ भी नहीं लूंगा। इसलिए तुम लाख चेष्टा करो तो भी वह तुम्हारे हाथ से दान नहीं लेगा।' देवी को सुन राजा का चेहरा उदास हो गया। निराशा के स्वर में बोला–'तब तो महल बनाने की मेरी तमन्ना धरी-की-धरी रह जाएगी।' राजा को निराशा की गिरफ्त से छुड़ाती हुई देवी बोली–'एक उपाय तुम्हें बताती हूं। उपाय कठिन अवश्य है, पर तुम यदि कर सको तो तुम्हारा काम बन सकता है।' राजा अत्यंत उत्साहित होकर बोला–'मां! कौन-सा उपाय है? तुम बताओ। कितना ही कठिन क्यों न हो, मैं करूंगा।' देवी ने कहा–'देखो, तुम किसान का वेश बनाकर उसके खेत में जाओ। जब वह हल जोते तो कह-सुनकर किसी प्रकार उसके बेटे की जगह तुम जुत जाना। मैं ऐसा उपाय करूंगी, जिससे तुम्हारे द्वारा काटे गए ऊमरों में अनाज की जगह मोती निपजेंगे। इस प्रकार तुम्हारे द्वारा उसके घर में धन पहुंच जाएगा और तुम्हारा महल बनाने का स्वप्न साकार हो जाएगा।'

किसी राजा के बैल की जगह हल में जुतने की कल्पना ही नहीं की जा सकती, पर वह राजा महल बनाने की अपनी ललक से बंधा था, इसलिए उसे ऐसा करना भी मंजूर हो गया। दूसरे ही दिन वह किसान का वेश बनाकर चारण के खेत की मेंड़ पर पहुंचा। राजा ने देखा, देवी का कथन अक्षरशः सत्य है। फटेहाल चारण ने हल में एक तरफ बैल को जोत रखा है और दूसरी तरफ अपने एक बारह-तेरह वर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लड़के को। राजा ने चारण को संबोधित करके कहा–'अरे भाई ! तुम भी कोई मनुष्य हो! बेचारे लड़के को हल में जोत रखा है! तनिक भी दया नहीं है!.....' चारण ने सुना और बोला–'बड़ा आया है दया-हया की बात करनेवाला! यदि तेरे मन में इतना विचार आता है, तो तू आ जा। फिर इसे छोड़ देता हूं।'

राजा तो ऐसा चाहता ही था। वह झट हल के पास पहुंच गया। चारण ने हल से अपने लड़के को हटाया और उसके स्थान पर राजा को जोत दिया। हल चलना शुरू हुआ। जिस राजा ने कभी अपने हाथ से लोटा उठाकर पानी भी नहीं पिया, वह हल में कैसे चल पाता? बड़ी मुश्किल से ले-देकर उसने तीन-चार ऊमरे काटे कि उसकी हालत एकदम बिगड़ गई। सांस लुहार की धौंकनी की तरह तेजी से चलने लगी। शरीर पसीने से नहा गया। राजा को लगा, अब यदि एक कदम भी आगे चला तो प्राण सुरक्षित नहीं हैं। वह वहीं रुक गया और गिड़गिड़ाता हुआ-सा बोला–'भाई! माफ करो, मैं तो हल नहीं खींच सकता।' चारण ने झुंझलाहट के साथ उसे हल से खोलते हुए कहा–'बड़ा आया था मुझे दया-हया की बात कहनेवाला! हो गई बस दया-हया पूरी! चल यहां से, मेरा कितना समय बेकार बरबाद कर दिया।'

राजा की जान-में-जान आई, पर उसकी शरीरिक हालत इतनी बिगड़ चुकी थी कि वह खेत से बाहर जाने की स्थिति में भी नहीं था। वह एक तरफ वहीं लेट गया। काफी देर विश्राम करने के पश्चात वह सामान्य बना। अब वहां से उठा और अपने महल की ओर लौटने के लिए उद्यत हुआ। चलते-चलते उसने चारण से कहा–'भाई! मैंने जितने ऊमरे काटे हैं, उनकी विशेष हिफाजत रखना।' चारण बोला–'बड़ा आया है, हिफाजत की बात करनेवाला! मानो तेरे काटे ऊमरों में कोई मोती पैदा होंगे!' राजा ने कहा–'भाई ! समय की बात है। कभी-कभी अवसर पर बोने से मोती भी निपज जाते हैं।' चारण जरा झिड़ककर बोला–'चल-चल, अपना रास्ता माप। मेरे पास तेरे से बेकार बात करने के लिए समय नहीं है। करना-धरना तो कुछ है नहीं, खाली लंबी-चौड़ी और ऊटपटांग बातें करता है।'

राजा ने कोई प्रतिवाद नहीं किया। चुपचाप उन्हीं पैरों महल में लौट आया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय बीता। खेती पकी। और एक दिन चारण ने विस्फारित आंखों से देखा, सचमुच जितनी दूर उस अनजान व्यक्ति (राजा) ने ऊमरे काटे थे, उतनी जमीन में अनाज की जगह मोती चमक रहे हैं।

यह दुर्बलता है

बंधुओ! चारण की यह कहानी पुरुषार्थ की कहानी है। जैन-धर्म यों तो स्वभाव, काल, नियति आदि सभी तत्त्व मानता है, पर उसका अधिक बल पुरुषार्थ पर ही है। इसी लिए उसे पुरुषार्थवादी दर्शन कहा जाता है। जो लोग जैन होकर भी भैरूजी, पीरजी, रामदेवजी आदि लौकिक देवताओं को मनाते हैं, उनका सहयोग चाहते हैं, वे एक प्रकार की दुर्बलता का परिचय देते हैं। वैसे सामुदायिक जीवन में एक-दूसरे का सहयोग लेना-देना एक अलग बात है, पर बिना श्रम/पुरुषार्थ का खाना उचित नहीं है। बहुत-से लोग तो आजकल ऐसे भी हैं, जो दो-चार पैसों का प्रसाद चढ़ाकर देवी-देवताओं से लाखों का धन पाना चाहते हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि क्या यह देवी-देवताओं को ठगने का प्रयत्न नहीं है; धोखा देने की मानसिकता नहीं है; अपनी आत्मा के साथ प्रवंचना करना नहीं है।

धर्म के दो रूप

धर्म के दो रूप हमारे सामने स्पष्ट हैं—पर्वधर्म और नित्यधर्म। उपवास आदि तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान, मंत्र-जाप, प्रभु-स्मरण, पूजा-पाठ, संत-दर्शन वगैरह पर्वधर्म हैं। क्षमा, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम आदि नित्यधर्म हैं। पर्वधर्म की आराधना व्यक्ति समय-समय पर ही कर सकता है, हर क्षण नहीं कर सकता। इसलिए वह अशाश्वत है। नित्यधर्म की आराधना व्यक्ति अपने जीवन के क्षण-क्षण में कर सकता है। उसके लिए समयविशेष को नियोजित करना उसके लिए अपेक्षित नहीं है। हालांकि पर्वधर्म—उपासना कोई निकम्मा तत्त्व नहीं है, पर नित्यधर्म—आचार ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। यदि आचार के साथ उपासना भी चलती है तो कोई कठिनाई नहीं, बल्कि सोने में सुगंध की बात है, पर आचार को सर्वथा गौण करके केवल उपासना और क्रियाकांडों को सब-कुछ मान लेना कतई उचित नहीं है। इससे व्यक्ति का अपेक्षित हित नहीं हो सकता। आज के व्यक्ति का जीवन छिन्न-भिन्न-सा हो रहा है, इसका कारण यही तो है। मैंने एक जगह कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्वधर्म का बढ़ा प्रदर्शन क्रियाकांड अनगिन हैं।
नित्यधर्म हो रहा उपेक्षित छिन्न-भिन्न जीवन है।
अत्यावश्यक है यह चिंतन धर्माचार्यों द्वारा।।
जाग्रत धर्म हमारा।।
जीवित धर्म हमारा।।

आज सबसे बड़ी अपेक्षा यही है कि आचार को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हो। धर्म का यह पक्ष जितना उज्ज्वल होगा, जीवन उतना ही अधिक सार्थक बन सकेगा। अणुव्रत उपासना को गौण रखता हुआ व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में आचार-धर्म को प्रतिष्ठित करने का उपक्रम है। उपासना को गौण करने से मेरा तात्पर्य आप समझते ही होंगे। कौन व्यक्ति किस धर्म-संप्रदाय की उपासना-पद्धति में विश्वास करता है, इस बात को अणुव्रत महत्त्व नहीं देता। एक मंदिर में जानेवाला अणुव्रती बन सकता है तो एक मस्जिद में जानेवाला भी अणुव्रती बन सकता है। एक जैन अणुव्रती बन सकता है तो एक बौद्ध भी अणुव्रती बन सकता है। इससे भी आगे जो व्यक्ति किसी धर्म-संप्रदाय की उपासना-पद्धति में विश्वास नहीं करता, वह भी अणुव्रती बन सकता है। एक नास्तिक एवं कम्यूनिस्ट भी अणुव्रती बन सकता है। अपेक्षा इतनी-सी है कि उसकी आचार-धर्म में निष्ठा हो। मैं मानता हूं, यह आचारधर्म की प्रतिष्ठा ही धर्म की वास्तविक प्रतिष्ठा है। इसके माध्यम से ही स्वस्थ समाज संरचना परिकल्पना आकार ग्रहण कर सकती है।

संस्कृति को गौण न करें

ऊपरी क्रियाकांड गौण हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति अपनी संस्कृति भी गौण कर दे। हालांकि दूसरी-दूसरी संस्कृतियों के अच्छे संस्कारों को ग्रहण करना कोई गलत बात नहीं है, तथापि अपने अच्छे संस्कार छोड़कर गलत संस्कार अपनाना कहां की समझदारी है? कोई संस्कार छोड़ने या ग्रहण करने में व्यक्ति का विवेक जाग्रत रहना चाहिए। प्रवाहपाती बनना या अंधानुकरण करना उचित नहीं है। आज मैं जैनों को देखता हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि वे अपने जैनत्व के संस्कार भूल रहे हैं। उनके जीवन में अधिकतर संस्कार जैनत्व के अनुकूल नहीं हैं। घर में किसी की मृत्यु हो जाने पर उसकी हड्डियां ले जाकर गंगा में डालते हैं। यह कार्य यदि इसलिए किया जाता है कि हमारे पारिवारिक सदस्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हड्डियां लोगों के पैरों के नीचे न आएं, तब तो अलग बात है, पर गंगा में डालने से उसकी सद्गति होगी, इस चिंतन या विश्वास के साथ किया जाता है तो यह जैन-संस्कारों के प्रतिकूल है। जैन-दर्शन के अनुसार व्यक्ति की सद्गति या दुर्गति तो उसकी मौत के साथ ही हो जाती है। बाद में सद्गति या दुर्गति होने की बात उसकी मान्यता से कहीं मेल नहीं खाती। इसी प्रकार *कागोल* के द्वारा मृतक तक कुछ पहुंचाने की बात भी जैनत्व से बिलकुल संगत नहीं है।

डाम नहीं तो घोड़े नहीं

ठाकुरसाहब का देहांत हो गया। कंवरसाहब उनके अनन्य भक्त थे। मृत्यु के बाद उन्होंने ब्राह्मणों को भोजन कराया। ब्राह्मणों ने देखा कि ठाकुर का कंवर भोला है, उससे हम जितना चाहें, उतना धन ऐंठ सकते हैं। अतः उन्होंने सोचा कि अवसर का लाभ उठाना चाहिए।

ब्राह्मणों ने कंवरसाहब को बुलाकर कहा–'कंवरसाहब! आपने हमें भोजन कराया, वह तो आपके पिताजी तक पहुंच गया, पर एक बात और सोचने की है। आपके पिताजी दाहिने पैर से लंगड़ाते थे, अतः वे वहां भी लंगड़ाएंगे। वहां कोई वाहन भी नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्हें वहां बहुत कठिनाई होगी। अतः वहां घोड़ा पहुंचाना बहुत जरूरी है।' कंवरसाहब ने पूछा–'इसका तरीका क्या हो सकता है?' ब्राह्मणों ने कहा–'तरीका तो बिलकुल सीधा ही है। आप यहां ब्राह्मणों को घोड़े देंगे और वहां घोड़ा पहुंच जाएगा।'

कंवरसाहब ने अपने कामदार को बुलाकर सब ब्राह्मणों को एक-एक घोड़ा देने का आदेश दे दिया। कामदार ने देखा, ब्राह्मणों ने कंवरसाहब को अपने जाल में गहरा फंसा लिया है। ऐसी स्थिति में सीधे तो कंवरसाहब मेरी बात नहीं मानेंगे। अब तो कोई ऐसी युक्ति काम में लेनी चाहिए, जिससे ब्राह्मणों को सबक मिले और कंवरसाहब इनके जाल से बाहर निकल सकें।

उसने घोड़े तैयार कराए और साथ ही भट्ठियों में लोह के कुश भी गरम करा दिए। समय पर सब ब्राह्मण आए। कामदार ने कहा–'ठाकुर-साहब के पैर में तकलीफ थी, पर ये घोड़े ऊंचे हैं, इसलिए वे चढ़ नहीं सकेंगे। वहां कोई वैद्य तो है नहीं, जो बीमारी का उपचार कर सके। इसलिए यहां हम ब्राह्मणों के डाम लगाएंगे। वे वहां पर ठाकुरसाहब के लग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाएंगे और उनका पैर सीधा हो जाएगा।'

ब्राह्मणों ने कहा–'यह कैसे हो सकता है! डाम लगाने से हमारा शरीर जल जाएगा।' कामदार ने कहा–'यह नहीं हो सकता तो घोड़े भी तुम लोगों को नही मिल सकते।'

बंधुओ! यह तो एक उदाहरण है। न जाने दुनिया में ऐसी कितनी गलत बातें चलती हैं; कितने पाखंड चलते हैं, पर ऐसे पाखंड चलानेवालों को समझाए कौन? इस संदर्भ में किसी को गलतफहमी न हो, इसलिए इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं कि किसी वर्ग-विशेष का विरोध करना मेरा लक्ष्य नहीं है। मेरा उद्देश्य तो मात्र ढोंग का विरोध करना है, गलत संस्कार छुड़ाना है।

यदि जैन-धर्म में आस्था रखनेवाले यह बात समझें तो बहुत-सी निरर्थक क्रियाएं स्वयं छूट सकती हैं। जैन-दर्शन के तत्त्व वैज्ञानिक हैं। इसमें अंधविश्वास और अवैज्ञानिक बातों को कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि कम्यूनिस्ट तक भी कहते हैं कि धर्म तो जैन-धर्म ही है।

संप्रदाय में असंप्रदाय

धर्म शब्द के कई अर्थ हैं। मजहब के अर्थ में भी धर्म शब्द का प्रयोग होता है, लेकिन जैन-धर्म इसे आत्म-शुद्धि के साधन के रूप में स्वीकार करता है। हालांकि संप्रदाय की आवश्यकता को भी वह अस्वीकार नहीं करता। वैसे देखा जाए तो संप्रदाय अपने-आपमें बुरा होता भी नहीं, बल्कि धर्म की सुरक्षा और उसके प्रचार-प्रसार के लिए वह अत्यंत उपयोगी है। बुरी है सांप्रदायिकता। जहां सांप्रदायिकता प्रभावी हो जाती है, वहां संप्रदाय अपनी उपयोगिता और प्रासंगिकता खो देता है। वह लाभ के स्थान पर अलाभ का हेतु बन जाता है। धर्म की सुरक्षा के स्थान पर वह संकीर्णता की सुरक्षा करने लगता है। धर्म के प्रचार-प्रसार के स्थान पर वह वैमनस्य व घृणा फैलाने का काम करने लगता है। मैं एक संप्रदायविशेष से संबद्ध होकर भी सांप्रदायिकता में विश्वास नहीं करता। अपने अनेकांतिक दृष्टिकोण से संप्रदाय में भी असंप्रदाय की साधना करता हूं। संप्रदाय में असंप्रदाय का अर्थ है–व्यक्ति एक संप्रदाय में रहता हुआ भी दूसरे-दूसरे संप्रदायों के अच्छे तत्त्वों के प्रति गुणात्मक दृष्टिकोण रखे। उन्हें सत्यग्राही दृष्टि से स्वीकार करता चले। वह यह सोचे, जैसे मेरे संप्रदाय में सत्य है, वैसे ही दूसरे-दूसरे संप्रदायों में भी सत्य हो सकता है। मैं अकेला संपूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य का ठेका नहीं ले सकता, क्योंकि सत्य अनंत है। सत्य के प्रति यह ऋजु दृष्टिकोण व्यक्ति को कभी सांप्रदायिक नहीं बनने देता। मेरी दृष्टि में सत्य के प्रति ऋजु दृष्टिकोण रखनेवाला व्यक्ति ही सच्चा धार्मिक है।

तेरापंथ के आद्यप्रणेता आचार्य भिक्षु ने संप्रदाय में असंप्रदाय की साधना का सूत्र देकर सचमुच हमारा बहुत उपकार किया है। उनसे यह सूत्र हमें विरासत के रूप में प्राप्त नहीं होता तो शायद आज हम इतनी व्यापक दृष्टि से कार्य नहीं कर पाते। मैंने यह अनुभव किया है कि जो भी व्यक्ति व्यापक दृष्टि से कार्य करता है, उसे जनता का प्यार मिलता है, विश्वास मिलता है। वह उसका पथ-दर्शन स्वीकार करके आगे बढ़ने के लिए तैयार होती है। अपेक्षा है, सभी धर्माचार्य, धर्माधिकारी इस बिंदु पर गंभीरता से चिंतन करें।

नोहर

२२ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१० : विद्यार्थी और जीवन-निर्माण की दिशा*

आगम का एक वाक्य है—**उद्देसो पासगस्स नत्थि**। इसका अर्थ है—द्रष्टा के लिए उपदेश नहीं है। तब उपदेश किसके लिए है? उपदेश है उनके लिए जो द्रष्टा नहीं हैं, जो अधूरे हैं। द्रष्टा कौन? ऋषि को द्रष्टा कहते हैं। द्रष्टा आत्मा को देखता है, परमात्मा को देखता है, समूचे जगत को देखता है।

प्राचीनकाल में ऋषियों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। स्वयं राजा-महाराजा लोग उनसे ज्ञान लेते थे। समूची शासन-व्यवस्था पर उनका आध्यात्मिक अंकुश रहता था। इसी लिए उस शासन को धर्मानुकूल शासन कहा जाता था। यह एक तथ्य है कि जब तक देश में ऋषियों का उचित सम्मान रहा, प्रतिष्ठा रही, देश की संस्कृति अपने गौरव के अनुरूप बनी रही, सुसंस्कार बने रहे, लेकिन जब से ऋषियों के स्थान पर राजनेताओं का महत्त्व बढ़ा, तब से संस्कृति का ह्रास होना प्रारंभ हो गया, गलत संस्कार पनपने लगे।

सुसंस्कारों का मूल्य

हम गहराई से चिंतन करके देखते हैं तो पाते हैं कि जीवन में सुसंस्कारों का सर्वाधिक मूल्य है। चूंकि ऋषियों के निकट सान्निध्य से सुसंस्कारों का वपन होता है, उन्हें अंकुरित और विकसित होने का वातावरण मिलता है, इसलिए विद्यार्थीकाल में बालकों को उनके सान्निध्य में रखने का क्रम था। ऋषि को आप संकीर्ण अर्थ में न लें, बल्कि व्यापक संदर्भ में देखें। गुरुकुल के कुलपति और आचार्य भी ऋषि का-सा जीवन जीते थे। उनके जीवन से सुसंस्कारों का सौरभ फूटता था। विद्यार्थी छोटी अवस्था में गुरुकुल में आते। युवा होकर वहां से बाहर निकलते। इस अवधि में उनका जीवन सुसंस्कारों से भावित हो जाता था। सुसंस्कारित

*विद्यार्थियों के बीच प्रदत्त प्रवचन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति में गलत आचरण की संभावना नहीं के बराबर होती है। कदाच कोई गलत काम हो जाता है तो उसके मन में अनुताप का भाव पैदा हो जाता है और वह तत्काल प्रायश्चित्त करता हुआ अपना परिमार्जन कर लेता है।

प्रसंग जैन-रामायण का

जैन-रामायण का एक कथा-प्रसंग है। दो राजकुमारों को विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल में भेजा गया। वहां बारह वर्षों तक उन्होंने विभिन्न विषयों का गहन अध्ययन किया। इस अवधि में उनका घर-परिवार से प्रायः संबंध-विच्छेद-सा हो गया। गुरुकुल और गुरुकुल के कुलपति ही उनके लिए घर और परिवार थे।

अध्ययन पूर्ण होने पर कुलपति उन्हें लेकर राजधानी आए। दोनों राजकुमार कुलपति के साथ जब राजसभा में प्रवेश कर रहे थे, तभी सहसा उनकी दृष्टि महल के एक झरोखे पर पड़ी। झरोखे में एक कन्या खड़ी थी। वह रूपवती एवं लावण्यसंपन्न थी। पहली बार में ही दोनों राजकुमार उसकी ओर खिंच गए। उनके मन में वासना का भाव पैदा हो गया। दोनों उसे पाने के लिए लालायित हो उठे।

दोनों राजकुमार राजसभा में पहुंचे। उन्हें देखकर राजा का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। राजा ने राजकुमारों के अध्ययन की परीक्षा के लिए उनसे कई तरह के प्रश्न किए। दोनों ही राजकुमारों ने प्रश्नों के समुचित उत्तर दिए। राजा ने कुलपति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा—'आप तो साक्षात बृहस्पति ही हैं। आपका सान्निध्य मेरे राजकुमारों के जीवन-निर्माण का आधार बना है। मैं इनके बहुमुखी अध्ययन से अत्यंत संतुष्ट हूं।' अत्यंत सम्मान के साथ राजा ने कुलपति को विदा दी।

दोनों राजकुमार राजसभा से चलकर महल में आए। माता के चरण-स्पर्श करके उसकी आशीष ग्रहण की। महारानी अपने लाडलों का निखरता व्यक्तित्व देख फूली नहीं समा रही थी।

तभी सहसा वह कन्या भी वहां आ गई। उस पर नजर पड़ते ही दोनों राजकुमारों ने अत्यंत अधीरतापूर्वक एक साथ पूछा—'मां! यह कौन है?' महारानी ने कहा—'तुम इसे पहचानते नहीं ? तुम्हारी ही तो सहोदरी है। पर पहचानो भी तो कैसे! तुम यहां से गए थे, तब यह बहुत छोटी थी। मात्र पांच वर्षों की थी। अब यह सतरह वर्षों की हो चुकी है। इस अवधि में इसके शरीर में बहुत अधिक परिवर्तन आ चुका है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मां के मुंह से बहिन के रूप में उस कन्या का परिचय पाकर दोनों राजकुमारों के सिर पर घड़ों पानी गिर गया। वे मन-ही-मन स्वयं को धिक्कारने लगे—हा! बाहर वर्षों के अध्ययन के पश्चात भी हमारा जीवन सुसंस्कारी नहीं बना! हमने इतने वर्षों तक केवल विद्या का भार ढोया! मात्र अक्षर-ज्ञान पढ़ा! जीवन कढ़ा नहीं!.....अनुताप की भावधारा में बहते हुए वे अपनी भूल का संशोधन करने के लिए चिंतन करने लगे। चिंतन करने में बहुत समय नहीं लगा। दोनों ने आजीवन विवाह न करने का संकल्प करते हुए अपनी भूल का प्रायश्चित्त किया, परिमार्जन किया।

राजा-रानी को उनके संकल्प की अवगति हुई तो उन्होंने विचार-परितवर्तन के लिए उन पर काफी दबाव डाला, पर उन दोनों ने अपना मन तनिक भी कमजोर नहीं किया। वे अपने संकल्प पर अडोल बने रहे। माता-पिता से अत्यंत विनम्रतापूर्वक उन्होंने निवेदन किया—'बहिन को विकार-दृष्टि से देखकर हमने भयंकर पाप किया है। इस पाप का यही प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त स्वीकार किए बिना हमारी आत्मा पाप-मुक्त नहीं हो सकेगी।'

विद्यार्थियो! यह एक स्थिति का चित्रण है। प्राचीन समय में विद्यार्थियों के जीवन का स्तर कैसा था, इसका एक निदर्शन है। आज के विद्यार्थियों के जीवन-स्तर से जब इसकी तुलना करता हूं, तब लगता है कि दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। कहां तो अनजान में बहिन को विकार-दृष्टि से देखने के प्रायश्चित्तस्वरूप आजीवन शादी न करने की बात और कहां आज लड़कों का लड़कियों के साथ खुला अभद्र और अश्लील व्यवहार! और कुछ विद्यार्थी तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। विद्यार्थियों का पतनोन्मुख जीवन देख मेरे मन में बहुत विचार आता है। मुझे लगता है कि विद्यार्थी विद्या-ग्रहण करने का वास्तविक लक्ष्य समझ नहीं रहे हैं। पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना विद्या का वास्तविक उद्देश्य नहीं है। वास्तविक उद्देश्य है—जीवन-निर्माण। जीवन-निर्माण के साथ बौद्धिक ज्ञान भी उपयोगी है, लेकिन कोरा बौद्धिक ज्ञान बहुत सार्थक नहीं होता। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि विद्यार्थी विद्यार्जन का वास्तविक उद्देश्य समझें और जीवन को सुसंस्कारों के सांचे में ढालने का प्रयत्न करें।

जीवन-निर्माण के सूत्र

सूत्र रूप में जीवन-निर्माण की कुछ बातें मैं बताना चाहता हूं। पहली बात है—कथनी-करनी की समानता। यह बात किसी को छोटी या सामान्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सी लग सकती है, पर गहराई से देखा जाए तो अत्यंत मूल्यवान है। जीवन-निर्माण का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। मैं अत्यंत विश्वास के साथ कह सकता हूं कि जो विद्यार्थी यह एक सूत्र संस्कारगत कर लेता है, उसके जीवन-निर्माण की दिशा स्वतः बन जाती है।

जीवन-निर्माण का दूसरा सूत्र है–खान-पान का विवेक। खाद्य-संयम के अभाव में जीवन तो पतनोन्मुख होता ही है, विद्या भी फलीभूत नहीं होती। इसी लिए किसी अनुभवी आचार्य ने कहा है–

खाटो खारो खोपरो, सुपारी नै तैल।
जो चेला! पढ़णो हुवै, तो इत्ता आगा ठेल॥

विद्यार्थी यह बात गंभीरतापूर्वक समझें कि अधिक खट्टी और मिर्च-मसालेदार चीजें उनके लिए हितकर नहीं हैं। ये स्वास्थ्य को बिगाड़ती हैं और विद्याध्ययन में भी बाधक बनती हैं। इस संदर्भ में विद्यार्थियों के अभिभावकों को भी चिंतन करने की जरूरत है। विद्यार्थियों को सात्त्विक भोजन तभी मिल सकता है, जब उनका स्वयं का भोजन सात्त्विक होगा।

समय का उचित मूल्य आंकना जीवन-निर्माण का तीसरा सूत्र है। मैं मानता हूं, एक अपेक्षा से समय से अधिक कीमती संसार में दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। जो समय बीत जाता है, वह किसी कीमत पर वापस नहीं मिलता, जबकि धन, स्वास्थ्य आदि प्रयत्न करने से पुनः प्राप्त किए जा सकते हैं। नष्ट हुई प्रतिष्ठा भी कुछ हद तक पुनः मिल सकती है। इसलिए विद्यार्थियों को एक-एक क्षण का पूरी तत्परता एवं जागरूकतापूर्वक उपयोग करना चाहिए। एक क्षण भी व्यर्थ खोना समझदारी की बात नहीं है। जो विद्यार्थी समय के प्रति जागरूक नहीं होते, उनके लिए बाद में अनुताप करना ही शेष बचता है।

यों तो जीवन का हर क्षण ही महत्त्वपूर्ण है, पर पचीस वर्ष की उम्र तक का समय तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दृष्टि से यह जीवन का स्वर्णिम काल है। यह वह समय है, जिसमें व्यक्ति के पूरे जीवन की नींव पड़ती है, जीवन का निर्माण होता है। मैं कई बार सोचता हूं, यदि मुझे यह पचीस वर्षों का समय मिल जाए तो न जाने मैं क्या-क्या करूं, पर यह अब मिलने को कहां! विद्यार्थियो! यह केवल मेरी बात नहीं है, बल्कि बहुत-से लोग भी ऐसा ही सोचते हैं। कभी आप लोग भी ऐसा ही सोच सकते हैं, पर यह सोचना, सोचने तक ही सीमित रहता है, साकार नहीं हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाता। अब तो एक ही बात अपने हाथ में रहती है कि बचे हुए समय का अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाए, उसे सफल बनाया जाए।

प्रसंगवश एक बात और कह देना चाहता हूं। अध्ययन के क्षेत्र में भारतीय लोगों के चिंतन और यूरोपीय देशों के लोगों के चिंतन में बहुत अंतर है। भारतवर्ष में जहां पचीस वर्ष की उम्र के पश्चात अध्ययन-काल प्रायः समाप्त मान लिया जाता है, वहीं यूरोप में लोग सत्तर-पचहत्तर और उससे आगे की उम्र तक भी अध्ययन करते हैं, ज्ञान के प्रति सदा जिज्ञासु बने रहते हैं। प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में भी अनेक यूरोपीय विद्वान भारत की संस्कृत-जैसी क्लिष्ट भाषा का अध्ययन करते हैं। यह इस बात का निदर्शन है कि यूरोपीय देशों के लोग विद्या और समय का मूल्य भारतीय लोगों की अपेक्षा ज्यादा समझते हैं।

प्रशिक्षक कौन हो

जीवन-निर्माण के कुछ सूत्रों की चर्चा मैंने की। ऐसे और भी कुछ सूत्र हैं। पर अहम प्रश्न तो यह है कि इन्हें ध्यान में रखकर विद्यार्थियों को प्रशिक्षण कौन दे। गुरुकुल में जाकर कुलपति या आचार्य के सान्निध्य में वर्षों तक अध्ययन करने का क्रम आजकल बंद हो गया है। लगभग विद्यार्थी अपने-अपने घर में रहते हुए विद्यालयों और कॉलेजों में अध्ययन करते हैं। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों में सुसंस्कारों के वपन की जिम्मेदारी अभिभावकों तथा विद्यालयों व महाविद्यालयों के अध्यापकों-प्राध्यापकों पर है, पर ये दोनों वर्ग अपनी इस जिम्मेदारी को कहां तक निभाते हैं, यह बहुत स्पष्ट है। अभिभावक सोचते हैं, हमने बच्चों को अध्यापकों को सौंप दिया, अब हमें कोई चिंता करने की जरूरत नहीं है। बहुत कम ऐसे माता-पिता मिलेंगे, जो अपने बच्चों को सुसंस्कारित करने की दृष्टि से सोचते हैं। अधिकतर अभिभावक तो ऐसे ही मिलेंगे, जिन्हें बारह माह में एक दिन भी अध्यापकों से मिलकर बच्चों के सुसंस्कारों की दृष्टि से चिंतन करने का अवकाश नहीं है। ऐसी स्थिति में मेरे मन में कई बार यह बात आती है कि जो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति अपना कर्तव्य और दायित्व नहीं समझते, उन्हें बच्चा पैदा करने का अधिकार क्यों मिलता है। इसी प्रकार अध्यापकों को भी बच्चों के सुसंस्कारों की चिंता नहीं है। वे सोचते हैं कि हमें तो वेतन पाना है। हमने बच्चों को कोर्स की पुस्तकें पढ़ा दीं और हमारा काम पूरा हो गया। बहुत कम ऐसे अध्यापक होते हैं, जो अध्यापन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को पेशा नहीं, बल्कि पवित्र कर्तव्य समझते हैं। मैं मानता हूं, जब तक अभिभावक और अध्यापक अपने कर्तव्य और दायित्व के प्रति जागरूक नहीं बनेंगे, तब तक विद्यार्थियों के सुसंस्कारी बनने का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकेगा।

धर्मनिरपेक्षता और धार्मिक शिक्षा

विद्यार्थियों के सुसंस्कारी न बनने का एक बड़ा कारण है–अधूरी शिक्षा। स्कूलों में बालकों को साहित्य, विज्ञान, भूगोल, इतिहास आदि विषयों की जानकारी तो कराई जाती है, पर धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती। इसका कारण बनी है–राष्ट्र की तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की नीति। यद्यपि धर्मनिरपेक्षता कोई बुरा तत्त्व नहीं है, बल्कि बहुत अच्छा तत्त्व है, तथापि लोगों ने गलत रूप में परिभाषित कर इसे भी गलत बना दिया है। धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ कदापि नहीं कि किसी धर्म को महत्त्व नहीं देना। इसका तो तात्पर्य यह है कि किसी धर्मसंप्रदायविशेष को अतिरिक्त महत्त्व नहीं देना, सभी के लिए प्रचार-प्रसार का समान अवकाश होना। मैं जहां तक सोचता हूं, धर्मनिरपेक्षता की यह परिभाषा करने से कोई कठिनाई नहीं रहती। गहराई से देखा जाए तो धर्म के मौलिक तत्त्व सभी धर्म-संप्रदायों को समान रूप से मान्य हैं। अहिंसा और सत्य ऐसे व्यापक तत्त्व हैं, जिन्हें कोई संप्रदाय अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार नैतिकता, प्रामाणिकता, सदाचार आदि सर्वमान्य तत्त्व हैं। धार्मिक शिक्षा से मेरा आशय इन्हीं सब व्यापक तत्त्वों की शिक्षा देना है, पर इसमें सबसे बड़ी कठिनाई है–शिक्षणशैली की। पुस्तकों और उपदेश से यह शिक्षा नहीं दी जा सकती। यह शिक्षा अध्यापकों को अपने जीवन और जीवन-व्यवहार से देनी होगी। केवल पुस्तकों एवं उपदेश से अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण और उनके प्रशिक्षण के संदर्भ में मैंने कुछ बातें बताईं। मैं अपेक्षा करता हूं कि विद्यार्थी, अध्यापक तथा अभिभावक–तीनों ही वर्ग इन पर गंभीरता से चिंतन-मनन करेंगे। मेरे विचार में राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से यह विषय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। विद्यार्थी ही राष्ट्र की नींव होते हैं। इस अपेक्षा से मैं कहना चाहता हूं कि आप यह नींव सुदृढ़ बनाएं। यह नींव जितनी सुदृढ़ होगी, राष्ट्र रूपी इमारत उतनी ही मजबूत हो सकेगी। अणुव्रत-आंदोलन प्रारंभ से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण की दृष्टि से व्यापक स्तर पर कार्य कर रहा है। आप भी इस कार्यक्रम को समझें और इसके छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार करके अपना सक्रिय योगदान दें। यह योगदान आपके उज्ज्वल भविष्य का आधार तो होगा ही, राष्ट्र को भी उन्नति-पथ पर बढ़ाएगा।

विद्यार्थियों के लिए अणुव्रत के संकल्प हैं—

- परीक्षा में अवैधानिक तरीकों से उत्तीर्ण होने का प्रयास नहीं करूंगा।
- तोड़-फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
- धूम्रपान नहीं करूंगा।
- मद्यपान नहीं करूंगा।
- बिना टिकट रेल आदि से यात्रा नहीं करूंगा।

उपर्युक्त संकल्प स्वीकार करके राष्ट्र के लाखों-लाखों विद्यार्थियों ने अपना जीवन सुसंस्कारी बनाया है। आप भी इस महायज्ञ में अपनी आहुति दें। निस्संदेह आपका जीवन आदर्श जीवन बनकर दूसरों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन सकेगा।

नोहर

२३ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११ : अध्यात्म और व्यवहार

जैन-धर्म अहिंसाप्रधान धर्म है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म चिंतन जैन-तीर्थंकरों ने किया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। पर जैन-धर्म के अहिंसा के सिद्धांत के संदर्भ में लोगों में भ्रांतियां बहुत हैं। औरों की बात तो हम दो क्षण के लिए छोड़ें, स्वयं बहुत-से जैन लोग भी यह सिद्धांत सही ढंग से समझ नहीं पाए हैं। इस कारण उनके व्यवहार और आचरण से जैन-धर्म का अहिंसा का सिद्धांत बदनाम होता है, जैन-धर्म बदनाम होता है।

हम अहिंसक हैं!

पिछले दिनों भारतवर्ष पर विदेशी लोगों का आक्रमण हुआ। उस समय अहिंसा के संदर्भ में भ्रांति पालनेवाले कुछ भारतीय नागरिकों ने इस आशय की बात कही कि हम अहिंसक हैं, इसलिए शत्रु का मुकाबला नहीं करेंगे।.....मैं ऐसा कहनेवालों और सोचनेवालों से कहना चाहता हूं कि वे अहिंसा का सिद्धांत यथार्थ रूप में समझें, अन्यथा वे इस महान सिद्धांत के साथ न्याय नहीं कर सकते। सचमुच जिन्होंने भी इस प्रकार का चिंतन किया, कथन किया या व्यवहार किया, उन्होंने अहिंसा की प्रतिष्ठा कम की है, धर्म को लांछित किया है।

हिंसा और मोह

जहां राष्ट्र के जान-माल की सुरक्षा का प्रश्न है, वहां हिंसा अवश्यंभावी है, क्योंकि राष्ट्र के प्रति लोगों का मोह है। मोह हिंसा है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा कि मारना ही हिंसा नहीं है, पुचकारना भी हिंसा है। यह बहुत गहरा दर्शन है। सबको जल्दी से समझ में नहीं भी आ सकता। बावजूद इसके, है शत-प्रतिशत यथार्थ। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि से खेती जलती है तो ओलों से भी जलती है। इसी प्रकार राग और द्वेष दोनों ही हिंसा के कारण हैं, हिंसा हैं। अतः इनसे पापकर्म का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधन होता है। इसी अपेक्षा से कुत्ते को पीटना और बच्चे को पुचकारना—इन दोनों क्रियाओं को एक ही कोटि में रखा गया। दोनों को मोह बताया गया, हिंसा कहा गया। आचार्य भिक्षु ने यही तथ्य निम्नोक्त शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

एकण नै दे रे चपेटी, एकण रो दै उपद्रव मेटी।
ओ राग-धेष रो चालो, दशवैकालिक संभालो॥

यों तो राग और द्वेष दोनों ही बंधन के कारण हैं, पर गहराई से देखा जाए तो द्वेष की अपेक्षा राग से बंधन अधिक होता है। लेकिन इस गहराई तक जाननेवाले लोग थोड़े ही होते हैं। कोई-कोई की दृष्टि ही इस सत्य को पकड़ पाती है। अधिक लोग तो ऐसे ही होते हैं, जो राग को अच्छा समझते हैं, इसलिए वे रागात्मक प्रवृत्तियां छोड़ने की बात ही नहीं सोचते।

आदर्श और व्यवहार

आदर्श और व्यवहार जीवन की दो भूमिकाएं हैं। आदर्श आदर्श ही होता है, वहां तक सबकी पहुंच नहीं होती। कोई-कोई व्यक्ति ही वहां पहुंच पाता है, पर इस कारण उसे नीचे नहीं लाया जा सकता। तब इसका विकल्प क्या है? इसका विकल्प है व्यवहार। व्यवहार हर व्यक्ति निभा सकता है। व्यक्ति आदर्श सामने रखता हुआ व्यवहार में चलता चले तो एक दिन आदर्श तक पहुंच सकता है। यदि कोई न भी पहुंच पाए, तो भी उसे आदर्श कभी खंडित नहीं करना चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने आदर्श और व्यवहार का सामंजस्य स्थापित किया था। इन दोनों का सामंजस्य बिठानेवाला उन-जैसा दूसरा व्यक्ति मिलना दुर्लभ है, पर बहुत कम लोग उनकी बात सही ढंग से समझ पाए। अधिकतर लोगों ने तो उसे गलत रूप में ही पकड़ा; और इस गलत पकड़ में उनका स्वार्थवादी दृष्टिकोण मुख्य कारण था। लोगों ने यह तो पकड़ लिया, चूंकि साधु-साध्वियों के अतिरिक्त किसी को कुछ भी देना लौकिक दान है, इसलिए वह लोकोत्तर धर्म नहीं है, पाप है, पर उन्होंने यह बात नहीं पकड़ी कि आचार्य भिक्षु ने संग्रह को भी पाप कहा है। स्कूल में बच्चों को पढ़ाना चाहते हैं, पर जहां स्कूल चलाने के लिए भवन-निर्माण का प्रश्न आता है, वहां अहिंसा की ओट ली जाती है। हिंसा-अहिंसा की सारी फिलॉसफी उस समय सामने आ जाती है; पर उन्हें ही जब झूठा मुकदमा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लड़ना होता है, तब वे नाजायज-से-नाजायज काम करते नहीं हिचकते। उस समय हिंसा-अहिंसा की बात उन्हें याद नहीं आती! आचार्य भिक्षु ने भवन-निर्माण में धर्म नहीं बताया तो क्या झूठा मुकदमा लड़ने में धर्म बताया है? वे उस समय आचार्य भिक्षु का सिद्धांत क्यों नहीं याद रखते?

आचार्य भिक्षु के हिंसा-अहिंसा के सिद्धांत की ओट में जो लोग अपने सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा करते हैं, उनसे मैं कहना चाहता हूं कि वे अपनी यह वृत्ति बदलें। यदि वे सामाजिक कार्यों में सहयोग नहीं ही देना चाहते हैं तो स्पष्ट रूप से इनकार क्यों नहीं करते? क्यों नहीं यह स्वीकार करते कि अपनी अनुदारवृत्ति के कारण हम अर्थ का विसर्जन नहीं कर सकते? फिर सिद्धांत तो बदनाम नहीं होगा, धर्म तो लांछित नहीं होगा, धर्मगुरु पर तो लोग आक्षेप नहीं करेंगे।

आचार्य भिक्षु का मंतव्य

बंधुओ! आचार्य भिक्षु का सिद्धांत और उनका मंतव्य आप गहराई से समझें। आचार्य भिक्षु यह बात बहुत अच्छी तरह से समझते थे कि सामाजिक/लौकिक कार्य सदा होते रहे हैं और भविष्य में होते रहेंगे। इसलिए वर्तमान में भी सामाजिक प्राणी उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। हिंसा होने के बावजूद उन्हें करना उसके लिए आवश्यक है। उनके बिना उसका काम नहीं चल सकता। इसलिए उन्होंने उन्हें करने का सीधा निषेध नहीं किया। सीधा निषेध मात्र उन लोगों के लिए किया, जो आदर्श को जीना चाहते हैं। यह शुद्ध अध्यात्म की भूमिका है। इस भूमिका में जीनेवाला ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं कर सकता, जो अध्यात्म की परिधि से बाहर है। पर व्यवहार की भूमिका में जीनेवाले के लिए यह सीमा नहीं है। उसकी सीमा विस्तीर्ण है। वह आंशिक रूप में ही अध्यात्म को अपना पाता है। वह ऐसी भी बहुत-सी प्रवृत्तियां करता है, जो आध्यात्मिक नहीं हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से हिंसा है। इस आदर्श और व्यवहार के बीच आचार्य भिक्षु की सामंजस्यपरक दृष्टि यही रही कि सामाजिक प्राणी शुद्ध अध्यात्म की भूमिका को अपना आदर्श माने, व्यवहार की भूमिका को जीता हुआ भी आदर्शोन्मुख गति करता रहे। व्यवहार की भूमिका में की जानेवाली प्रवृत्तियों में होनेवाली हिंसा को वह हिंसा माने। आवश्यक होने के कारण उन्हें अहिंसा न माने। मूलतः आचार्य भिक्षु का विरोध सामाजिक प्रवृत्तियों के करने से नहीं था, अपितु उनमें होनेवाली हिंसा को अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानने से था, हिंसा को धर्म मानने से था। तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो आचार्य भिक्षु ही क्यों, कोई भी चिंतनशील व्यक्ति व्यवहार की भूमिका में आवश्यक सामाजिक प्रवृत्तियों का विरोध नहीं कर सकता। हां, उनके प्रति अपना दृष्टिकोण सम्यक रखने की अपेक्षा वह जरूर बताएगा। अस्तु, आचार्य भिक्षु की आदर्श और व्यवहार के बीच सामंजस्य की दृष्टि यथार्थ की भूमिका में समझने का प्रयास हो, यह नितांत अपेक्षित है। यदि ऐसा होता है तो व्यक्ति का आध्यात्मिक पक्ष तो उज्ज्वल बनता ही है, सामाजिक जीवन भी स्वस्थ बनता है।

नोहर

२३ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२ : साधना की सफलता का रहस्य

साधना-पथ

आगमों में साधक को लक्ष्य करके कहा गया है—**चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो**—साधक पग-पग पर दोषों से भय खाता हुआ, थोड़े-से दोष को भी पाश मानता हुआ चले।

परिशंकित होकर चलने का अर्थ है—फूंक-फूंककर चलना, सावधानी-पूर्वक चलना। हम जानते हैं कि साधक के चारों ओर जाल बिछे हैं, गड्ढे हैं, कांटे हैं। थोड़ा-सा प्रमाद हुआ कि बंधन और पतन निश्चित है। जाल किन्हें कहा गया है? गड्ढे किन्हें कहा गया है? कांटे किन्हें कहा गया है? इनका दो शब्दों में उत्तर दिया जाए तो वह उत्तर होगा—राग और द्वेष। कहीं पर व्यक्ति की प्रशंसा होती है और कहीं पर निंदा। प्रशंसा सुनकर साधक रागभाव में जा सकता है और निंदा सुनकर द्वेषभाव में। कभी उसे मनोज्ञ भोजन, मकान आदि प्राप्त हो जाते हैं और कभी अमनोज्ञ। मनोज्ञ में रागात्मक संवेदना जाग सकती है और अमनोज्ञ में द्वेषात्मक। कोई यदि यह सोचे कि मनोज्ञता और अमनोज्ञता दोनों नष्ट हो जाएं, अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों समाप्त हो जाएं तो उसका सोचना व्यर्थ है। संसार है तो ये सब रहेंगी। इन्हें मिटाया नहीं जा सकता। मिटाना होगा स्वयं की राग-द्वेषात्मक संवेदनाओं को। जंगल है तो मार्ग में कांटे मिलेंगे ही। उन्हें कैसे मिटाया जा सकता है? एक बार कोई थोड़ा-बहुत बुहार भी दे तो क्या, आंधी आई कि फिर बिखर जाएंगे। ऐसी स्थिति में समाधान यही है कि व्यक्ति अपने पैरों में जूते पहन ले। फिर चाहे कितने ही कांटे क्यों न बिखरे हों, पैरों के बींधे जाने का खतरा नहीं रहेगा। साधक भी यह बात समझे। संसार में अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार की स्थितियां रहेंगी, मनोज्ञ-अमनोज्ञ सभी प्रकार के पदार्थ रहेंगे। उन्हें मिटाया नहीं जा सकता। मिटाने की अपेक्षा भी नहीं है। अपेक्षा है स्वयं को समता से भावित करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की। यदि साधक की आत्मा समता से भावित हो जाती है तो बाहर की अनुकूलता-प्रतिकूलता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता फिर उसे प्रभावित नहीं कर सकती। वह उनके बीच रहकर भी बंधन से मुक्त रह जाएगा।

कम्यूनिज्म आ गया तो!

अतः मूलभूत बात है अपनी सजगता की। जो व्यक्ति अपने-आपमें जागरूक होता है, इंद्रियों और मन को नियंत्रित रखने का अभ्यस्त होता है, वृत्तियों को उच्छृंखल होने से बचाना जानता है, उसे कहीं कोई खतरा नहीं है। आज बहुत-से लोगों को भय पैदा हो रहा कि कम्यूनिज्म आ गया तो क्या होगा! मैं उनसे कहना चाहता हूं, कम्यूनिज्म आए या और कोई शासन-पद्धति आए, यदि व्यक्ति स्वयं सजग है तो उसका कोई अहित नहीं हो सकता। अलबत्ता, शासन-पद्धतियों की व्यवस्थाओं का व्यक्ति के हित-अहित पर थोड़ा प्रभाव पड़ सकता है, पर पड़ता तभी है, जब व्यक्ति स्वयं सजग-असजग हो। वस्तुतः कम्यूनिज्म यानी साम्यवाद से भय उन लोगों को है, जो धर्मांधता से जुड़े हुए हैं, मठों-मंदिरों को अपनी आजीविका का साधन बनाए हुए हैं, पूंजी बटोरे हुए हैं या बटोरने में लगे हुए हैं। जो लोग इन स्थितियों से बचे हुए हैं, उन्हें कम्यूनिज्म से कोई खतरा नहीं है। अणुव्रत धर्म के जिस स्वरूप को व्याख्यायित कर रहा है, उसे आधार मानकर चलनेवाले के लिए कम्यूनिज्म कोई खतरा पैदा नहीं कर सकता। अणुव्रत जाग्रत धर्म का प्रारूप है, जाग्रत धर्म है। उसमें धर्मांधता को कहीं कोई स्थान नहीं है। मंदिरों, मठों या धर्मस्थानों से वह अनुबद्ध नहीं है। उसका सीधा संबंध व्यक्ति के जीवन से है, जीवन के व्यवहार और आचरण से है। इसी प्रकार अणुव्रत का पूंजी से कोई संबंध नहीं है। वह न तो पूंजी के आधार पर खड़ा है और न पूंजीवाद को प्रोत्साहन ही देता है। उसका आधार है—विशुद्ध अध्यात्म यानी जीवन की पवित्रता। वह प्रोत्साहन देता है संयम और व्रत को। इसलिए कम्यूनिज्म की तो बात ही क्या, संसार की किसी शासन-पद्धति से अणुव्रत को खतरा नहीं है।

संस्कृति का अविरल प्रवाह

मैं मानता हूं, जो शाश्वत तत्त्व हैं, उन्हें कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। यदि कोई संस्कृति जीवित रहती है तो वह शाश्वत तत्त्वों के आधार पर ही रहती है। जिस संस्कृति में शाश्वत तत्त्वों का अभाव होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उसे नष्ट होते वक्त नहीं लगता। मुझे लगता है, भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसे शाश्वत तत्त्व हैं, जो उसे को लंबे काल से बनाए हुए हैं। इतिहास बताता है कि उसे नष्ट करने के प्रयत्न कम नहीं हुए। हजारों-हजारों मूर्तियां तोड़ी गईं, मंदिर तोड़े गए। और भी न जाने कितने-कितने प्रहार संस्कृति को नष्ट करने के लिए हुए, पर हम देखते हैं कि बुरी तरह प्रभावित होकर भी संस्कृति सर्वथा नष्ट नहीं हुई, बल्कि उसे नष्ट करने का प्रयत्न करनेवाले ही स्वयं उसका अस्तित्व स्वीकार करने लगे हैं। वे सह-अस्तित्व का सिद्धांत मानने के लिए तैयार हो रहे हैं। मैं मानता हूं, सह-अस्तित्व का सिद्धांत बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसे स्वीकार करके चलने से विभिन्न जातिओं, भाषाओं, संप्रदायों और संस्कृतियों के लोग बड़े प्रेम से साथ-साथ रह सकते हैं। कम्यूनिज्म को भी देर-सवेर यह सिद्धांत स्वीकार करना ही होगा, अन्यथा वह स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर लेगा। रूस जैसा-राष्ट्र भी आज समझौतावादी बन रहा है। उसे भी इसकी उपयोगिता और उपादेयता स्वीकार करनी पड़ रही है। न्याय-शास्त्र का सूत्र है—**घटकुट्ट्यां प्रभातम्।** तात्पर्य यह कि घूम-फिरकर मूल मार्ग पर आ जाना।

एक व्यक्ति ने शहर में सौदा खरीदा। जगात न चुकानी पड़े, इसलिए वह चुंगी चौकी से टलकर जाना चाहता था। उसने दूसरा मार्ग लिया। लेकिन थोड़ी दूर जाकर भटक गया। रात-भर भटकता रहा। प्रातः उसने अपने को चुंगी चौकी के पास पाया। इसी प्रकार सह-अस्तित्व को न माननेवालों को भी अंत में उसका अस्तित्व स्वीकार करना होगा। अपने विवेक से स्वीकार करेंगे तो समझदारी है, अन्यथा काल के थपेड़े खाकर उन्हें मानना पड़ेगा। आप निश्चित मानकर चलें कि सह-अस्तित्व का सिद्धांत स्वीकार किए बिना विश्व-शांति की बात कभी आकार ग्रहण नहीं कर सकती।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि किसी संस्कृति के शाश्वत तत्त्व कभी नष्ट नहीं हो सकते। काल और परिस्थितियों के थपेड़े खाकर वह छिन्न-भिन्न तो हो सकती है, पर अपने उन शाश्वत तत्त्वों के कारण स्वयं का अस्तित्व बचाने में सफल रह जाती है, और जब उसका अस्तित्व कायम रहता है तो कालांतर में अनुकूल परिस्थितियां पाकर वह पुनः पनप जाती हैं। छठे आरे में राजा-प्रजा नहीं रहते। शास्त्र, सिद्धांत आदि नहीं रहते। प्रकृतिगत सारी सुंदरता नष्ट हो जाती है। पर्वत, नदी, गांव, नगर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि सब समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य बिलों में रहने लगते हैं। सहस्रों वर्षों तक यही स्थिति रहती है। उसके बाद लोग बिलों से निकलते हैं और मिलजुलकर सोचते हैं कि हमारे जीवन का क्रम बिगड़ गया है। हम क्रूर हत्यारे बन गए हैं। यह हमारे लिए शोभनीय नहीं है। अब भविष्य के लिए हमें नए सिरे से सोचना चाहिए। काफी चिंतन-मनन के पश्चात अग्रोक्त बातें सामूहिक रूप में स्वीकृत की जाती हैं–

- हम मांस नही खाएंगे।
- छीना-झपटी नहीं करेंगे।
- क्रूरता नहीं करेंगे।
- संस्कृति की टूट-फूट का पुनः निर्माण करेंगे।

जागरूकता का मूल्य

यह बात मैंने प्रसंगवश बताई । हमारा मूल विषय था–साधक की सजगता और असजगता का। साधक के सामने कठिनाइयां, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां तो रहती हैं। इस स्थिति में यदि साधक सावधान नहीं रहता है, तो वह पग-पग पर पाप-बंधन कर सकता है। भगवान महावीर ने कहा–**उड्ढं सोता अहे सोता तिरियं सोता**..... भावार्थ यह है कि पाप-बंधन के स्रोत लोक में सर्वत्र खुले हैं। साधक कहीं क्यों न चला जाए, यदि वह अपने-आपमें जागरूक नहीं है तो पाप का बंधन कर लेगा। इसलिए साधना की सफलता का पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है–जागरूकता। साधक कहीं रहे, किसी स्थिति में रहे, पर क्षण-क्षण जागरूक रहे। अपने आत्मोदय का लक्ष्य क्षण-भर के लिए भी विस्मृत न करे। यदि इस क्रम से वह आगे बढ़ता है तो एक दिन निस्संदेह अपने लक्ष्य में सफल होता है।

शरीर उपकारी है

यहां एक बात समझने की है। हालांकि साधक का लक्ष्य आत्मविकास होता है, तथापि वह शरीर से बंधा हुआ होता है। ऐसी स्थिति में जब तक वह शरीर से पूर्णतया मुक्त नहीं होता, तब तक आत्मोदय के चरम शिखर पर नहीं पहुंचता। इसलिए उसे शरीर को एक-न-एक दिन छोड़ना आवश्यक है, पर यह अंतिम स्थिति है। प्रारंभिक भूमिकाओं में शरीर बंधन होते हुए भी उसके लिए बहुत उपयोगी है, साधना में सहयोगी है, उपकारी है। साधक उसी से तो विभिन्न प्रकार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना-क्रियाएं करता है। इसलिए उसकी हिफाजत रखना भी उसके लिए आवश्यक है।

अनशन है मरने की कला

जब साधक को यह महसूस होने लगे कि मेरा शरीर साधना में सहयोगी नहीं रहा है, वह बाधक बन रहा है, भारभूत बन रहा है, तब उसका पोषण करना बंद कर दे, उसकी हिफाजत छोड़ दे। इस क्रम से शरीर स्वयं छूट जाएगा। जैन-दर्शन में शरीर छोड़ने की यह प्रक्रिया *अनशन* के नाम से प्रसिद्ध है। अनशनपूर्वक शरीर छोड़ने को जैन-दर्शन में बहुत महत्त्व दिया गया है। एक दृष्टि से यह मरने की कला है। मैं मानता हूं, अंतिम रूप से शरीर से मुक्त होना, विदेह होना तो परम उपलब्धि और परम सौभाग्य की बात है ही, अनशनपूर्वक शरीर का परित्याग करना, मृत्यु का वरण करना भी कम महत्त्व की बात नहीं है। *उत्तराध्ययन* सूत्र में अनशन का सविस्तार वर्णन उपलब्ध है।

आदर्श और व्यवहार

साधक के सामने विदेह होने का लक्ष्य होता है। साधक यह लक्ष्य सामने रखकर ही साधना करता है। वैसे यह आदर्श की बात है, हर साधक वहां तक नहीं पहुंच पाता, पर कोई पहुंच पाए या न पहुंच पाए, आदर्श सदा आदर्श ही है। किसी के वहां तक न पहुंच पाने के कारण उसे नीचे नहीं लाया जा सकता। यह जैन-धर्म की ही बात नहीं है, बल्कि सभी धर्मों में आदर्श ऊंचे ही रखे गए हैं। *बाइबिल* में क्राइस्ट कहते हैं–'कोई तुम्हें मारे, पीटे, काटे तो भी तुम्हारा यह अधिकार नहीं है कि तुम उसके प्रतिकार में कुछ भी बोलो।' *गीता* में कहा गया है–**आत्मना युद्धस्व।** अर्थात आत्मा के साथ युद्ध करो। भगवान महावीर ने कहा है–'सभी तुम्हारे मित्र हैं। किसी को अपना दुश्मन मत समझो।' इसी प्रकार और-और धर्मों और महापुरुषों ने भी ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की बातें बताई हैं।

यह बहुत स्पष्ट है कि सब लोग आदर्श तक नहीं पहुंच पाते। यदि सभी वहां तक पहुंच जाएं तो वह आदर्श ही क्या! इसी प्रकार कोई व्यक्ति जहां तक न पहुंच सके, वह भी कैसा आदर्श! आदर्श वही है, जो साध्य तो है, पर किसी-किसी के लिए है। सबके लिए व्यवहार का तत्त्व है। व्यवहार सभी निभा सकते हैं। उसे आधार मानकर सब चल सकते हैं। व्यवहार के मार्ग पर चलता-चलता व्यक्ति आदर्श तक भी पहुंच सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरणार्थ–वीतराग बनना हमारा आदर्श है। उसे ही लक्ष्य के रूप में सामने रखकर हम साधना करते हैं। बावजूद इसके, हमारी साधना का आधार व्यवहार ही है। पूर्ण वीतरागता की स्थिति ग्यारहवें से चौदहवें तक के गुणस्थानों की है। पर छठे और सातवें गुणस्थानों में भी वीतरागता की आंशिक साधना तो की ही जा सकती है, बल्कि इनसे नीचे के स्थानों में भी आंशिक साधना हो सकती है।

आत्म-विकास का क्रम

साधना की दृष्टि से हम नीचे से चलें तो सबसे पहले सुलभबोधि होना आवश्यक है। उसके पश्चात सम्यग्दृष्टि का क्रम आता है। तदनंतर व्रती, महाव्रती बनने की भूमिकाएं हैं। अंत में वीतरागता की भूमिका आती है। प्रकारांतर से हम कहें तो आत्म-विकास का क्रम इस प्रकार होगा–सबसे पहले तत्त्व सुनना आवश्यक है। सुनने के बाद जानने और पहचानने की बात आती है। उसके पश्चात हेय को छोड़ना तथा उपादेय को ग्रहण करना अपेक्षित है। फिर संयम का और अंत में निवृत्ति का क्रम आता है।

कुछ लोग सीधे निवृत्ति की बात करते हैं। हालांकि निवृत्ति की बात अनुचित नहीं है, तथापि साधक सीधा निवृत्ति की भूमिका में कैसे पहुंच सकता है? व्यावहारिक मार्ग यह है कि वह प्रारंभ सत्प्रवृत्ति से करे। सत्प्रवृत्ति करते-करते एक दिन निवृत्ति की भूमिका स्वयं आ जाएगी। किसी से मैत्री हो जाने के पश्चात उसके साथ वैर कैसे टिकेगा? इसी प्रकार पहले सत्प्रवृत्ति-संवलित निवृत्ति होती है और अंत में सर्वथा निवृत्ति/अक्रियता की स्थिति बन जाती है। उस स्थिति में बोलना, चलना, लेटना, बैठना, खाना, पीना, अक्षिस्फुरणा·····और यहां तक कि सांस लेना भी बंद हो जाता है। इसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में साधक की आत्मा मेरु की तरह अडोल हो जाती है। फिर उसकी मुक्ति होते विशेष समय नहीं लगता।

बंधुओ! विकास का यह क्रम देखकर मैं मुग्ध हूं! सचमुच ऐसा सुंदर और व्यावहारिक क्रम बतलाकर भगवान महावीर ने हमारा परम उपकार किया है। यह ऐसा राजपथ है, जिस पर चलनेवाले के लिए कहीं कोई भटकाव-अटकाव का खतरा नहीं है।

नोहर, २३ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३ : स्वयं की उपासना

परमात्म-उपासना का उद्देश्य

यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमं ततः।
अहमेव मयोपास्यः, नान्यः कश्चिदितिस्थितिः॥

लोग परमात्मा को बड़ा मानते हैं, पर मैं तो स्वयं को ही बड़ा मानता हूं। इसलिए स्वयं की उपासना को ही महत्त्व देता हूं कि पर स्वयं की उपासना धूप, दीप, संगीत और भजनों से नहीं होती। यह तो महज औपचारिक बात है। उपासना का वास्तविक स्वरूप है—**उप सामीप्येन आसना=उपासना।** जिसे पाने की चाह है, उसके निकट जाने का नाम है उपासना। व्यक्ति किसके निकट जाए? यहां मनुष्य ने एक भूल की है। अपना सामीप्य छोड़कर वह विजातीय तत्त्वों को अपना मानता है। विजातीय तत्त्व आगंतुक होते हैं। हम उन्हें अपना क्यों मानें? आज मैं यहां आया हूं। सिरसा के लोग मुझे अपना मानते हैं तो भूल करते हैं। मैं तो राही हूं। राही को स्थायी मान लेना क्या भूल नहीं है?

आपका प्रश्न हो सकता है कि क्या व्यक्ति को परमात्मा को पाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए; संतों की उपासना नहीं साधनी चाहिए। बंधुओ! परमात्मा को पाने की चेष्टा करने की मनाही मैं कब करता हूं? संतों की उपासना करने का निषेध कब करता हूं? वस्तुतः परमात्मा को पाने का प्रयत्न करने और संतों का सान्निध्य साधने का उद्देश्य स्वयं की उपासना ही है, स्वयं को पाना ही है। मूलतः हमारी ज्योति और सुषमा तो हमें प्राप्त ही है। केवल उसे पहचानने की अपेक्षा है। परमात्मा को पाने का प्रयत्न या संतों की उपासना उसी की पहचान के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है। इस पुरुषार्थ से व्यक्ति को अपना आत्म-स्वरूप पहचानने के उद्देश्य की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

यदि यह प्रेरणा नहीं मिलती है, अपनी पहचान नहीं होती है तो कहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने की, किसी की उपासना करने की बात की फिर कोई सार्थकता सिद्ध नही होती। इस दृष्टि से **अहमेव मयोपास्यः** का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है।

क्या है अपना

व्यक्ति का अपना क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यों ने कहा है– 'ज्ञान, श्रद्धा और आचार ही निजी संपत्ति है।' अतः इन्हें पाने का प्रयास होना चाहिए। इस तथ्य को पुष्ट करते हुए संत कबीर ने लिखा है–

ज्यों तिल मांहि तैल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा सांई तुज्झ में, तू जागि सके तो जागि॥

व्यक्ति जग जाए तो भगवान भी जग जाता है और व्यक्ति सो जाए तो भगवान भी सो जाता है। इसलिए मैं अपने-आपके निकट जाने का प्रयास कर रहा हूं। दुनिया में वह स्वार्थी कहलाता है, जो स्वहित देखता है। लेकिन आत्म-जगत में अपने निकट जाने का अर्थ है–परमार्थी होना। स्वार्थ वह होता है, जिसमें स्वयं का हित और दूसरों का अहित हो। स्वहित के साथ औरों का अहित न हो, वह परमार्थ ही होता है।

.....तब बगावत क्यों नहीं होगी

परंतु परमार्थ को बहुत थोड़े लोग पहचानते हैं। अधिकतर लोग स्वार्थ को ही जीते हैं। स्वार्थ के कारण ही संसार में अनेक प्रकार की बुराइयां पैदा होती हैं। और बातें तो हम छोड़ें, स्वार्थी लोगों ने धर्म को भी बहुत महंगा बना दिया है। आज धर्म चंद पूंजीपतियों की संपत्ति बन रहा है। लोगों ने समझा, धन के बिना धर्म नहीं मिलता। जिसके पास धन है, वह भगवान को खरीद सकता है; मंदिर, मठ, स्थानक और गुरुद्वारा बना सकता है। मेरे मन में आया कि यदि धर्म महंगा हो जाएगा, सुख-सुविधाएं चंद लोगों को ही मिलेंगी तो बगावत क्यों नहीं होगी। इसलिए धर्म को सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बना देना चाहिए। धर्म के लिए निर्धन-धनवान, हरिजन-महाजन आदि का सवाल नहीं होना चाहिए।

पूंजीपति शराबी हैं!

मुझे तो लगता है कि अमीरों की अपेक्षा गरीबों के जीवन में धर्म अधिक उतरा हुआ है। लोग कहते हैं कि पूंजीपति सुखी होते हैं, लेकिन पूंजीपति तो शराबी हैं। मेरा यह कथन एक कटु सत्य है, पर आप बुरा न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानें। मैं यह बात एक कवि के कथन के आधार पर कह रहा हूं–

प्रमदा मदिरा लक्ष्मीः, विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
दृष्टैवोन्मादयत्येका, पीता चान्यातिसञ्चयात्।।

कवि ने शराब तीन प्रकार की बताई है–स्त्री, मदिरा और धन। स्त्री देखने मात्र से व्यक्ति को उन्मत्त बना देती है। कहा तो यह जाता है कि स्त्री अबला होती है, पर उसके सामने तो बड़े-बड़े लोग परास्त हो जाते हैं। कहा गया है–

- **एक कंचन दूजी कामिनी, ए दो मोटी खाड़।**
  राजा राणा बादशाह, पड़-पड़ फोड्या हाड़।।
- **एक कंचन दूजी कामिनी, दो मोटी तलवार।**
  जाता था प्रभु मिलन को, दिया बीच में मार।।

दूसरी मदिरा पीने की होती है। उसे पीकर व्यक्ति बेभान हो जाता है। तीसरे प्रकार की मदिरा है–लक्ष्मी। यह तिजोरी में पड़ी-पड़ी ही आदमी को पागल बना देती है।

इस परिभाषा के अनुसार सभी पूंजीपति शराबी हैं। और वे निर्धन भी इस उपाधि के उपयुक्त हैं, जो धन न होने पर भी उसकी लालसा में आसक्त रहते हैं। इसी के समानांतर वे अरबपति भी शराबी नहीं हैं, जो लक्ष्मी-संपन्न तो हैं, पर उसके साथ उनका कोई लगाव नहीं है। अतः पूंजीपति व्यक्ति धन के द्रष्टा बनकर रहें। गांधीजी के शब्दों में वे संपत्ति के ट्रस्टी रहें तो कोई हानि नहीं होगी।

पूंजीवाद : साम्यवाद : अपरिग्रह

आज यदि जनता के सामने साम्यवाद का सूत्र आ जाए तो वह पूंजीपतियों को बुरा लगेगा और पूंजीवाद का सिद्धांत साम्यवादियों को अच्छा नहीं लगता। मेरा सिद्धांत है अपरिग्रह का। वह दोनों को ही अच्छा नहीं लगेगा। वस्तुतः परिग्रह तिजोरी में नहीं, बल्कि अपनी वृत्तियों में है, मन की आसक्ति में है। जिसके मन में आसक्ति नहीं है, वही सही माने में अपरिग्रही है। अतः मेरी दृष्टि में अमीरी और गरीबी–दोनों ही तत्त्व उपादेय नहीं हैं। उपादेय तत्त्व है–अनासक्ति। उसका विकास होने से ही हित सध सकता है।

धर्म और धन

आज आसक्ति बढ़ती जा रही है और धर्म संपत्तिशाली लोगों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निधि बनता जा रहा है। हमने धर्म को अमीरों के यहां से निकालकर गरीबों तक पहुंचाया, सर्व-सुलभ बनाया। जिन्हें मंदिरों में जाने का अधिकार नहीं था, उन्हें हमने अपने यहां आने का पूरा अधिकार दिया। यदि ऐसा मान लिया जाए कि धन से ही धर्म खरीदा जाता है तो सर्वथा अकिंचन होने के कारण क्या सबसे पहले धर्म से वंचित हम ही नहीं रहेंगे ?

धर्म और जीवन-व्यवहार

वास्तव में धर्म होता है तन, मन और आचार से। धन के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। धर्मस्थानों के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। धर्म का शाश्वत संबंध है धार्मिक से। यदि उसके जीवन-व्यवहार में धर्म नहीं है तो उसका क्या उपयोग है? *गीता, वेद, पुराण, धम्मपद, आगम* आदि ग्रंथों में धर्म की सुंदर-सुंदर परिभाषाएं हैं, पर उसे जीवन में न उतारें तो उसका क्या लाभ है?

धर्म और सौदेबाजी

आम लोगों में एक भ्रांत धारणा है कि व्यक्ति बाजार में बैठकर जो पाप करता है, वह पाप धर्मस्थान में जाने मात्र से धुल जाता है। इस संदर्भ में आप वास्तविकता पर ध्यान दें। यह तो संभव है कि धर्मस्थान में जाने के बाद पुनः पाप न करने का संकल्प ले लिया जाए तो अलबत्ता जीवन हलका हो जाता है, लेकिन व्यक्ति धर्म के साथ सौदा करना चाहता है, यह कहां तक उचित है? अब तक जो पाप किया, वह आज खत्म हो जाएगा और आगे जो पाप होगा, उसे फिर खत्म कर लेंगे, यह सौदा है। व्यापारी-वर्ग इस माने में बहुत होशियार है। वह कहता है—

बातां साटै हर मिलै तो म्हानें भी कहीज्यो।
माथां साटै हर मिलै तो छाना-माना रहीज्यो॥

यह सौदे की वृत्ति जब तक नहीं मिटेगी, तब तक सही मानी में धर्म व्यवहार्य नहीं बन सकेगा।

पाप क्यों नही मिटा

अभी-अभी हमारे सामने एक प्रश्न उठाया गया कि भारत में अनेक महापुरुष पैदा हुए, यहां धर्म की गंगा बही, फिर भी पाप क्यों नहीं मिटा। मैं जहां तक सोचता हूं, ऐसा कोई देश नहीं है, जहां कोई महापुरुष पैदा नहीं हुए हों। अलबत्ता भारत को ज्यादा महापुरुष पैदा करने का सौभाग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिला है, लेकिन यहां आदर्श की बातें जितनी अधिक हुईं, व्यवहार में उतनी ही कम रह गईं, जबकि दूसरे-दूसरे देशों में आदर्श को व्यवहार्य अधिक बनाया गया।

यहां का एक छोटा बच्चा भी **एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति**—यह दार्शनिक परिचर्चा बड़े चाव से करता है। कल मैं माधोसिंघाना में था। वहां जमींदार औरतें आकर बैठ गईं और बोलीं—'हम तो आपको अपनाती हैं पर आप हमको भूल मत जाना। हमने आपको गुरु बनाया है तो आप हमारे घर तो पवित्र कर दीजिए।' बहिनों के अनुरोध पर मैं ग्राम के घरों में गया। मैंने पूछा—'क्या ये घर आपके हैं?' मेरे इस प्रश्न के उत्तर में उन बहिनों ने कहा—'घर हमारे किसके हैं, घर तो भगवान के हैं। हम तो भगवान के चलाए चलती हैं।' उनके मुंह से *पुराण, गीता, गायत्री* आदि के वाक्य सुनकर तो मैं दंग रह गया। मेरे मन में संवेदना जगी—भारत का जन-जन दार्शनिक है। पर वह अपनी फिलॉसफी को जीवन-व्यवहार में नहीं लाता है।

मैं जहां तक सोचता हूं, इस कमी के कारण धर्माधिकारी लोग हैं। उन्होंने कहा कि घरेलू धंधों में से थोड़ा समय बचाकर धार्मिक क्रिया करो। इससे पाप हलके हो जाते हैं। अतः लोगों में आम अवधारणा हो गई—

- अठावन घड़ी पाप की तो दो घड़ी आपकी।
- अठावन घड़ी घर की तो दो घड़ी हर की।

यद्यपि यह बात सिखाने का मकसद दूसरा था, पर सुननेवाले इतनी गहराई में कब उतरते हैं? इसी लिए आज धर्म और जीवन-व्यवहार दोनों परस्पर विरोधी दिशाओं में जा रहे हैं।

एक बड़ी भूल धर्माधिकारियों ने यह की कि उन्होंने धर्म का सही रूप जनता के सामने नहीं रखा। यदि सही तत्त्व सामने आता तो जनता स्वयं उसका मूल्य आंकती। कहा जाता है कि आज के बौद्धिक-वर्ग में धर्म के प्रति अनास्था है, लेकिन मैं मानता हूं कि इस अनास्था का कारण जितना बुद्धिवाद नहीं है, उतना धर्मांधता है, धर्माधिकारियों की संकीर्ण वृत्ति है। इसे मिटाने के लिए धर्म के क्षेत्र में क्रांति की अपेक्षा है।

धर्म और संप्रदाय

इस संदर्भ में विचार व्यक्त करते हुए मैंने नोहर में कहा था कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज सबको मजहब की चिंता है, धर्म की नहीं। जैन, सनातन, बौद्ध, सिक्ख.....की संख्या बढ़े, यह सोचा जाता है, लेकिन धर्म के विकास के बारे में सोचनेवाले बहुत कम हैं। मूलतः चिंतन का विषय होना चाहिए धर्म। मजहब तो धर्म के पीछे चलते हैं। मजहब बल्बों के समान हैं, जो कि सीमित दायरे में प्रकाश करते हैं। धर्म सूर्य के समान है। उसके आलोक में सारा संसार आलोकित हो जाता है।

यद्यपि संप्रदाय बुरे नहीं होते, पर मूल को भूलकर संप्रदायों का पोषण करना बहुत बड़ी भूल है। मेरी समझ है कि मजहब की बातें करेंगे तो नतीजा अच्छा नहीं होगा, क्योंकि प्रबुद्ध मानस संकीर्णता की बातें सुनना पसंद नहीं करता। यदि हम अपना दायरा संकीर्ण रखेंगे तो हिंदू-मुसलमानों की तरह दूसरे-दूसरे धर्म-संप्रदायों में भी परस्पर संघर्ष की स्थिति बन सकती है।

हिंदू : भारतीय का वाचक

हिंदू शब्द के संदर्भ में मेरे सामने कई बार प्रश्न आता है। मैं मानता हूं कि हिंदू शब्द को वैदिक धर्म के साथ जोड़कर संकीर्ण बना दिया गया है। इसलिए करोड़ों मुसलमान इसके विपक्ष में खड़े हैं। यदि हिंदू शब्द को भौगोलिक परिवेश के साथ जोड़ा जाता है, इसका अर्थ भारतीय किया जाता है तो जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई और करोड़ों मुसलमान भी अपने-आपको हिंदू कहेंगे। पर लोगों ने मजहब को महत्त्व देकर मूल तत्त्व भुला दिया। यही वजह है कि इस नाम पर अनेक विवाद खड़े हो रहे हैं।

धर्म विकसित हो रहा है

सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो धर्म के क्षेत्र में आज भी भारत पीछे नहीं है। आज भी यहां धर्म का निखरा रूप देखने का मिलता है। वैसे पापाचरण इस कलियुग में हुआ है, हो रहा है, पर सत्युग में नहीं हुआ, ऐसी बात भी नहीं है। और ऐसा भी कहूं तो कठिनाई नहीं कि सत्युग में जैसा पापाचरण हुआ, वैसा शायद आज नहीं होता है। राजा रावण-जैसा व्यक्ति आज नहीं मिलेगा, जिसने कि राम की पत्नी सीता का अपहरण करने का दुस्साहस किया था। मुझे तो लगता है कि कई दृष्टियों से आज विकास अच्छा हो रहा है। सह-अस्तित्व की भावना पनप रही है। रूस और अमेरिका एक स्थान पर बैठकर बातचीत कर रहे हैं। यह धर्म के विकास का पुष्ट प्रमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तु, यदि धर्म को व्यवहार में लाने का प्रयास किया जाए तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। आज लोग विश्व-सरकार बनाने की बात सोच रहे हैं। यह काम हो सकेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता, पर विश्व-धर्म हो सकता है। आचार को प्रधान मानकर मानव-धर्म की बात करें तो इस कार्य में सफलता मिल सकती है। अणुव्रत आचारप्रधान धर्म है, इसलिए वह मानव-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होता चला जा रहा है। सभी जाति, वर्ग, संप्रदाय के लोग इसे समान रूप से मान्य कर रहे हैं। मैं मानता हूं, धर्म का आचार-पक्ष ही उसका मूल है। **अहमेव मयोपास्यः** की बात मैंने प्रारंभ में कही थी। उसका भावार्थ धर्म की आराधना ही है। इस आराधना से हम अपने आत्म-स्वरूप से परिचित हो सकेंगे, परमात्म-स्वरूप से परिचित हो सकेंगे। जिस क्षण हमें यह उपलब्धि होगी, वह हमारे जीवन का सर्वाधिक मूल्यवान क्षण होगा।

सिरसा

२६ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४ : आत्मा : महात्मा : परमात्मा

शांति की चाह सार्वजनीन है

सिरसा में कल से अध्यात्म की धारा बह रही है। उसमें प्रवाहित होने के लिए जनता में उत्साह है। मुझे लगता है कि जनता बहुत भूखी-प्यासी है। लोग कहते हैं कि देश में अनाज की भूख है और पानी की प्यास है, लेकिन मैं तो अनुभव कर रहा हूं कि रोटी-पानी की भूख-प्यास की अपेक्षा शांति की भूख-प्यास ज्यादा है।

कई व्यक्ति कहते हैं कि जनता में धर्म के प्रति आकर्षण नहीं है, पर मुझे यह बात यथार्थ नहीं लगती। मुझे तो लगता है कि जिस विचार या तत्त्व से जनता की शांति की भूख-प्यास मिटती है, उसके प्रति उसका आकर्षण है, फिर भले वह धर्म हो या और कुछ।

पर कठिनाई यह है कि जनता की यह भूख-प्यास समझनेवाले लोग बहुत कम हैं। जो इसे समझते हैं, उनमें से भी अधिकतर अपने स्वार्थ से घिरे हैं। उनका सारा प्रयत्न अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए होता है। शांति की प्राप्ति की दिशा में जनता का पथ-दर्शन करने में उनकी कोई अभिरुचि नहीं है। इस स्थिति में जनता की यह भूख-प्यास शांत हो भी कैसे? हां, कुछ-एक व्यक्ति ऐसे हैं, जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। वे अपना आत्म-धर्म मानकर जनता का सही पथ-दर्शन करते हैं, उसकी भूख-प्यास शांत करते हैं। ऐसे व्यक्ति सचमुच जनता के बहुत बड़े उपकारी होते हैं।

मोक्ष ही शांति है

शांति का सर्वोच्च शिखर है—मोक्ष। यह एक ऐसी स्थिति है, जहां अशांति का नाम भी अवशेष नहीं रहता। व्यक्ति जितना-जितना मोक्ष के नजदीक पहुंचता है, उस-उस सीमा तक वह शांति की अनुभूति करता है। जितना अधिक वह मोक्ष से दूर रहता है, उसे उतनी ही अधिक अशांति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अनुभूति होती है। इस अपेक्षा से यह कहा जा सकता है कि मोक्ष ही शांति है, पर मोक्ष यों ही तो नहीं मिल जाता। वहां तक पहुंचने के लिए एक यात्रा करनी होती है; और जब यात्रा करनी होती है, तब उसके लिए मार्ग की सही-सही जानकारी भी अपेक्षित है। जनता ऐसा मार्ग चाहती है, जिस पर चलने में कोई कठिनाई न हो। कठिनाई के नाम से वह घबराती है। यदि बिना कठिनाई कोई मार्ग मिल जाए तो शायद ही कोई व्यक्ति मोक्ष से वंचित रहना चाहेगा, लेकिन जहां कठिनाई झेलने का प्रसंग आता है, वहां वह कह देता है कि ऐसा मोक्ष मुझे नहीं चाहिए।

सेठ के यहां खाती काम करता था। वह दिन-भर खूब श्रम करता। सेठ भी उसे खाने के लिए अच्छा और पर्याप्त भोजन देता। एक दिन शाम के समय खाती भोजन कर रहा था। उस समय उसी घर में काम करनेवाला एक चमार वहां पहुंचा गया। खाती की थाली में परोसा हुआ भोजन देखकर उसके मुंह में पानी भर आया और सोचने लगा कि काश! मैं भी खाती होता।

संयोग से दूसरे दिन जब वह चमार सेठ के घर पहुंचा, तब खाती लक्कड़ फाड़ रहा था। उसका सारा शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था। सांस फूल रही थी। यह श्रम और यह शारीरिक स्थिति देखकर वह चमार कतरा गया और बोला—

देखूं खाती जीमतो, हूं पिण खाती होऊं।
देखूं लक्कड़ फाड़तो, तो डूम को डूम ही रेऊं।।

आज संसार की भी यही स्थिति है। मोक्ष पाने के लिए सबको उत्कंठा है, लेकिन जब यह बताया जाता है कि मोक्ष सीधा नहीं मिलता, उसके लिए कड़ी साधना की अपेक्षा है, तब अधिकतर व्यक्ति घबरा जाते हैं। वे अपना मन कमजोर कर लेते हैं, आगे बढ़ने का साहस नहीं जुटा पाते। हां, कुछ-एक व्यक्ति ऐसे अवश्य होते हैं, जो कठिन-से-कठिन मार्ग पर चलकर भी मोक्ष पाने के लिए दृढ़ संकल्पित होते हैंऔर एक-एक कदम आगे बढ़ते हुए एक दिन लक्ष्य तक पहुंच जाते हैं।

मोक्ष का मार्ग

पूछा जा सकता है कि मोक्ष का मार्ग कौन-सा है। मोक्ष के लिए तीन बातों की जरूरत है। पहले व्यक्ति तत्त्वज्ञ बने। सत्य का ज्ञान होने के बाद अपना दृष्टिकोण सम्यक बनाए। फिर लक्ष्य स्थिर करके वहां तक पहुंचने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रयास करे। इन तीनों के बिना कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं होता, मोक्ष नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में कहूं तो सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चारित्र का समन्वित रूप ही मोक्षमार्ग है। जैन-दर्शन में इन तीनों तत्त्वों का विशद विवेचन प्राप्त है। इनकी आराधना करनेवाला सहज रूप से जीवन की पवित्रता और शांति को प्राप्त होता है।

ज्ञान का मूल्य

बहुत-से व्यक्ति अज्ञान से नष्ट हो जाते हैं। उन्हें पता नहीं होता कि किस क्रिया की क्या प्रतिक्रिया होती है। इसलिए अज्ञान को अनिष्टकर बताया गया। अज्ञान मिटाने के लिए ज्ञानीजनों का संपर्क आवश्यक है। उनके संपर्क के बिना ज्ञान होना बहुत कठिन है। बिना ज्ञान आस्था नहीं जमती और उसके बिना आचरण सम्यक नहीं हो सकता। अतः अच्छे और बुरे का ज्ञान करना नितांत अपेक्षित है।

अच्छाई और बुराई दोनों ज्ञेय हैं

बहुत-से लोगों का चिंतन है कि हमें तो केवल अच्छाई जाननी चाहिए, बुराई का ज्ञान करने की कोई अपेक्षा नहीं है। मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि बुराई का ज्ञान किए बिना वे अच्छे और बुरे का विवेक कैसे कर सकेंगे, कैसे तो बुराई का परित्याग कर सकेंगे और कैसे अच्छाई का संग्रहण कर सकेंगे। हम अहिंसा की बात करते हैं, किंतु हम यदि हिंसा को जानेंगे ही नहीं, तो हिंसा से उपरत कैसे हो सकेंगे? फिर हिंसा से उपरत हुए बिना अहिंसा की साधना कैसे संभव हो सकेगी? आप असत्य से बचना चाहते हैं, पर जब तक आपको असत्य की पहचान ही नहीं है, तब तक आप उससे कैसे बच पाएंगे? सत्य की साधना कैसे कर सकेंगे? किसी को देशी घी खरीदना है। वह बाजार जाता है। अब यदि उसे डालडा की पहचान ही नहीं तो बहुत संभव है कि वह धोखा खा जाएगा। देशी घी के स्थान पर डालडा लेकर घर पहुंच जाएगा। इसलिए मैंने कहा कि अच्छे और बुरे दोनों तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित है। इस ज्ञान के पश्चात ही हेय के परित्याग और उपादेय के स्वीकरण की बात शुरू होती है।

स्वयं को जानें

ज्ञान की जहां बात है, वहां सबसे महत्त्वपूर्ण है स्वयं को जानना। आप कहेंगे कि स्वयं को कौन नहीं जानता। मैं कहता हूं, स्वयं को जाननेवाला कोई विरला ही मिलेगा। संसार के अधिकतर प्राणी स्वयं से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिचित हैं। आदमी दुनिया के कोने-कोने की जानकारी कर लेता है, नक्षत्र-तारों की गति का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर लेता है, सागर की अतल गहराई तक पहुंच जाता है, फिर भी स्वयं से अनजान रह जाता है। 'मैं त्रैकालिक आत्मा की सत्ता हूं, अतीत में था और भविष्य में भी रहूंगा'— इस तथ्य से परिचित होना स्वयं को जानना है। यह आत्मस्वरूप का ज्ञान ही परमात्मस्वरूप का ज्ञान है। आत्मस्वरूप की पहचान के बिना व्यक्ति अपना परमात्मस्वरूप नहीं पहचान सकता। यह कैसी विडंबना है कि व्यक्ति परमात्मा से तो मिलना चाहता है, पर स्वयं के अस्तित्व से अनभिज्ञ रहता है!

रामकृष्ण परमहंस द्वारा अंतर्बोध

रामकृष्ण परमहंस के पास एक व्यक्ति आया। नमस्कार करके निवेदन की भाषा में बोला—'महात्माजी ! आप पहुंचे हुए योगी हैं। मैंने सुना है कि आपको प्रभु के साक्षात दर्शन होते हैं। मेरे पर भी अनुग्रह करें। एक बार मुझे भी प्रभु से मिला दें। भगवान के दर्शन से मेरी जिंदगी सफल हो जाएगी।' रामकृष्ण परमहंस ने कहा—'तुम्हारी इतनी भावना है तो मैं प्रयत्न करूंगा। ऐसा करो कि तुम अपना पता मुझे दे दो। जब-कभी अवसर आएगा, मैं तुम्हें भगवान से मिला दूंगा।'

रामकृष्ण की बात सुनकर वह व्यक्ति अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने तत्काल अपनी जेब से कागज निकाला,कलम निकाली और पता लिखने लगा। उसने अभी एक-दो अक्षर ही लिखे थे कि रामकृष्ण ने सजग करते हुए कहा—'देखो, पता स्थायी होना चाहिए, कभी जरूरत पड़ सकती है।' वह व्यक्ति बोला—'महात्माजी! मैं स्थायी पता ही लिखकर आपको दे रहा हूं।' ऐसा कहकर उसने अपना पता लिखकर रामकृष्ण के हाथ में कागज थमा दिया। रामकृष्ण ने एक क्षण के लिए कागज पर दृष्टि डाली और पूछा—'क्यों, यह तुम्हारा बिलकुल स्थायी पता है ना?' वह व्यक्ति बोला—'हां, महाराज! बिलकुल स्थायी पता है। आपके मन में संदेह क्यों पैदा हो रहा है?' रामकृष्ण ने कहा—'संदेह की बात नहीं है, पर यह काम ही कुछ इस ढंग का है। भगवान से मिलनेवाले को अपना बिल्कुल स्थायी पता देना होता है। यदि पता स्थायी नहीं होता है तो भगवान से मिलने की भावना साकार नहीं हो सकती!.....अच्छा, तुम सदा इस पते पर मिलते तो हो?' वह व्यक्ति बोला—'हां, लगभग इस पते पर मैं मिल जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हूं। बस, दिन में दुकान जाता हूं, उतने समय नहीं मिलता।' रामकृष्ण ने कहा–'मैंने कहा ना, अपना बिलकुल स्थायी पता लिख कर दो, किसी समय भगवान के यहां से मिलने का संदेश मिल सकता है।' इस बार उस व्यक्ति ने अपनी दुकान का पता उस कागज पर और लिख दिया। रामकृष्ण ने कागज देखकर वही प्रश्न दुहराया–'यह तो तुम्हारा स्थायी पता है ना?' वह व्यक्ति बोला–'हां, ये दोनों मेरे स्थायी पते हैं। इन दोनों स्थानों में से किसी एक स्थान पर मैं अवश्य मिलता हूं। केवल कभी-कभार विशेष प्रयोजनवश अपने गांव जाना पड़ता है, तब यहां नहीं मिलता।' रामकृष्ण ने जरा तेज स्वर में कहा–'तब स्थायी पता कहां हुआ? मैं तो वह स्थायी पता चाहता हूं, जहां तुम प्रतिक्षण मिल सको।'

इस प्रकार उस व्यक्ति ने जितनी बार अपना पता लिख कर दिया, रामकृष्ण ने उसे स्थायी पते के रूप में स्वीकार नहीं किया। वे स्थायी पते के इस क्रम में इस जन्म से पहले का और मृत्यु के बाद का पता भी पूछने लगे। वह व्यक्ति बोला–'महात्माजी ! यह मैं कैसे बता सकता हूं! यह तो बहुत कठिन काम है।' छूटते ही रामकृष्ण ने कहा–'यह कठिन है तो क्या भगवान से मिलना सहज है? जब तुम स्वयं को ही नहीं जानते, अपना अस्तित्व ही नहीं पहचानते, तब भगवान को कैसे जानोगे; उससे कैसे मिल सकोगे? यदि भगवान से मिलना है, उसके दर्शन करने हैं तो पहले स्वयं से मिलो, स्वयं के दर्शन करो। स्वयं की पहचान ही तुम्हें प्रभु की पहचान करा सकेगी।'

आत्मा ही परमात्मा है

उस व्यक्ति को अंतर्बोध मिला। उसकी परमात्म-दर्शन की भावना आत्म-दर्शन की भावना में ढल गई। बंधुओ! आप भी यदि परमात्मा के दर्शन करना चाहते हैं, तो यह हृदयंगम कर लें कि आपको आत्मदर्शन करना होगा, स्वयं को जानना होगा, स्वयं का अस्तित्व पहचानना होगा। जिस दिन आप इस शिखर पर पहुंच जाएंगे, फिर परमात्म-दर्शन की आपकी ललक स्वयं पूरी हो जाएगी। उसके लिए आपको कोई अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना होगा, कोई अतिरिक्त तपस्या और साधना नहीं करनी होगी; और बहुत सही तो यह कहना होगा कि आत्मा का अनावृत रूप ही परमात्मा है। हर आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में परमात्मा है। आप जिस दिन, जिस क्षण अपना वह चैतन्यस्वरूप जानने लगेंगे, उसे प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाएंगे, उस दिन स्वयं परमात्मा बन जाएंगे।

परमात्मा का स्वरूप

कुछ लोग मुझसे पूछते हैं कि परमात्मा है या नहीं। आपमें से भी किसी के मन में ऐसी जिज्ञासा या संदेह हो तो वह आपने-आपको समाहित कर ले। परमात्मा है, निश्चय ही है, पर वह कोई एक सत्ताविशेष नहीं है। हर आत्मा ही अपने शुद्ध ज्ञानदर्शनमय स्वरूप में परमात्मा है। जब तक यह शुद्ध रूप कर्मों से आवृत रहता है, तब तक वह आत्मा कहलाता है; और जब त्याग-तपस्या के द्वारा कर्मों का आवरण दूर कर दिया जाता है, उस दिन वह परमात्म-रूप प्रकट हो जाता है। इस क्रम से आज तक अनंत-अनंत परमात्मा हो चुके हैं और भविष्य में अनंतकाल तक परमात्मा होने का क्रम चलता रहेगा। आप भी प्रयत्न करें कि आपके कर्मों का आवरण क्षीण हो। हालांकि अनंतकालीन कर्मों का आवरण तोड़ना कोई सामान्य बात नहीं है, वह दीर्घकालीन साधना-सापेक्ष है, फिर भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। जिस सीमा तक आप वह आवरण दूर हटाते हैं, उस सीमा तक तो आप परमात्मा बन ही जाते हैं, उस शिखर की उतनी चढ़ाई तो पूरी कर ही लेते हैं।

महात्मा की पहचान

हां, तो आत्मा संसार के सामान्य प्राणी को कहते हैं। परमात्मा उसकी विशुद्ध अवस्था का नाम है। इन दोनों के बीच एक अवस्था और है और वह है—महात्मा। महात्मा वह होता है, जो सामान्य प्राणी की जीवन-शैली से ऊपर उठकर विशिष्ट जीवन-शैली से जीता है, परमात्मा बनने की दिशा में सलक्ष्य प्रयाण कर देता है। व्यवहार में उसकी पहली पहचान है—उदारवृत्ति। उदारवृत्ति का तात्पर्य है कि सबको अपनी आत्मा के तुल्य समझना। सामान्य आदमी की चिंतन-धारा संकीर्ण होती है। वह आत्मतुला के सिद्धांत को व्यवहार्य नहीं कर पाता। कवि ने कहा है—

अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥

— जो अपने और पराए की भेदरेखा बनाकर चलते हैं, वे संकीर्ण चित्तवाले होते हैं। जिनका चित्त उदार है, वे सारी जगती को ही अपना कुटुंब-कबीला समझते हैं।

महात्मा के उदार हृदय से सदा यह ध्वनि निकलती है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

वे सबके मंगल व कल्याण की कामना करते हैं। किसी प्राणी का अमंगल नहीं चाहते, अकल्याण नहीं चाहते। किसी को दुखी देखना नहीं चाहते। वस्तुतः जहां व्यक्ति के स्व का इतना विस्तार हो जाता है कि वह सभी को अपना देखने लगता है, आत्मतुल्य समझने लगता है, वहां किसी व्यक्तिविशेष के प्रति अकल्याण की भावना वह कर भी नहीं सकता। मूलतः अकल्याण का उत्स पराएपन की भावना है। जहां बीज ही नहीं है, वहां वृक्ष कैसे उगेगा? फिर जहां किसी के प्रति पराएपन की भावना ही नहीं है, वहां किसी के प्रति अपनेपन–ममत्व की बात भी नहीं होती।

हम संत लोग हैं। हम लोग रजोहरण, पात्र, चद्दर आदि कई प्रकार के उपकरण अपने पास रखते हैं, पर इनके लिए कोई साधु यह नहीं कह सकता कि ये मेरे हैं। ऐसा कहना दोषपूर्ण है। निर्दोष भाषा है–'ये चीजें मेरे काम आती हैं या ये चीजें मेरी निश्रा में हैं।' *दशवैकालिक* सूत्र में कहा गया है–**अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं**–शरीर भी जब हमारा नहीं है, तब दूसरी वस्तुएं तो हमारी होंगी ही कैसे? शरीर से हम जुड़े हुए अवश्य हैं, पर तत्त्वतः शरीर हमारा नहीं है। मात्र शरीर का हम उपयोग कर रहे हैं। प्राचीनकाल में बड़े घरों में धायमाता रखी जाती थी। आजकल भी किसी-किसी घर में होती है। वह बच्चे को खिलाती है, पिलाती है, नहलाती है.....उसके सारे कार्य करती है। पर मन में अच्छी तरह से समझती है कि बच्चा मेरा नहीं है। मैं मात्र इसकी प्रतिपालना कर रही हूं। ठीक यही बात हम साधुओं की है। चूंकि शरीर हमारी साधना में सहयोगी है, इसलिए हम इसे उपयोग में लेते हैं, इसकी सार-संभाल करते हैं, इसे पोषण देते हैं, पर निश्चय में शरीर हमारा नहीं है, इसलिए इस पर हमारा ममत्व नहीं होना चाहिए।

बंधुओ! यह ममत्व ही संसार में परिभ्रमण का मूल कारण है। शब्दांतर से हम कह सकते हैं कि ममत्व संसार है, अनासक्ति मोक्ष है। जितना-जितना व्यक्ति अनासक्त बनता जाता है, उतना-उतना वह मोक्ष के नजदीक पहुंचता जाता है। यह आसक्ति ही व्यक्ति के महात्मा और परमात्मा बनने में सबसे बड़ी बाधा है। छोटा आदमी आसक्ति में फंसा रहता है, इसलिए संकीर्णता की बात करता है। और तो और, वह भगवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भी संकीर्ण दायरे में कैद करके रखना चाहता है।

मेरे पैर उधर कर दो.....

गुरु नानकदेव लेट रहे थे। थोड़ी ही दूर पर मस्जिद थी। नानकदेव का उधर ध्यान नहीं गया। सहसा मौलवीसाहब उधर आ गए। नानकदेव को लेटे देख आक्रोशपूर्ण शब्दावली में बोले–'कैसा बेहुदा आदमी है, जो खुदा की ओर पैर करके लेटा है! जल्दी उठाओ इसे। मस्जिद के सामने कैसे लेटना चाहिए, इस बात की भी इसे तमीज नहीं है।'

नानकदेव के कानों में शब्द पड़े। वे हड़बड़ाकर उठे और अत्यंत शांतभाव से बोले–'मौलवीसाहब ! इतने नाराज क्यों हो रहे हैं? ऐसी क्या गुस्ताखी हो गई मेरे से ?'

मौलवीसाहब ने उसी आक्रोशपूर्ण भावधारा में कहा–'तुम्हें इतना भी खयाल नहीं कि मस्जिद की ओर पैर करके नहीं लेटना चाहिए। मस्जिद खुदा का स्थान है। खुदा की तरफ पैर करना भयंकर गुस्ताखी है।'

बंधुओ! क्या आप जानते हैं कि नानकदेव ने क्या कहा? उन्होंने कहा–'मौलवीसाहब! सचमुच खुदा की तरफ पैर करके मैंने भूल की है। मुझे ज्ञान नहीं है कि खुदा कहां-कहां रहता है। अब कृपया आप मेरे पांव उस ओर कर दें, जिस ओर खुदा न हो।'

सुनते ही मौलवीसाहब के **कान हाथ में आ गए।** अब तक उन्होंने खुदा को मस्जिद की संकीर्ण चारदीवारी में कैद कर रखा था, पर आज उन्हें पहली बार खयाल आया कि खुदा तो सर्वत्र है। ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं, इधर-उधर.....जहां देखो, वहां खुदा ही खुदा है। ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसी कोई दिशा नही, जो खुदा से शून्य हो।

बंधुओ! यह संकीर्णता किसी स्तर पर क्यों न हो, इससे व्यक्ति की अपनी तुच्छता ही प्रकट होती है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति संकीर्णता से मुक्त होता जाता है, उसका स्व विस्तीर्ण होता चला जाता है। संकीर्णता छोड़ना और स्व को विस्तार देना ही महात्मा बनने की प्रक्रिया है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति महात्मा बनने की दिशा में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका जीवन विकसित होता चला जाता है। इस क्रम में एक दिन ऐसा भी आता है, जब वह विकास के चरम शिखर पर पहुंच जाता है। यानी वह महात्मा से आगे परमात्मा बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थ : विकास का आधार

मैं मानता हूं, पुरुषार्थ वह तत्त्व है, जो न केवल अध्यात्म के क्षेत्र में, अपितु जीवन के हर क्षेत्र में विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार है। संसार में जो लोग सफलता की ऊंचाइयां छू पाए हैं, उनकी कहानी वस्तुतः पुरुषार्थ की ही कहानी है, पर मैं देखता हूं कि आज का मानव यह पुरुषार्थ का तत्त्व भूलकर यंत्रों का दास बन रहा है, पंगु बन रहा है। पहले लोग दस-पंद्रह मील पैदल चल लेते थे। पर आजकल तो लोग दो मील दूरी तय करने के लिए दो घंटे बस की प्रतीक्षा कर लेते हैं। कुएं की मोटर खराब हो गई तो प्यास से अकुलाते रहते हैं, पर कुएं से पानी खींचकर निकालने का श्रम नहीं करते। यह श्रमपराङ्मुखता जीवन के लिए अभिशाप साबित हो रही है। इसके कारण राष्ट्र के विकास में बहुत बड़ी बाधा पैदा हो रही है।

भारत गरीब नहीं है!

पिछले दिनों मैं डाबड़ी में था। सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाशनारायण वहां आए। किसानों की एक विशाल सभा को उन्होंने संबोधित किया। अपने वक्तव्य के अंतर्गत उन्होंने कहा–'हम लोग विदेशी लोगों को गांवों में ले जाते हैं। एक बार ऐसा ही प्रसंग था। कुछ विदेशी लोगों ने मेरे साथ ग्रामों की यात्रा की। गांवों को देखने के बाद वे बोले–*हमने तो सुना था कि भारतवर्ष में गरीबी है, पर यह बात गलत है। हम अपनी इस धारणा में संशोधन कर रहे हैं कि भारतवर्ष में अर्थाभाव है।* मैंने पूछा–*आपके ऐसा कहने का आधार क्या है?* उन्होंने कहा–*जिस देश के लोग गरीब हों, वे क्या कभी* **हाथ पर हाथ धरकर बैठ सकते हैं?** *हम देख रहे हैं, यहां सैकड़ों-सैकड़ों लोग काम के समय बैठकर बातें बनाते हैं।* मैंने कहा–*यहां काम की कमी है। बहुत-से मजदूरों को कोई काम नहीं मिलता, इसलिए वे निकम्मे रहते हैं।* उन्होंने मेरी बात का प्रतिवाद करते हुए कहा–*नहीं, यह बात सही नहीं है। हम देख रहे हैं कि खेतों की जमीन ऊबड़-खाबड़ पड़ी है, पानी के नल टूटे पड़े हैं, जगह-जगह गंदगी के ढेर लगे हुए हैं।..... फिर हम कैसे मान लें कि लोगों को काम नहीं मिलता? हमारे देश में तो कोई श्रमिक निकम्मा नहीं रहता। वस्तुतः खाने-पीने और सोने का समय छोड़कर शेष समय में सतत परिश्रम करनेवालों का देश ही समृद्ध बन सकता है, निकम्मे बैठनेवालों का नहीं। काम के समय भी*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकम्मे बैठकर बातें करनेवालों को देखकर ही हमारे मन में यह विचार आया कि यहां की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है, अन्यथा लोग निकम्मे क्यों रहते। उनके तर्क के समक्ष मैं निरुत्तर था।'

श्रम करना जरूरी है

हम लोग साधु हैं। ढाणी-ढाणी, गांव-गांव, शहर-शहर पैदल घूमकर जनता को धर्म का संदेश सुनाते हैं। हमारे इस पैदल भ्रमण को देखकर बहुत-से लोग हमसे प्रार्थना के स्वर में कहते हैं—'यह कठिन तपस्या आप छोड़ दें। आजकल वाहनों की कमी तो है नहीं, फिर बेकार पैदल यात्रा का कष्ट क्यों उठाते हैं?' उनकी प्रार्थना सुनकर मैं कहता हूं—'हमारा शारीरिक श्रम देखकर आपको दुःख होता है, यह व्यामोह है। जब हमें काम करना है, फिर शारीरिक श्रम तो करना ही होगा। उससे कतराने से या बचने की चेष्टा करने से हम काम कैसे कर सकेंगे? यह श्रम करना तो जरूरी है। इसमें कष्ट होता है तो भले हो। उसे सहना हमारा आत्मधर्म है।'

आज प्रायः लोगों की स्थिति यह है कि वे शारीरिक श्रम से जी चुराते हैं। उनकी मानसिकता बाबू बनने की है, टेबुल-कुर्सी तोड़ने की है, हुकूमत करने की है। एक व्यक्ति प्रतिदिन चर्च में जाता और ईशु से प्रार्थना करता—'महाप्रभो! मैं जनता की सेवा करना चाहता हूं। इसलिए मेहरबानी करके ऐसा वरदान दें, जिससे मैं सेवा के कार्य में जुट जाऊं।' चर्च के पादरी ने उसकी बात सुनी। एक दिन वह उस व्यक्ति के पास आया और उससे उसने कहा—'बोलो कि क्या चाहते हो।' वह व्यक्ति बोला—'सेवा करना चाहता हूं।' पादरी ने कहा—'देखो, महाप्रभु यीशु ने मेरे माध्यम से कहलवाया है कि चर्च में कूड़ा बहुत है और तुम्हारी सेवा करने की तीव्र भावना है। अतः तुम तीन दिनों में चर्च साफ कर दो।'

पादरी के निदेशानुसार वह व्यक्ति चर्च की सफाई के काम में लग गया। चौथे दिन पादरी ने देखा कि चर्च बिलकुल साफ है, पर वह व्यक्ति महाप्रभु से प्रार्थना कर रहा है कि मुझे सेवा का वरदान दें, पर यह झाड़ू लगाने की सेवा का नहीं। मुझे तो हुकूमत करने की सेवा मिलनी चाहिए।

बंधुओ! मैं मानता हूं कि यह श्रम से जी चुराने की मनोवृत्ति बहुत घातक है। इससे न केवल व्यक्ति की शक्तियां कुंठित हो जाती हैं, बल्कि उसका जीवन भी स्वयं के लिए भारभूत-सा बन जाता है। ऐसी स्थिति में सुख और शांति की अनुभूति का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यह कैसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचित्र स्थिति है कि व्यक्ति सुख और शांति की चाह तो रखता है, पर कदम उलटे रास्ते पर बढ़ाता है! यदि सुख और शांति से जीवन जीने की चाह है तो उसे इस मनोवृत्ति का परित्याग करके श्रम को महत्त्व देना होगा।

आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने की बात मैंने कही। परमात्मा बनने की बात जितनी आकर्षक है, उतनी आसान नहीं। इसके लिए सतत पुरुषार्थ करने की अपेक्षा होती है। जो व्यक्ति सतत पुरुषार्थ करता रहता है, उसकी कदापि हार नहीं होती। वह देर-सवेर अपने अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति में निश्चय ही सफल होता है। आज तक अनंत-अनंत प्राणियों ने सही दिशा में अपना पुरुषार्थ नियोजित कर परमात्म-पद प्राप्त किया है। आपका भी यह सौभाग्य जाग सकता है। बस, आप दृढ़ निश्चय के साथ अपनी पुरुषार्थ-चेतना जाग्रत करें।

सिरसा

२७ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५ : मुक्ति का मार्ग

सुख या दुःख-मुक्ति इस संसार का सर्वाधिक प्रिय शब्द है। इसका कारण है। संसार का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। दुःख सबको अप्रिय है। इसी लिए व्यक्ति जैसे-तैसे दुःख से छूटने का प्रयत्न करता है। हालांकि चाहने मात्र से सभी प्राणियों की दुःख-मुक्ति नहीं होती, सब सुखी नहीं होते, तथापि इतना तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि सुख-प्राप्ति हर हृदय की चाह है।

सुख के दो प्रकार हैं। पहले प्रकार का सुख सांसारिक है। यानी प्राणी खाने, पीने, भोग-विलास आदि में एक प्रकार की सुखानुभूति करता है, पर यह सुख निर्विघ्न नहीं है। इसमें स्थायित्व नहीं है। यह कालांतर में दुःख में परिणत हो सकता है। दूसरा सुख आत्मिक सुख कहलाता है। दर्शन में इसे मोक्षसुख की संज्ञा दी गई है। शास्त्रों में मोक्षसुख की विस्तृत चर्चा है। यह सुख निर्विघ्न है, शाश्वत है। इस सुख को उपलब्ध हो जाने के पश्चात प्राणी के लिए कुछ भी उपलब्ध करना शेष नहीं रहता। ऐसा सुख भला कौन नहीं चाहता? हालांकि बहुत-से लोग परमात्मा से अनुराग नहीं करते, उसके प्रति श्रद्धा नहीं करते, तथापि निर्विघ्न और शाश्वत सुख की आकांक्षा उनकी भी रहती है।

दुःख-मुक्ति के उपाय

पूछा जा सकता है कि यह निर्विघ्न सुख कैसे प्राप्त किया जाए। इस संदर्भ में आचार्यों ने हमारा मार्ग-दर्शन किया है—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य॥

गुरुवृद्ध की सेवा दुःख-मुक्ति का पहला मार्ग है। हर व्यक्ति स्वयंबुद्ध नहीं होता, इसलिए गुरु के पथ-दर्शन की अपेक्षा रहती है। वृद्ध चार प्रकार के होते हैं—वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, अनुभववृद्ध और विद्यावृद्ध। वयोवृद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तियों के अनुभव बहुत गहरे होते हैं। वय परिणत होने पर पारिणामिकी बुद्धि का भी विकास हो जाता है। अतः गुरुवृद्धों की सेवा करने से दुःखों से छुटकारा हो सकता है।

दूसरी बात है–अज्ञानियों के संसर्ग से दूर रहना। अज्ञानी व्यक्ति दिग्मूढ़ होते हैं। वे स्वयं तो पतित होते ही हैं, दूसरों को भी लक्ष्य से भटका देते हैं। प्राचीन ग्रंथों में एक श्लोक पढ़ने को मिलता है–

बालसखित्वमकारणहास्यं, स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति॥

– मूर्ख से मैत्री, अकारण हंसी, स्त्रियों के साथ विवाद, असज्जन की सेवा, गधे की सवारी, अशिष्ट वाणी–इन छह बातों से व्यक्ति लघुता को प्राप्त हो जाता है।

आप देखें, इनमें एक कारण अज्ञानी के साथ मित्रता या उसका संसर्ग माना गया है।

तीसरा मार्ग है–स्वाध्याय। जिस स्वाध्याय से जीवन-पथ प्रशस्त हो, उसका अनुशीलन करना चाहिए। आज पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ी है। अखबार पढ़ना तो आम बात हो गई है, पर यह स्वाध्याय नहीं है। स्वाध्याय आत्मा की खुराक है, स्वयं की आत्मा का अध्ययन है, आत्मदर्शन का साधन है। इसलिए ऐसे साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए, जो हमें आत्मा की खुराक दे सके, आत्मा के दर्शन करा सके।

चौथा उपाय है–एकांतवास। एकांतवास का अर्थ है–मन, वाणी और शरीर को एकांत में रखना। मोक्षार्थी रात-दिन बुरे वातावरण में रहे तो साधना में बाधा पैदा हो जाती है, इसलिए एकांतवास का बड़ा महत्त्व है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए बताई गई नव बाड़ों में पहली बाड़ है–एकांत निसेवना। जिन साधकों ने गहरी साधना की, उन्होंने एकांतवास भी किया।

एकांत निसेवना का एक अर्थ ध्यान भी है। स्वाध्याय और ध्यान में अंतर रहता है। स्वाध्याय चिंतन-मननप्रधान होता है। उसमें एकाग्रता सधने पर भी किसी-न-किसी रूप में व्यग्रता बनी रहती है। हालांकि ध्यान का भी प्रारंभिक बिंदु एकाग्र चिंतन होता है, अतः वहां भी व्यग्रता रहती है, तथापि उसकी चरम स्थिति में व्यक्ति विचारशून्यता की अवस्था में पहुंच जाता है। वहां व्यग्रता नाम का कोई तत्त्व नहीं रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचवां मार्ग है—सूत्र और अर्थ का चिंतन करना। सूत्र संक्षिप्त होता है, अर्थ विस्तृत होता है। सूत्र का एक-एक शब्द लेकर उसकी अर्थयात्रा की गहराई में उतरनेवाला अपने निकट पहुंच जाता है। आत्म-सान्निध्य का यह सीधा राजपथ है।

अंतिम मार्ग है—धृति। अधीर बननेवाला अपने लक्ष्य से भटक जाता है। उपासना, सेवा और तपस्या में अधीर बननेवाला साधना का परिणाम नहीं देख सकता। अधैर्य न केवल मोक्ष में बाधक है, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में बाधक है। वैज्ञानिक लोग कितना धैर्य रखते हैं! चंद्रलोक की बातें सुनते-सुनते पचासों वर्ष हो गए हैं। तीस वर्ष तक तो इस बात का मखौल ही हुआ। अब भी वे पहुंचे नहीं हैं, तथापि बड़ी लगन से काम कर रहे हैं। मैं सोचता हूं कि इतना धैर्य आत्मा को खोजने में रखा जाए तो संभवतः केवलज्ञान हो जाए।

प्राचीनकाल में ऋषि-महर्षि लंबे समय तक साधना करते थे। भगवान महावीर ने संकल्प किया कि जब तक केवलज्ञान नहीं मिलेगा, तब तक जीवित शरीर का व्युत्सर्ग करूंगा। गौतम बुद्ध ने संकल्प किया कि जब तक बोधिलाभ नहीं होगा, तब तक यह स्थान नहीं छोड़ूंगा।

दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ये मार्ग हैं। दृढ़ आस्था के साथ इन पर चलनेवाला ऐकांतिक और आत्यंतिक सुख प्राप्त करता है। ऐकांतिक का अर्थ है—जिसमें विघ्न न हो। आत्यंतिक यानी जिसका अंत न हो। ऐसा असीम सुख ही मोक्ष है। यह बहुत बड़ा आदर्श है, परम आदर्श है। यहां तक पहुंचने के लिए और भी कई भूमिकाएं पार करना आवश्यक है। वे भूमिकाएं अग्रोक्त हैं—

● मार्गानुसारी ● श्रद्धालु ● व्रती ● महाव्रती ● अप्रमत्त ● अवेदी ● अकषायी—वीतराग ● केवली ● अयोगी।

उपर्युक्त भूमिकाएं क्रमशः पार करता हुआ व्यक्ति मोक्ष तक पहुंच सकता है, सांसारिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

कदम-कदम बढ़े चलें

बंधुओ! मंजिल हमारी सुनिश्चित है। मार्ग-दर्शन हमें तीर्थंकरों-आचार्यों द्वारा प्राप्त है। अब चलने का काम हमारा और आपका है। यहां यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मंजिल कितनी दूर है। यह प्रश्न भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मार्ग सीधा है या टेढ़ा। प्रश्न यह महत्त्वपूर्ण है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि कौन कितने दृढ़ निश्चय के साथ मंजिल की दिशा में सतत कदम बढ़ाता है। दृढ़ निश्चय के साथ मंजिल की दिशा में सतत उठनेवाले कदम मंजिल की हर दूरी मापने में सक्षम होते हैं। वे हर सीधे-टेढ़े मार्ग को पार करके ही सुस्ताते हैं। इसलिए हम कदम-कदम बढ़े चलें। हमारी सफलता अवश्यंभावी है।

सिरसा

२८ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६ : संतोषी : परमसुखी

साधक वह होता है, जो धर्म की आराधना करता है। प्रश्न होता है कि धर्म की आराधना का परिणाम क्या है। कुछ लोग धन-वैभव, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि को धर्माराधना का परिणाम मानते हैं, पर मेरे विचार में इन सब चीजों की प्राप्ति धर्माराधना का वास्तविक परिणाम नहीं है। यह प्राप्ति तो आनुषंगिक परिणाम है। जो लोग धन-वैभव आदि को धर्माराधना का परिणाम मानते हैं, वे मेरी दृष्टि में बहुत बड़ी भूल करते हैं। धर्माराधना का परिणाम है–शांति या संतोष। जिस दिन व्यक्ति को संतोष मिल जाता है, उस दिन दूसरे सभी प्रकार के धन धूल के समान हो जाते हैं। कवि ने कहा है–

गोधन गजधन वाजिधन, और रतनधन खान।
जब आए संतोषधन, सब धन धूलि समान।।

गहराई से देखा जाए तो वास्तविक धन संतोष ही है, पर वह कोई बाहर से प्राप्त होनेवाला तत्त्व नहीं है। यह तो अपनी आत्मा में होता है, अपनी वृत्ति से संबद्ध रहता है। जहां एक व्यक्ति लाखों-करोड़ों की संपत्ति के बावजूद धन बटोरने के लिए बेतहाशा दौड़ता रहता है, वहीं दूसरा व्यक्ति कल के खाने-पीने की भी चिंता नहीं करता, उसके लिए संग्रह नहीं करता। यह व्यक्ति-व्यक्ति की वृत्ति के अंतर का परिणाम है।

यहां यह बात भी समझ लेने की है कि पदार्थसापेक्ष सुख या तृप्ति भी एक सरीखी नहीं होती। जिस पदार्थ को प्राप्त करके अथवा उसका उपभोग करके एक व्यक्ति तृप्ति का अनुभव करता है, उसी पदार्थ की प्राप्ति और उपभोग की स्थिति में दूसरा व्यक्ति तृप्ति की अनुभूति नहीं भी करता। वह उसे सर्वथा अरुचिकर और अप्रिय लगता है। एक भीलनी मोतियों के आभूषण छोड़कर गुंजाओं के आभूषण पहनती है। कारण यही तो है कि उसे मोतियों के आभूषण आनंद नहीं देते, गुंजाओं के आभूषण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनंद देते हैं। इसी लिए तो कवि ने कहा है–

यथा किराती करिकुम्भजातां, मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्।

तत्त्वतः कोई पदार्थ अपने-आपमें तृप्तिदायी या अतृप्तिदायी कुछ भी नहीं होता। वह तो अपने गुण-धर्म में अवस्थित रहता है। यह तो व्यक्ति की अपनी दृष्टि या वृत्ति है, जो उसे तृप्तिदायी बना देती है, अनुकूल और प्रतिकूल बना देती है। दूसरे वृक्ष वर्षा के पानी से हरे-भरे हो जाते हैं, पर आक वृक्ष के पत्ते वर्षा होने पर झड़ जाते हैं, इसी लिए बादलों को संबोधित करते हुए आक वृक्ष कहते हैं–

त्वयि वर्षति पर्जन्य! सर्वे पल्लविताः द्रुमाः।
अस्माकमर्कवृक्षाणां, पूर्वपत्रेऽपि संशयः॥

बंधुओ! आप यह बात हृदयंगम करें कि पदार्थ की अनुकूलता और प्रतिकूलता सबके लिए समान नहीं हो सकती। इस स्थिति में सुख से जीने का मार्ग यही है कि व्यक्ति संतोष की वृत्ति बढ़ाए। जहां संतोषवृत्ति विकसित हो जाती है, वहां प्रतिकूल पदार्थों से घिरा रहकर भी व्यक्ति दुखी नहीं होता। इसके विपरीत अनुकूलताओं से घिरा रहकर भी व्यक्ति तृप्त नहीं हो सकता, यदि उसके मन में संतोष नहीं है। इसलिए कहा गया–संतोषी परमसुखी।

सिरसा
२८ फरवरी १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७ : जैन-धर्म और अहिंसा

'धर्म' संसार के बहुचर्चित शब्दों में से एक है। आज अनेक धर्म हमारे सामने हैं। लोगों की मनोवृत्ति यह है कि वे अपने-अपने धर्म को सबसे प्राचीन स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। मेरे से भी कई बार पूछा जाता है कि सबसे प्राचीन धर्म कौन-सा है। जैन-तीर्थंकरों के समक्ष भी संभवतः यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। इसके समाधान में उन्होंने यह नहीं कहा कि जैन-धर्म सबसे प्राचीन है। फिर उन्होंने क्या कहा? उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा—**सव्वे पाणा ण हंतव्वा—एस धम्मे धुए णियए सासए।** अर्थात किसी प्राणी का हनन मत करो—यह अहिंसा धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत है।

यदि गहराई से देखा जाए तो धर्म के साथ पुराने और नए के विशेषण जोड़ना गलत है। वास्तव में धर्म पुराना और नया होता ही नहीं। वह तो एक त्रैकालिक सत्य है। नए और पुराने होते हैं संप्रदाय। संप्रदाय धर्म की सुरक्षा और प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से खड़े होते हैं। यहां गंभीरता से समझने की बात यह है कि अहिंसा आदि धर्म के मौलिक तत्त्वों के साथ उनका कोई सीधा संबंध नहीं है।

हिंसा के तीन प्रकार

जहां अहिंसा की बात आती है, वहां हिंसा की बात स्वतः आ जाती है। अहिंसा हिंसा के अभाव का ही नाम है। हिंसा से उपरत होना ही तो अहिंसा है। हिंसा का नाम आते ही लोगों का ध्यान सीधा प्राण-वध की ओर जाता है। मैं मानता हूं, प्राण-वध निश्चित रूप से हिंसा है, पर मात्र प्राण-वध हिंसा नहीं है। यह तो हिंसा का एक रूप है, कायिक हिंसा है। जैन-तीर्थंकरों ने कायिक हिंसा से आगे वाचिक हिंसा और मानसिक हिंसा का भी सविस्तार विवेचन किया है। उन्होंने कहा कि मारने की तरह ही किसी को अपशब्द कहना भी हिंसा है, उसके प्रति दुश्चिंतन करना भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा है। इसलिए उन्होंने कायिक, वाचिक और मानसिक–तीनों प्रकार की हिंसा से बचने का उपदेश दिया।

हिंसा : हिंसा का परिणाम

हिंसा के संदर्भ में एक बात और समझ लेने की है। जीव के मरने से उसका कोई सीधा संबंध नहीं है। वह तो हिंसा का एक परिणाम है। परिणाम के आधार पर हिंसा का निर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिणाम कभी सामने आता है और कभी नहीं भी आता। एक पक्षी वृक्ष की शाखा पर बैठा था। शिकारी आया और उसने निशाना साधकर गोली चला दी, पर गोली उसके लगती, उससे पूर्व ही वह उड़ गया। परिणामतः वह मरा नहीं, पर इसके बावजूद हम ऐसा नहीं कह सकते कि शिकारी को हिंसा का पाप नहीं हुआ। मूलतः हिंसा का सीधा संबंध व्यक्ति की वृत्ति से है, उसके व्यवहार और आचरण से है। एक वाक्य में कहा जाए तो व्यक्ति की दुष्प्रवृत्ति हिंसा है। वह दुष्प्रवृत्ति मन के स्तर पर हो सकती है, वचन के स्तर पर हो सकती है और काया के स्तर पर भी हो सकती है। यदि व्यक्ति किसी स्तर पर दुष्प्रवृत्ति करता है तो वह हिंसा है, चाहे परिणाम के रूप में वह किसी को दिखाई दे या न भी दे।

अहिंसा : अहिंसा का परिणाम

अहिंसा के संदर्भ में भी यह बात है। जीव का बचना अहिंसा नहीं है। वह तो अहिंसा का परिणाम है। अहिंसा है सब जीवों के प्रति संयम करना; मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों से उपरत होना। आप उदाहरण से समझें। एक व्यक्ति ने उपवास का प्रत्याख्यान किया। भोजन पहले से बना हुआ था। इस स्थिति में उसके हिस्से का भोजन बच गया, पर यह भोजन बचना धर्म नहीं है। धर्म है उसका उपवास करना, भोजन का परित्याग करना। भोजन का बचना तो इस उपवास का प्रासंगिक परिणाम है। ठीक यही बात अहिंसा के बारे में जाननी चाहिए। जीव का बचना अहिंसा नहीं है। वह तो अहिंसा का परिणाम है। अहिंसा है–अपनी आत्मा को दुष्प्रवृत्तियों से बचाना, समस्त जीव-जगत के प्रति संयमित होना।

अहिंसा के दो रूप

अपने प्रवचनों में मैं हिंसा-अहिंसा की बार-बार चर्चा करता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका उद्देश्य यही है कि लोग हिंसा और अहिंसा की बात गहराई से समझें। यदि लोग तत्त्व ही नहीं समझेंगे तो हिंसा और अहिंसा का विवेक कैसे कर सकेंगे? कैसे तो हिंसा का परित्याग कर सकेंगे और कैसे अहिंसा का पथ स्वीकार कर सकेंगे? आपमें से कोई कह सकता है कि जैन-दर्शन की अहिंसा का पालन करना व्यक्ति के लिए संभाव्य नहीं है। यह तो जीते-जी मरने की-सी बात है। इस संदर्भ में मैं एक बात कहना चाहता हूं। जैन-दर्शन ने मन, वचन और काया से संपूर्ण हिंसा की विरति की जो बात कही है, वह अहिंसा का आदर्श रूप है। उस आदर्श को केवल वीतराग जी सकते हैं। हालांकि छद्मस्थ साधु-साध्वियां भी संपूर्ण अहिंसा का महाव्रत स्वीकार करते हैं, तथापि उसमें स्खलना की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। जहां-कहीं स्खलना होती है, उसका उन्हें प्रायश्चित्त स्वीकार करना होता है। अब रही गृहस्थों की बात। जैन-तीर्थंकर यह बात बहुत अच्छी तरह से जानते थे कि आदर्श तक कोई-कोई ही पहुंच सकता है। गृहस्थ अनेक प्रकार के पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों से बंधा हुआ होता है, इसलिए वह संपूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। चाहे-अनचाहे उसे अनेक प्रकार की हिंसक प्रवृत्तियां करनी ही होती हैं। अतः उन्होंने गृहस्थ समाज के लिए **अहिंसा अणुव्रत** की बात कही। यानी जिस हिंसा के बिना उसका काम चल सकता है, उस हिंसा से वह बचे। अनावश्यक हिंसा न करे। संकल्पजा हिंसा न करे। क्रूर न बने।.....मूलतः अहिंसा की पालना व्यक्ति-व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर करती है। मुझे यह बात स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं कि व्यक्ति-व्यक्ति की क्षमता अलग-अलग होती है। सब व्यक्तियों की क्षमता एक जैसी नहीं होती। इसलिए अहिंसा की पालना में तरतमता रहती है, पर मुझे यह बात उचित नहीं लगती कि अपनी क्षमता की कमी के कारण तत्त्व ही अस्वीकार कर दिया जाए। ऐसा करना व्यक्ति का अहं प्रकट करता है। 'मैं नहीं पहुंच सकता, फिर भी तत्त्व तो है ही'—यह बात व्यक्ति के ध्यान में तभी आ सकती है, जब स्वयं के अहं का विसर्जन किया जाए। वर्षों से चंद्रलोक में जाने की बात हो रही है। बावजूद इसके, वहां तक वही व्यक्ति पहुंच सकता है, जो सामग्रीसंपन्न है, सक्षम है। यही तो कारण है कि रूस और अमेरिका—ये दो ही राष्ट्र वहां तक पहुंचने का प्रयास कर रहे हैं, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि अन्य राष्ट्र चंद्रलोक में पहुंचने की बात अस्वीकार कर दें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैचारिक और मानसिक हिंसा

मैं मानता हूं, कायिक हिंसा से सर्वथा बचना किसी भी गृहस्थ के लिए असंभव है। गृहस्थी के पचासों ऐसे कार्य हैं, जिन्हें करना भी आवश्यक है और उनमें हिंसा भी प्रत्यक्ष है, पर वाचिक और मानसिक हिंसा से बहुत सहजता से बचा जा सकता है। वाचिक हिंसा का तात्पर्य तो आप समझते ही हैं। अपनी जबान से किसी को कटु शब्द कहना, गाली देना आदि इसके अंतर्गत हैं। इस हिंसा से व्यक्ति कई बार इतना बड़ा नुकसान उठा लेता है, जितना कायिक हिंसा से भी नहीं होता।

मानसिक हिंसा बहुत सूक्ष्म है, इसलिए इसे समझने में कठिनाई होती है, पर इसे समझना बहुत आवश्यक है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। वकील लोग वकालत करते हैं। वकालत में वे अपनी सलाह बेचते हैं। जहां थोड़ा पैसा अधिक मिलता है, वहीं अपने विचार घुमा देते हैं, सत्य को सूली पर चढ़ा देते हैं। इसी लिए कहा जाता है कि विचारों की भी वेश्यावृत्ति होती है। इसी प्रकार अपने प्रतिद्वंद्वी को हराने या नीचा दिखाने के बारे में सोचना भी मानसिक हिंसा है। विरोधी विचारों से समझौता करने में असमर्थ होकर व्यक्ति की हत्या कर देना बहुत ही जघन्यता की बात है। महात्मा गांधी और अमरीकी राष्ट्रपति केनेडी की हत्या का कारण कोई व्यक्तिगत लड़ाई नहीं था। विचारों के युद्ध में हारकर ही शायद यह अनुपादेय तरीका काम में लिया गया था।

इसी क्रम में दूसरों के विचार रौंदना या उन पर अपने विचार थोपना भी वैचारिक हिंसा है। तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने इस सिद्धांत को बहुत बारीकी से व्याख्यायित किया है। आप मांस नहीं खाते। उसे बहुत गलत समझते हैं। दूसरा एक व्यक्ति मांसाहारी है। इस स्थिति में आप उसे समझाने का प्रयास करते हैं, उसके मन में इस प्रवृत्ति के प्रति ग्लानि पैदा करके उसे छुड़ा देते हैं, निस्संदेह यह स्वस्थ तरीका है। पर आप उस पर जबरन अपने विचार थोपें, यह उचित नहीं है। यह प्रवृत्ति वैचारिक हिंसा की कोटि में आती है। इसी प्रकार मांसाहारी व्यक्ति से घृणा करना भी वैचारिक हिंसा है।

जैसाकि मैंने कहा, वैचारिक हिंसा का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। इस संदर्भ में कुछ बातें मैंने आज कही हैं। फिर कभी प्रसंग उपस्थित हुआ तो और भी बातें बताई जा सकती हैं। हर भाई-बहिन को चाहिए कि वह इन्हें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान से समझने का प्रयत्न करे, ताकि वह इस हिंसा से बच सके।

कुछ लोगों में जैन-धर्म के अहिंसा के सिद्धांत के प्रति एक बहुत बड़ी भ्रांति है। वे कहते हैं, चूंकि जैन-सिद्धांत सार्वजनिक कार्यों में पाप बताता है, इसलिए जैन लोग इनमें भाग नहीं लेते, सहयोग नहीं देते। मैं मानता हूं, यह जैन-धर्म पर एक प्रकार का गलत आरोप है। यह ठीक है कि जैन-धर्म अस्पताल, स्कूल, कुआं आदि के निर्माण को आत्मधर्म नहीं मानता, पर साथ ही गृहस्थ को इनके निर्माण के लिए खुला निषेध भी नहीं करता। इन सब प्रवृत्तियों को वह लोक-धर्म या कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता है। सामाजिक दायित्वों से बंधा कोई व्यक्ति इनसे कैसे बच सकता है? जैन-धर्म का निषेध इन्हें आत्म-धर्म मानकर करने के लिए है। अतः मात्र उन लोगों के लिए ये प्रवृत्तियां अकरणीय की सीमा में आती हैं, जो शुद्ध अध्यात्म की भूमिका में जीवन जीते हैं। जो लोग पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों से बंधे हुए हैं, उनके लिए यह सीमा नहीं है। वास्तविकता यह है कि कुछ कंजूसवृत्ति के लोग धन का ममत्व छोड़ नहीं पाते और बदनाम सिद्धांत को करते हैं। जैन-धर्म संग्रह को पाप कहता है, असंग्रह का उपदेश देता है, पर कंजूस व्यक्तियों को संग्रह के समय यह पाप की बात न जाने क्यों याद नहीं आती। यदि सचमुच ही उन्हें पाप का भय है तो वे संग्रह कैसे करेंगे? मैं नहीं समझता कि जब संग्रह के समय पाप की बात उनके ध्यान में नहीं आती, तब सार्वजनिक कार्यों के लिए धन देने के समय उसे बीच में क्यों लाया जाता है। वस्तुतः यह पाप का भय नहीं, बल्कि सिद्धांत की ओट में अपनी कंजूसवृत्ति की सुरक्षा की कोशिश है; उस पर औचित्य की मोहर लगाने का प्रयत्न है। मैं कहना चाहता हूं, यदि सचमुच ही उन्हें पाप का भय है तो वे संग्रह न करें। फिर कोई उनसे क्यों कर मांगेगा? लेकिन उनका संग्रह तो चलता रहता है। जब उस समय धर्म उन्हें रोक नहीं पाता तो व्यय के समय कैसे रोकेगा? मैं फिर कहना चाहता हूं कि धन के उचित व्यय के समय यदि कोई धर्म को बाधक तत्त्व के रूप में बीच में लाता है तो वह बहानेबाजी है, वृत्ति की अनुदारता है और धर्म को बदनाम करनेवाली हरकत है। वस्तुतः अनुदार व्यक्ति की मानसिकता ही कुछ ऐसी हो जाती है कि धन उसके लिए प्राणों से भी ज्यादा प्यारा हो जाता है।

एक व्यक्ति एक रुपया लेकर सौदा लेने के लिए बाजार गया। सौदा खरीदकर जब पैसे देने के लिए उसने मुट्ठी खोली तो देखा, रुपया पसीने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से भींग गया है। बस, उसकी कंजूसवृत्ति को अभिव्यक्त होने का मौका मिल गया। वह दुकानदार को संबोधित करके बोला–'भाई! मेरा रुपया बिछुड़ना नहीं चाहता। देखो, इसी लिए रो रहा है। अब मैं इसके टुकड़े कैसे कर दूं?'

मैं मानता हूं, सब व्यक्ति कंजूस और अनुदारवृत्तिवाले नहीं होते, पर कुछ-एक व्यक्तियों का गलत व्यवहार और आचरण भी पूरे वातावरण को दूषित बनाने का कारण बनता है। ऐसे व्यक्तियों को चाहिए कि वे अपनी वृत्ति बदलें। इससे न केवल धर्म बदनाम होने से बचेगा, बल्कि वे स्वयं भी बहुत लाभान्वित होंगे।

यथार्थ के धरातल पर कोई व्यक्ति यदि जैन-धर्म का अहिंसा का सिद्धांत समझने का प्रयास करे तो वह पाएगा कि यह सिद्धांत बहुत व्यापक और व्यावहारिक है। इसे स्वीकार करके चलनेवाले के सामने किसी प्रकार की उलझन या कठिनाई नहीं रहेगी। आज अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में यह सिद्धांत तेजी से प्रतिष्ठित होता जा रहा है। अपेक्षा है, जैन कहलानेवाले भाई-बहिन इसका मूल्य समझें और इसे जीवन-व्यवहार में उतारें। इससे उनके जीवन को एक नई दिशा मिल सकेगी।

सिरसा
१ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८ : जीवन की सफलता के दो आधार

सिरसा से हम चले और भटिंडा पहुंच गए। भटिंडा में हमारा यह प्रथम-प्रथम आगमन है। हमारे धर्मसंघ की दो शताब्दियां संपन्न हो गईं, पर धर्मसंघ के किसी आचार्य का यहां पदार्पण नहीं हुआ। कुछ वर्षों पूर्व हम सिरसा तक आए थे, पर भटिंडा नहीं आए। इस बार हमने सलक्ष्य यहां आने का निश्चय किया और मुझे प्रसन्नता है कि आज वह निश्चय क्रियान्वित हो गया है।

आप लोग जानते हैं कि जैन-मुनि पदयात्री होते हैं। पदयात्रा उनका जीवन-व्रत होता है। उनकी व्रज्या का उद्देश्य होता है—स्वयं की अध्यात्म-साधना करना। साथ-ही-साथ जन-साधारण को भी इस दिशा में मोड़ना उनका लक्ष्य होता है। यही उभयपक्षीय उद्देश्य लेकर हम गांव-गांव और शहर-शहर में परिभ्रमण करते हैं। इसी क्रम में आज हम आपके भटिंडा पहुंचे हैं।

कर्तव्य-निष्ठा का मूल्य

आप लोग पूछ सकते हैं कि आपके इस प्रयत्न से कितने लोग अध्यात्म की दिशा में प्रेरित हुए। बंधुओ! इस *कितने* की गणित में मेरा विश्वास नहीं है। मैं अपनी दृष्टि से कार्य करता हूं और इसी में मेरा विश्वास है। अलबत्ता यह जरूर मानता हूं कि जो व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठा के साथ कार्य करता है, वह निश्चित रूप में लाभान्वित होता है। जहां सफलता और श्रम-व्यय की भाषा में सोचा जाता है, वहां प्रायः निराशा ही व्यक्ति के हाथ लगती है।

आज राष्ट्र की जनता में कर्तव्य-निष्ठा की भावना घट रही है। उसके परिणाम हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं। राष्ट्र की जो उज्ज्वल छवि प्राचीन-काल में थी, वह धूमल हुई है, हो रही है। मुझे ऐसा कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि जब तक जनता में कर्तव्य-निष्ठा नहीं बढ़ती है, तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक वह अपना खोया हुआ गौरव प्राप्त नहीं कर सकती।

जननी और जन्मभूमि का गौरव

जिस समय राम ने रावण के साथ युद्ध करके विजय पाई और विजेता बनकर लंका आए तो लोगों ने सोचा कि राम रत्नों के कंगूरोंवाली इस सोने की लंका को अपनी राजधानी बनाएंगे। शायद लक्ष्मण ने भी कहा होगा कि अयोध्या तो अब खंडहर हो रही है, अतः यहीं अपनी राजधानी बना लें। पर राम का चिंतन इससे सर्वथा भिन्न रहा—

अपि स्वर्णमयी लंका, न मे लक्ष्मण! रोचते।
जननी-जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी।।

— लक्ष्मण! यह लंका स्वर्णमयी है, बहुत सुंदर है, फिर भी मुझे अच्छी नहीं लगती, क्योंकि जननी और जन्मभूमि को मैं स्वर्ग से भी अधिक महान मानता हूं। अतः अयोध्या को कभी नहीं भूल सकता।

यह बात सहस्रों वर्ष पूर्व वाल्मीकि ने रामायण में लिखी। भारतीय लोग अनुकरणप्रधान होते हैं। उन्होंने इस श्लोक के अंतिम दो पद पकड़ लिए और जननी-जन्मभूमि के गौरव के लिए बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, पर कैसी विडंबना है कि आज वे इन दोनों की दुर्दशा देख रहे हैं!

मातृजाति के प्रति अपना कर्तव्य लोग कहां तक निभा रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। कहने को तो वे यह कह देते हैं कि हमने तो मातृजाति को महत्त्व दिया है, इसीलिए तो पैंतालीस करोड़ जनता के नेतृत्व की बागडोर एक स्त्री (श्रीमती इंदिरा गांधी) के हाथों में सौंपी है, लेकिन मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या आज भी मातृजाति अंधपरंपराओं की जंजीरों में जकड़ी हुई नहीं है; उसकी मनोवृत्ति भीरु और गुलामी की नहीं है; उसमें शिक्षा, साहस और शौर्य की कमी नहीं है; क्या यही उसके प्रति कर्तव्य-निर्वहन हो रहा है। अनेक व्यक्ति बहिनों के प्रति अपमान-भरी बातें कहते हैं। कई लोग तो उनकी पिटाई भी कर देते हैं। **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः**—यह बात मात्र कहने के लिए रह गई है। यह स्थिति निराशाजनक है। यद्यपि मैं सभी क्षेत्रों में नारी और पुरुष की बराबरी की बात नहीं करता, तथापि यह आवश्यक मानता हूं कि नारी को विकास का पूरा अवसर और अधिकार मिले, उसकी विशेषताओं का सही-सही मूल्यांकन हो और उसके सम्मान की रक्षा की जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी बात है जन्मभूमि की। उसके प्रति जनता का क्या दायित्व है और वह उसे कहां तक निभा रही है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जन्मभूमि को आजाद बनाने के लिए राष्ट्र की जनता ने लंबा संघर्ष किया। खेती से इसे शस्यश्यामला भी बना दिया, पर इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कि इस पर चरित्रहीनता का कितना भार है। यह क्यों नहीं सोचा गया कि अनैतिकता से मनुष्य राक्षस बन जाता है; विद्या, तप, दान, शील, गुण और धर्म से हीन मनुष्य पशु के तुल्य कहलाता है? भर्तृहरि ने कहा है–

येषां न विद्या न तपो न दानं,
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

प्राचीनकाल की तरह आज भी भारत चरित्र-निष्ठ होता तो इसका नक्शा कुछ दूसरा ही होता। स्वतंत्रता और चरित्रनिष्ठा के योग से भारत में बहुत बड़ी प्रगति संभव थी, लेकिन केवल स्वतंत्रता पाकर लोगों ने संतोष कर लिया, अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली। यह अच्छा नहीं हुआ। पर निराशा की कोई बात नहीं है। अब भी जनता चरित्रनिष्ठ बने तो राष्ट्र अपना खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त कर सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में मैं दो सिद्धांतों की चर्चा करना चाहता हूं। वे हैं–स्याद्वाद और पुरुषार्थवाद। हालांकि ये दोनों सिद्धांत जैन-दर्शन से संबद्ध हैं, पर इनकी परिधि मानवदर्शन या विश्वदर्शन है। कोई भी दर्शन या व्यक्ति इन्हें सर्वथा अमान्य नहीं कर सकता।

व्यक्ति दूसरों के विचारों की कद्र करना सीखे। वह जो-कुछ सोचता है, वही सही है, यह आग्रह नहीं होना चाहिए। क्यों? यह इसलिए कि सत्य अनंत है। प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मा होती है, अतः उसे देखने के दृष्टिकोण भी अनंत हो सकते हैं। दूसरे व्यक्ति भी चिंतन के अधिकारी हैं। इस स्थिति में व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने विचारों की तरह दूसरों के विचार भी तटस्थ दृष्टि से समझने का प्रयास करे। यदि वे विचार सही हैं तो वह उन्हें ऋजुतापूर्वक स्वीकार कर ले और सही नहीं लगते हैं तो बिना किसी विग्रह के छोड़ दे। यह स्याद्वाद का फलित है। इसी लिए जैनाचार्यों ने कहा–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किंतु माध्यस्थया दृशा।।

जिस प्रकार किसी रोगी को देखकर कोई चिकित्सक इस भाषा में नहीं सोचता कि रोगी अपना है या पराया, बल्कि वह तटस्थ दृष्टि से उसका परीक्षण करता है, उसी प्रकार कोई तत्त्व सामने आए तो व्यक्ति यह न सोचे कि यह तत्त्व कहां से आया है। उस समय चिंतन यही होना चाहिए कि तत्त्व सही है या नहीं। स्याद्वाद के दृष्टिकोण से हर विचार अपेक्षाभेद से सही हो सकता है। वैचारिक उदारता का यह व्यापक सिद्धांत अपनाकर व्यक्ति वैचारिक स्तर पर उभरनेवाले अनेकानेक विवाद बहुत सहजता से सुलझा सकता है, विरोधी विचारधारा के लोगों के साथ बड़े सौहार्दपूर्ण ढंग से रह सकता है। अपेक्षा है, इस सिद्धांत को जीवन के हर स्तर पर व्यावहारिक आधार मिले।

पुरुषार्थ : सफलता का सबसे बड़ा सूत्र

दूसरा तत्त्व है–पुरुषार्थ। मैं इसे जीवन की सफलता का सबसे बड़ा सूत्र मानता हूं। नियतिवादी और ईश्वरवादी को भी जीवन की सफलता के लिए इसे महत्त्व देना होगा। जो पुरुषार्थ करता है, उसे उसका परिणाम भी मिलता है। आज भारतीय जनता इस पुरुषार्थ का तत्त्व भूलकर अकर्मण्य बन रही है। न केवल अध्यात्म के क्षेत्र में, अपितु लोक-क्षेत्र में भी यही स्थिति है। यह अकर्मण्यता राष्ट्र के विकास में बहुत बड़ी बाधा है।

भगवान महावीर ने पुरुषार्थ पर सर्वाधिक बल दिया है। पुरुषार्थ छोड़ने से व्यक्ति का भाग्य सो जाता है। जो व्यक्ति पुरुषार्थवादी होता है, उसी का भाग्य जागता है। इस तत्त्व को स्वीकार करके व्यक्ति अपनी खोई निधि भी वापस पा सकता है। यही बात राष्ट्रीय संदर्भ में है। भारतवर्ष की जनता यदि यह सूत्र अपना ले तो वह अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः अर्जित कर सकती है, पर मुझे लगता है कि लोगों के चिंतन का प्रकार सम्यक नहीं है। व्यक्ति सोचता है कि सब लोग काम करते ही हैं, एक मैं न करूं तो क्या फर्क पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि अच्छी-से-अच्छी योजना भी क्रियान्विति के बिंदु तक नहीं पहुंच पाती।

राजा के मन में विचार उभरा कि पानी के तालाब तो सभी जगह होते हैं, मेरे राज्य में एक दूध का तालाब भी होना चाहिए। बस, उसने आदेश जारी कर दिया कि शहर के बाहर खाली तालाब में नगर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक नागरिक कल सूर्योदय से पहले-पहले एक लोटा दूध डाले। दूसरे दिन सूर्योदय हुआ। राजा बड़ी उत्सुकता के साथ तालाब पर पहुंचा। पर यह क्या! तालाब दूध के स्थान पर पानी से लबालब भरा हुआ था। हुआ यह कि राजाज्ञा सुनकर एक व्यक्ति के मन में विचार आया कि जब हजारों-हजारों लोटे दूध तालाब में गिरेंगे ही, तब यदि मैं एक लोटा दूध के स्थान पर एक लोटा पानी डाल दूं तो क्या फर्क पड़ता है। पर उसने यह नहीं सोचा कि ऐसा ही विचार दूसरे लोगों के मन में भी उठ सकता है। योग ऐसा ही मिला कि नगर के प्रत्येक नागरिक के मन में उस व्यक्ति का विचार संक्रांत हो गया। सभी ने दूध के स्थान पर तालाब में पानी का लोटा डाल दिया।

बंधुओ! आप पूछ सकते हैं कि क्या यह घटना सच्ची है। मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह घटना सच्ची है, पर यह बात निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि इसमें एक बहुत बड़ा तथ्य छिपा हुआ है। आम आदमी की यह मनोवृत्ति होती है कि वह सफलता तो प्राप्त करना चाहता है, पर वहां तक पहुंचने के लिए स्वयं सही दिशा में पुरुषार्थ करना नहीं चाहता। वह दूसरों की वैशाखी के सहारे वहां तक पहुंचने की बात सोचता है। यह मनोवृत्ति उसे लक्ष्य तक नहीं पहुंचने देती। जरूरत तो यह है कि व्यक्ति शुभ शुरुआत स्वयं से करे। यदि व्यक्ति स्वयं से शुभ शुरुआत करने की मानसिकता बना लेता है तो कठिन-से-कठिन कार्य भी आसान हो जाता है। कोई मंजिल उससे दूर नहीं रहती। आज की परिस्थितियों में भारतीय नागरिकों के लिए इस सूत्र को अपनाना अत्यंत आवश्यक है। इसे अपनाने से अकर्मण्यता को कहीं कोई अवकाश नहीं रहेगा; और जब यह बाधा दूर हो जाएगी तो राष्ट्र अपने-आप विकास की राह पर अग्रसर हो जाएगा।

हम साधु-संत लोग पुरुषार्थ का जीवन जीते हैं। पर हमारा पुरुषार्थ केवल आध्यात्मिक होता है, क्योंकि हमारा उद्देश्य मात्र आत्मोदय है, परंतु जन-साधारण आत्मोदय के साथ-साथ सामाजिक अपेक्षाओं का भी चिंतन करता है। इसलिए उसे आध्यात्मिक पुरुषार्थ के साथ-साथ लौकिक पुरुषार्थ भी करना होता है। इस क्षेत्र में भी पुरुषार्थ को भूलकर वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता।

स्याद्वाद और पुरुषार्थवाद की संक्षिप्त चर्चा मैंने की। इन दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को आप अपने जीवन में स्थान दें। निश्चय ही आपके जीवन में एक नया निखार आएगा। कल तक जीवन-आकाश में निराशा के जो बादल छाए हुए थे, वे स्वतः छंट जाएंगे। आशा और विश्वास का सूर्य अपने पूरे तेज के साथ चमकने लगेगा।

भटिंडा

६ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९ : सत्य की खोज

संपत्ति के साथ जुड़ी विपत्ति

आज हम हनुमानगढ़ आए हैं। हनुमानगढ़ श्रीगंगानगर जिले का एक प्रमुख कस्बा है। इस इलाके के बारे में हम वर्षों से सुनते आ रहे हैं कि यहां संपत्ति भी है और विपत्ति भी। यहां की धरती शस्यश्यामला है। समय पर वर्षा न होने पर भी नहरों से पानी पाकर वह सोना उगलती रहती है। इसलिए इस इलाके में रहनेवाले और विशेषकर यहां के किसान बहुत समृद्ध हैं, पर इस समृद्धि के साथ विपत्ति भी जुड़ी हुई है। लोगों में अध्यात्म और धर्म के प्रति अभिरुचि नहीं है। फलतः लूट-खसोट, मार-काट और हत्या चलती रहती है। थोड़ी-सी टकराहट हुई कि आदमी आदमी को मारकर उसकी लाश नहर में बहा देता है। फिर वकील केस लड़ते रहते हैं।

कल हमने एक नई बात सुनी। फसल होती है, तब लोग पूछते हैं– 'फसल कितनी हुई?' उत्तर होता है–'एक कत्ली जितनी।' इसका अर्थ यह है कि एक कत्ल का केस सुलझाने में जितने पैसे लगता है, उतने पैसों की फसल हो गई। यह शब्दावली यहां के निवासियों की अध्यात्म-पराङ्मुखता का प्रतीक है।

अध्यात्म की यात्रा

अध्यात्म-विकास के बारे में हमारी लंबी परिचर्चाएं फिर होती रहेंगी, आज प्राथमिक रूप में थोड़ी-सी बातें बता रहा हूं। सबसे पहले आप यह न भूलें कि आप मनुष्य हैं। मनुष्य की विशेषताएं सृष्टि के अन्य सभी प्राणियों से अधिक हैं। और-और प्राणियों की तो बात ही क्या, देवताओं को भी जो अप्राप्त हैं, उन विशेषताओं से संपन्न है यह मनुष्य।

अपेक्षित है जीवन का यथार्थ मूल्यांकन

सौभाग्य से आपने यह अमूल्य निधि पाई, पर मैं पूछना चाहता हूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि पाने का लाभ क्या हुआ, यदि इसका सही मूल्यांकन नहीं किया। यदि आप इसका सही मूल्य आंकते तो इसे मार-काट और हत्याओं में पूरी नहीं करते। बेईमानी, असत्य और शोषण में नहीं गंवाते। महात्मा भले नहीं बन पाए, पर अपनी वृत्तियां राक्षसी नहीं बनाते। अतः सबसे पहली अपेक्षा है कि मनुष्य-जीवन का यथार्थ मूल्यांकन हो।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा

अध्यात्म-विकास का पहला सूत्र है—स्वयं सत्य खोजना। आगम-वाणी—**अप्पणा सच्चमेसेज्जा** हमें यही संदेश देती है। हालांकि हमारे ऋषि-मुनियों ने सत्य का बहुत संधान किया है, तथापि हमारे लिए स्वयं की खोज का ही ज्यादा महत्त्व है।

समत्व-बुद्धि

अध्यात्म का दूसरा सूत्र है—समत्व-बुद्धि। सब प्राणी समान हैं। आत्म-अस्तित्व की दृष्टि से प्राणी-प्राणी में कोई अंतर नहीं है। सबको अपने सुख-दुःख का ख्याल है। सभी को सुख काम्य है। इसलिए सबके साथ मैत्री का व्यवहार होना चाहिए। सबके साथ सौहार्द बना रहना चाहिए। यह तत्त्व *आगमों, पिटकों, वेदों, उपनिषदों, पुराणों, गुरुग्रंथ-साहिब, बाइबिल* और अनेक ऋषि-महार्षियों की वाणी में मिलता है। मैं मानता हूं, यदि यह सूत्र जीवनगत हो जाए तो धरती पर स्वर्ग उतर आए, अमन-चैन की धार बह चले। समाज में कोई किसी का शत्रु न रहे, सब मैत्री के धागे से बंधे हुए रहें, भाई-भाई बनकर जिएं।

पर कठिनाई यह है कि आदमी स्वयं को प्रकृति-विजेता मान रहा है। अपने अहंकार के उन्माद में वह ऋषि-मुनियों की वाणी की उपेक्षा करके गलत मार्ग पर बढ़ रहा है। आश्चर्य, इस पर भी वह शांति पाने की इच्छा करता है!

रोगी वैद्य के पास गया। उसने उसकी नाड़ी देखी। उसके जीर्ण ज्वर था। वैद्य ने कहा—'तुम्हारी बीमारी तो मिट जाएगी, पर कड़वी दवा लेनी होगी।' रोगी ने दवा ले ली और घर चला आया। दवा कड़वी जान उसने उसका एक दिन भी सेवन नहीं किया। फिर बीमारी कैसे मिटती? वह स्वास्थ्य-लाभ कैसे प्राप्त करता?

हिंसा और शांति

इसी प्रकार जो लोग शांति के तो इच्छुक हैं, पर शांति की सही राह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर नहीं हैं, वे शांति कैसे पा सकेंगे? मैं देखता हूं कि लोग हिंसा करते हैं। उन्हें समझना होगा कि हिंसा कभी शांति का मार्ग नहीं हो सकती। क्या आग में कभी कमल खिल सकता है? स्वयं सुख-शांति चाहते हैं, पर दूसरों का सुख लूटते हैं। उन्हें धोखा देते हैं। उनका शोषण करते हैं। ऐसी स्थिति में कोई कैसे आशा कर सकता है कि दूसरे लोग उनके सुख में बाधक नहीं बनेंगे?

आर्थिक समृद्धि और शांति

कुछ लोग सोचते हैं कि आर्थिक संपन्नता सुख और शांति का आधार है। इसलिए वे धन बटोरने में लगे रहते हैं। पर यह एक निरी भ्रांति है। आर्थिक समृद्धि से सुख-शांति का कोई सीधा संबंध नहीं है। यदि आर्थिक समृद्धि ही सुख-शांति का आधार होती तो अमेरिका आज सबसे अधिक सुखी होता, पर कहां है, वहां सुख और शांति? वहां के राष्ट्रपति जॉनसन ने हाल में ही अपनी रिपोर्ट में बताया है कि यहां प्रत्येक मिनट में एक कार चोरी जाती है। प्रत्येक पचीस सैकंड में एक सेंध लगती है और प्रत्येक पचीस मिनट में एक बलात्कार होता है। आप ही बताएं कि क्या यही है सुख और शांति की स्थिति। हालांकि धन जीवन चलाने के लिए आवश्यक है, तथापि उसके साथ जब आत्म-नियंत्रण का अभाव रहता है तो वही दुःख और अशांति का कारण बन जाता है।

धर्म : शांति का मार्ग

आप पूछेंगे कि शांति का सही मार्ग कौन-सा है। शांति का सही मार्ग है—धर्म। अभी-अभी एक भाई ने कहा कि आचार्यजी ने हमको धर्म की नई परिभाषा दी। मैं सोचता हूं, मेरे पास नया कुछ नहीं है। धर्म की एकदम पुरानी परिभाषा मैंने आपके सामने रखी, पर वह आपको नई लगी। इसका एक कारण है। जो तत्त्व अत्यंत पुराना हो जाता है, वह कालांतर में सबको नया-सा लगने लगता है। मैंने कहा कि क्रियाकांड, पूजा, आरती आदि के रूप में की जानेवाली उपासना ही धर्म नहीं है।

भगवान भोले नहीं हैं

बहुत-से लोगों की ऐसी अवधारणा है कि एक बार मंदिर में जाने मात्र से पिछले सारे पाप खत्म हो जाते हैं। यह श्रद्धा नहीं होती तो लाखों लोग तीर्थस्नान क्यों करते? मुझे लगता है कि लोग पाप से नहीं, पाप के परिणाम से डरते हैं। इसी लिए पाप के फल से डरकर मंदिरों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरण लेते हैं।

जो लोग चर्चों, मंदिरों और धर्मस्थानों में जाते हैं, उनमें शुद्ध भावना से जानेवाले बहुत कम होते हैं। अधिकतर लोग तो पाप के फल से डरकर जाते हैं। यह स्वार्थ है। यदि भगवान ऐसे व्यक्तियों को माफ कर देते हैं तो इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है? पर मैं समझता हूं कि भगवान इतने भोले नहीं हैं, जो लोगों के साथ ऐसा सौदा करते रहेंगे।

.....वही उपासना उपादेय है

परंतु मेरे कहने का यह अर्थ आप न निकालें कि उपासना सर्वथा अनुपयोगी है। उपासना भी धर्म का एक पक्ष है। हां, रूढ़ उपासना से धर्म का कोई संबंध नहीं है। वही उपासना धर्म है, जो हमारे जीवन की पवित्रता में हेतुभूत बनती है, उसका साधन बनती है। जिस उपासना का जीवन की पवित्रता से कोई संबंध नहीं रहता, उसकी हमारे लिए भी कोई उपादेयता नहीं है।

मैं अनुभव कर रहा हूं कि क्रियाकांडों की रूढ़ता को देखकर आज के बुद्धिवादी लोग धर्म से घृणा करने लगे हैं। वे उससे कोसों दूर रहना चाहते हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूं कि धर्म घृणा करने-जैसा तत्त्व नहीं है। वह तो जीवन जीने की स्वस्थ पद्धति है। वे घृणा करने के स्थान पर उसे सही रूप में जीवन में उतारें और एक नया आदर्श उपस्थित करें। इससे उनका स्वयं का जीवन तो कृतार्थ होगा ही, रूढ़िचुस्त लोगों को भी सोचने का मौका मिलेगा। वे भी धर्म को सही रूप में स्वीकार करने के लिए उत्प्रेरित होंगे।

पूछा जा सकता है कि धर्म के मौलिक तत्त्व कौन-कौन-से हैं। धर्म के मौलिक तत्त्व हैं—सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या और सदाचार। मैं मानता हूं, ये ऐसे तत्त्व हैं, जिनसे कोई बड़े-से-बड़ा बुद्धिवादी भी घृणा नहीं कर सकता। यदि कोई घृणा करता है तो मानना चाहिए कि वह जीवन जीने की स्वस्थ पद्धति से घृणा करता है, सुख और शांति से घृणा करता है।

बंधुओ! धर्म के इन्हीं मौलिक तत्त्वों को जीवन का आधार बनाकर हम लोग आगे बढ़ रहे हैं। इससे हमें अनिर्वचनीय सुख और शांति की अनुभूति हो रही है। इस सुख-शांति में जन-जन को सहभागी बनाने के लिए हम प्रयत्नशील हैं। हालांकि हम इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि सब लोग हमारी तरह गृहत्यागी नहीं हो सकते, अकिंचन नहीं बन सकते। वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य, अहिंसा आदि तत्त्व एक सीमा तक ही स्वीकार कर सकते हैं, संपूर्ण रूप में नहीं। इसे ध्यान में रखते हुए हम जन-साधारण को *अणुव्रत* की बात कहते हैं। अणुव्रत ऐसे छोटे-छोटे संकल्पों की आचार-संहिता है, जिसे स्वीकार कर चलने में गृहस्थ के आवश्यक काम भी नहीं रुकते और वह धार्मिक होने का अधिकार भी प्राप्त कर लेता है।

जीवन जीने की कला

अणुव्रत कहता है चूंकि आप गृहस्थ हैं, इसलिए पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकते; राष्ट्र और धन-माल की सुरक्षा के लिए आपको सजग रहना पड़ता है; समय पर शस्त्र भी उठाना पड़ता है, पर कम-से-कम निरपराध प्राणी पर आक्रमण तो न करें; अनजान में किसी प्राणी की हत्या हो जाती है, पर संकल्पपूर्वक तो किसी प्राणी का वध न करें। इस सीमा तक अहिंसा का पालन तो हर कोई आसानी से कर सकता है। अणुव्रत कहता है, आप सत्यवादी हरिश्चंद्र नहीं बन सकते, तथापि एक सीमा तक तो सत्य की साधना अवश्य करें। ऐसा असत्य तो न बोलें, जिससे किसी का बहुत बड़ा अहित हो जाए, उसके साथ धोखा हो जाए, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाए। इसी प्रकार अणुव्रत अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की भी एक सीमा में साधना की बात कहता है। अणुव्रत कहता है कि व्यक्ति अपना जीवन व्यसन-मुक्त रखे, खान-पान की विशुद्धि बनाए रखे—अखाद्य और अपेय का सेवन न करे। एक वाक्य में कहूं तो अणुव्रत जीवन जीने की कला है। यह कला सीखकर, अपनाकर किसी जाति, वर्ण, वर्ग·····का आदमी सुख और शांति का अनुभव कर सकता है। वर्षों से हम इसी अणुव्रत का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। इस प्रयत्न से आज तक हजारों-हजारों लोगों ने इसे समझा है, स्वीकार किया है और अपने जीवन में सुख-शांति की धार बहाई है। आप लोग भी अणुव्रत को समझें, स्वीकार करें और जीवन में सुख-शांति की धार बहाएं। आपका जीवन सार्थक हो जाएगा।

हनुमानगढ़
१८ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२० : शांति का मार्ग—अपरिग्रह

अहिंसा और अपरिग्रह

भगवान महावीर अहिंसा और अपरिग्रह के उपदेष्टा थे। उन्होंने इन दोनों पर सर्वाधिक बल दिया है। गहराई से देखा जाए तो अहिंसा और अपरिग्रह में अविनाभावी संबंध है। एक के विकास से दूसरे का विकास भी अवश्य होता है। जहां हिंसा चरम सीमा तक पहुंच जाती है, वहां परिग्रह भी सीमा लांघ देता है। परिग्रही व्यक्ति अहिंसक नहीं रह सकता, क्योंकि अहिंसा और परिग्रह में परस्पर गहरा विरोध है।

अहिंसा और अपरिग्रह का अन्योन्याश्रय देखकर सहज ही एक प्रश्न पैदा होता है कि इन दोनों को भिन्न-भिन्न क्यों माना गया। शाश्वत सत्य की दृष्टि से तो अहिंसा और अपरिग्रह दोनों एक ही हैं, पर व्यवहार में हम इन्हें अलग-अलग मानते हैं, यह हमारा सुविधावाद है।

विज्ञान : एक सुंदर उपक्रम

विज्ञान मानता है कि पृथ्वी घूमती है और सौरमंडल स्थिर है। हमारे शास्त्रों के अनुसार पृथ्वी स्थिर है तथा सौरमंडल घूमता है। कुछ समय पहले यह कहा जाता था कि शास्त्र झूठे हैं, क्योंकि उनकी बातें विज्ञान से मेल नहीं खातीं। मैं मानता हूं कि विज्ञान एक सुंदर उपक्रम है। वैज्ञानिक स्वयं को सिद्ध नहीं मानते। वे अनुसंधान करते हैं। उससे जो तत्त्व मिलता है, उसे सबके सामने रखते हैं, पर आगे अनुसंधान के लिए द्वार बंद नहीं करते।

अपनी वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के बारे में आइंस्टीन ने बताया कि पृथ्वी घूमती है, यह कथन हमारी सुविधा के लिए है। इससे विश्व की गति-विधि समझने-समझाने में सुविधा रहती है। यदि हम पृथ्वी को स्थिर मानकर सौरमंडल को गतिशील मानें तो भी फलित वही आएगा, पर तत्त्व समझने-समझाने में थोड़ी कठिनाई हो जाएगी, इसलिए हमने मान लिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि पृथ्वी घूमती है। वैज्ञानिकों के इस सुविधावाद से साधारण लोगों के सिद्धांत लड़खड़ा गए। फलतः वे सिद्धांतों पर अविश्वास करने लगे।

अहिंसा और अपरिग्रह को दो मानना भी हमारा सुविधावाद है। मूलतः इनका संबंध एक-एक किस्म की वृत्ति से है। अहिंसा की वृत्ति का फलित है मैत्री और अपरिग्रह से संबंध रखती है अनासक्ति।

मैत्री का अर्थ है—समता। व्यक्ति के मन में जितनी समता होती है, उतनी ही अहिंसा उसके जीवन में आ पाती है। इसलिए समता अहिंसा का ही पर्यायवाची शब्द बन जाता है तथा अपरिग्रह और अनासक्ति भी एक ही अभिधेय को अभिव्यक्ति देते हैं।

परिग्रह की सुरक्षा अहिंसा से संभव नहीं

राष्ट्र-सुरक्षा के लिए अहिंसा की जो बात की जाती है, वह मात्र व्यवहार नय की भाषा है। निश्चय नय की अपेक्षा से तो राष्ट्र-सुरक्षा अहिंसा से संभव नहीं है। क्यों? यह इसलिए कि राष्ट्र का अर्थ है—घर, परिवार, संपत्ति आदि। ये सब परिग्रह हैं। परिग्रह की सुरक्षा अहिंसा से कभी हो नहीं सकती।

गांधीजी ने कहा कि हम अपने दैनंदिन व्यवहार में अहिंसा लाएं, राजनीतिक क्षेत्र में भी अहिंसा को व्यवहार्य बनाएं। इसके लिए सत्याग्रह, अनशन और असहयोग का सहारा भी लिया जा सकता है, लेकिन मैं सोचता हूं कि ऐसा करने का एकमात्र उद्देश्य है—राष्ट्र-सुरक्षा। राष्ट्र के प्रति लोगों की आसक्ति है, इसलिए वे इसकी सुरक्षा चाहते हैं। आसक्ति परिग्रह है और परिग्रह की सुरक्षा हिंसा है। यह तत्त्व विद्वद्भोग्य है, तथापि मैं जन-सामान्य से इतना तो अवश्य कहूंगा कि परिग्रह की सुरक्षा में भी बन सके वहां तक समता का मार्ग स्वीकार करना चाहिए।

कल एक कार्यकर्ता ने प्रश्न उठाया—'भारतवर्ष स्वयं शस्त्र उठाता है, युद्ध करता है, ऐसी स्थिति में विश्वमंच पर अहिंसा की चर्चा करना उसके लिए कहां तक उचित है?'

मैंने कहा—'यह लोगों की समझ की कमी है कि उन्होंने देश को पूर्ण अहिंसक मान लिया। वास्तव में कोई राष्ट्र पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता। ऐसा क्यों नहीं कहा जाता है कि भारतवर्ष आक्रांता नहीं है; क्रूर नहीं है, हम इस सीमा तक अहिंसक हैं; हमारे पास जमीन है, संपत्ति है; उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्षा का दायित्व भी हम पर ही है; इस दायित्व को निभाने के लिए हमें हिंसा भी करनी पड़ सकती है; हमने अहिंसा का अणुव्रत स्वीकार किया है, महाव्रत नहीं। यह वस्तुस्थिति बताने के बाद किसी को कहने का अवकाश नहीं मिलेगा। अतिवाद के कारण ही लोगों को अन्यथा सोचने का अवसर मिलता है।'

नौ प्रकार का परिग्रह

शास्त्रों में नव प्रकार के परिग्रह का उल्लेख है–

१. क्षेत्र–खुली भूमि।

२. वस्तु–मकान आदि।

३. धन–जो गिना जाए (जैसे–नारियल), तौला जाए (जैसे–किराना), मापा जाए (जैसे–वस्त्र) और परखा जाए (जैसे–जवाहरात)।

४. धान्य–हर प्रकार का अनाज।

५. द्विपद–पक्षी, नौकर-चाकर आदि।

६. चतुष्पद–पशुधन, जैसे–गाय, भैंस, घोड़ा आदि।

७. हिरण्य–चांदी।

८. सुवर्ण–सोना।

९. कुप्य–गृहोपस्कर, भांड–बरतन आदि।

नव प्रकार की इन वस्तुओं का संग्रह करना, करवाना और अनुमोदन करना तीनों ही विकल्प परिग्रह की कोटि में हैं। एक अपरिग्रही व्यक्ति इनका सर्वथा परित्याग करता है। जो संपूर्ण अपरिग्रही बनने की क्षमता नहीं रखता, वह परिग्रह की सीमा करता है।

परिग्रह का सीमाकरण

जैन-धर्म में श्रावक के लिए अपने परिग्रह की सीमा करने की पद्धति रही है। जैसे इतने रुपए, इतने मकान, इतने वस्त्र, इतने आभूषण से अधिक मैं अपने स्वामित्व में नहीं रखूंगा। कुछ लोग हास्यास्पद त्याग करते हैं। पास में तो हजार रुपए भी नहीं हैं और कहते हैं कि एक करोड़ से ज्यादा का संग्रह करने का त्याग है। जनसाधारण में ऐसे त्याग की विडंबना हो जाती है। मूल बात यह है कि आकांक्षा और आवश्यकता का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीमाकरण होना चाहिए।

जो साधु होता है, वह संपूर्ण परिग्रह का त्याग करता है। वर्तमान में उसके पास कोई संग्रह नहीं होता। भविष्य में किसी प्रकार के संग्रह का प्रश्न ही नहीं होता। आप देखते ही हैं कि किसी प्रकार की भेंट भी वह स्वीकार नहीं करता। अतीत का संग्रह-परिग्रह तो दीक्षा के साथ ही समाप्त हो जाता है।

साधु-संन्यासी भी देहधारी होते हैं। देहधारी के लिए भोजन, वस्त्र, मकान आदि की अपेक्षा रहती है। तब प्रश्न पैदा होता है कि सर्वथा असंग्रह की इस स्थिति में अपेक्षा कैसे पूरी होती है। आवश्यकता-पूर्ति का साधन है–भिक्षा। वैसे आज भिक्षा शब्द विकृत हो गया है। ऐसे भिखारियों की संख्या तेजी के साथ बढ़ रही है, जो मक्खियों की तरह भिनभिनाहट करते रहते हैं। मूलतः भिक्षा उनके लिए आवश्यक होती है, जो अकिंचन होते हैं। वे सहज-प्राप्त भिक्षा से अपना जीवनयापन करते हैं। सहज का अर्थ है कि उनकी भिक्षा का किसी पर कोई भार नहीं होता। उसकी कहीं कोई तैयारी नहीं होती। आज आपके शहर में यदि हम दो सौ साधु भी इकट्ठे हो जाएं तो भी किसी को कोई कठिनाई नहीं हो सकती। भगवान महावीर ने साधु-साध्वियों के लिए ऐसी सुंदर भिक्षा-विधि बताई है, जिससे उनकी आवश्यकता भी पूरी हो जाती है और गृहस्थ पर भी कोई भार नहीं पड़ता। साधु-साध्वियों की इस भिक्षा-विधि का नाम है 'गोचरी'। गौ और गर्दभ के चरने में अंतर है। गौ चलती जाती है और थोड़ा-थोड़ा खाती जाती है। इससे बूंटों को कोई खास नुकसान नहीं पहुंचता और गौ का पेट भी भर जाता है। इसके विपरीत गधा फूंक देकर पौधा उखाड़ देता है। साधु गौ की तरह चलता है। बीस-चालीस घरों में जाता है और थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करता रहता है। थोड़ा-थोड़ा से तात्पर्य है कि वह मात्र उतनी भिक्षा ग्रहण करता है, जिससे गृहस्थ को पीछे कमी न खले। इसमें भी जाति, वर्ण, वर्ग, अमीर, गरीब……का कोई भेद नहीं होता। जहां भी शुद्ध/सहज भिक्षा मिलती है, वहां से वह ग्रहण कर लेता है।

कई बार भिक्षावृत्ति के विरोध में कानून बनाने का प्रयत्न होता है। उसमें हमें भी घसीट लिया जाता है। इसका कारण है अज्ञान, अन्यथा ऐसी सुंदर भिक्षा-विधि से किसी को कोई आपत्ति होने का प्रश्न ही पैदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता। इसलिए वास्तविक भिक्षा-विधि की जानकारी आवश्यक है।

जो साधु बनकर भी स्वयं को मठाधीश मानते हैं, बैंक से अपना संबंध रखते हैं, वे सही माने में अपरिग्रही नहीं हैं। मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूं कि आप साधुओं को पैसा क्यों देते हैं; क्या उनके बाल-बच्चे कुंवारे बैठे हैं, जो उन्हें पैसों की जरूरत पड़ती है।

नए आदमी हमारे पास आते हैं, तब नोट निकालकर भेंट करते हैं। उसका आधार है–**रिक्तपाणि र्न पश्येत्, राजानं दैवतं गुरुम्**। अर्थात राजा, देव और गुरु के दर्शन खाली हाथ नहीं करने चाहिए। यह एक मान्यता/परंपरा रही है, पर जैन-साधुओं की परंपरा इससे सर्वथा भिन्न है। वे न तो पैसा लेते हैं और न ही रखते हैं। हम उन्हें अपनी परंपरा समझाते हैं तो वे कहते हैं कि ये पैसे आप कहीं लगा दीजिए। मैं उनसे कहता हूं कि आपको यदि पैसे लगाने ही हैं तो साधुओं को प्रपंच में क्यों डालते हैं। साधु को पैसा देना पाप है और साधुओं द्वारा पैसे का संग्रह करना महापाप है। गुरु और शिष्य दोनों ही परिग्रही हों तो उन्हें डूबने से कोई कैसे बचा सकता है? कवि ने कहा है–

गुरु लोभी शिष लालची, दोनूं खेलै दाव।
दोनूं डूबै बापड़ा, बैठ पत्थर की नाव॥

परिग्रह क्या है

क्या आप जानते हैं कि वास्तव में परिग्रह क्या है? संसार की जितनी भी चीजें हैं, वे सभी जड़ हैं। उनके प्रति व्यक्ति का जो श्लेष, लालसा, आसक्ति या मूर्च्छा है, वह परिग्रह है। मैं जहां रहता हूं, सोता हूं, वहां एक तिजोरी पड़ी है, पर उससे मैं परिग्रही नहीं होता। इसके विपरीत यदि मेरे मन में आसक्ति है तो मैं परिग्रही बन जाता हूं, भले वहां एक पैसा भी न हो। और तो क्या, शरीर पर जो ममता होती है, वह भी परिग्रह ही है।

कुछ लोग मुझसे पूछते हैं कि दान करें या नहीं। मैं उनसे कहता हूं कि आप दान की बात मुझसे क्यों पूछते हैं। मूलतः यह आपकी इच्छा या भावना से जुड़ा हुआ प्रश्न है। वैसे सिद्धांत रूप में मैं ऐसा मानता हूं कि दान एक प्रकार का विनिमय है। उसमें नाम का महत्त्व रहता है। मैं दान के स्थान पर त्याग को महत्त्व देता हूं। क्यों? यह इसलिए कि त्याग में ममत्व का विसर्जन हो जाता है। जहां दान में प्रतिष्ठा, ख्याति, यादगार और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहास की भावना रहती है, वहीं त्याग में आत्मविकास की भावना की प्रधानता रहती है।

हां, तो मैं आपसे परिग्रह के बारे में बता रहा था। हालांकि इस सचाई से परिचित होकर भी कि परिग्रह दुःख का मूल है, सब अपरिग्रही नहीं हो सकते, तथापि आसक्ति में कमी कर सकते हैं। गांधीजी ने कहा कि हर व्यक्ति स्वयं को संपत्ति का ट्रस्टी समझे। यह भावना व्यक्ति को अनासक्ति के निकट लाती है। धार्मिक व्यक्ति को यह समझकर आसक्ति में कमी करनी चाहिए कि अपने कर्मों का भोक्ता मैं स्वयं हूं; बुराई का फल मुझे ही भोगना पड़ेगा, फिर मैं आसक्त क्यों बनूं।

अपरिग्रह शाश्वत मूल्य है और शांति का साधन है। अपरिग्रह के बिना शांति कभी हो नहीं सकती। आप *अणुव्रत प्रार्थना* में गाते ही हैं–

अपरिग्रह, अस्तेय, अहिंसा सच्चे सुख के साधन हैं।
सुखी देख लो संत अकिंचन संयम ही जिनका धन है।
उसी दिशा में दृढ़ निष्ठा से क्यों नहीं कदम उठाएं हम?
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पाएं हम।।
बड़े भाग्य हे भगिनि! बंधुओ! जीवन सफल बनाएं हम।।

अपरिग्रह, अस्तेय और अहिंसा–ये सच्चे सुख के साधन हैं। यही वजह है कि सब सुविधाओं को पाकर भी आप उतने सुखी नहीं हैं, जितने सुखी सब सुविधाएं छोड़कर हम हैं।

मुझे आश्चर्य होता है कि लोग शांति की चाह तो करते हैं, पर सही मार्ग पकड़ना नहीं चाहते! सही मार्ग पकड़े बिना मंजिल कैसे मिल सकती है? शांति का मार्ग पकड़े बिना उसकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी? हम साधु-संत लोग अनिर्वचनीय शांति की अनुभूति करते हैं, यह अपरिग्रह का ही परिणाम है। बंधुओ! आप भी अपरिग्रह का सूत्र अपनाएं, अनासक्ति का जीवन जिएं। निश्चय ही आपको शांति और सुख की उपलब्धि होगी।

हनुमानगढ़
२० मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१ : संत-दर्शन का माहात्म्य

कबीरदास ने संत-दर्शन का महत्त्व बताते हुए एक जगह कहा है–

'कबीरा' दर्शन साधु का, प्रभु की आवै याद।
वै ही दिन लेखै लगे, बाकी के दिन बाद।।

संतों के दर्शन करने से भगवान की याद आती है। इसलिए कुछ लोग संत-दर्शन को ही दीवाली और दशहरा मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि संतों के दर्शन से विचारों में परिवर्तन होना बहुत संभावित है।

.....तो भी त्याग नहीं तोड़ूंगा

अभी रास्ते में इंद्रपुरा के लोग सड़क पर खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन लोगों में एक था रामप्रताप। वह उस गांव का एक प्रमुख आदमी है। उसे शराब से बहुत प्यार था। शराब की बोतल मानो उसके हाथ से छूटती ही नहीं थी। लोगों ने कहा कि इसकी शराब छूट जाए तो पूरे गांव का कल्याण हो जाए। मैंने एक नजर रामप्रताप पर डाली। मुझे लगा कि किसी कारण से इसे शराब की बुरी लत पड़ अवश्य गई है, पर आदमी श्रद्धाशील है।

कुछ लोग हमारे साथ-साथ चले। सहसा एक व्यक्ति ने कहा–'आज मैं शराब छोड़ता हूं।' दूसरा व्यक्ति बोला–'आज से मैं भी शराब का परित्याग करता हूं।' थोड़ी देर बाद रामप्रताप बोला–'मैं आपके चरणों के हाथ लगाकर संकल्प करता हूं कि अब जीवन में कभी शराब नहीं पीऊंगा।' मैंने कहा–'सहसा त्याग करना बहुत कठिन है। तुमने स्वयं को अच्छी तरह से तौल लिया है ना?' वह बोला–'आचार्यजी! अब तो गर्दन कट जाए तो भी त्याग नहीं तोड़ूंगा।'

मैंने देखा कि उसके विचारों में एकदम परिवर्तन आ गया है। इसका एकमात्र कारण संत-दर्शन बना। कुछ लोग मानते हैं कि दर्शन मात्र से पाप कट जाते हैं। मैं यह बात इस रूप में स्वीकार करता हूं कि संत-दर्शन से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति के संचित पाप के कटने और नए बंधन से बचने का रास्ता खुल जाता है। इसी लिए संत-दर्शन का इतना महत्त्व गाया गया है।

अच्छा रास्ता पाकर व्यक्ति अपने जीवन में ऐसा आचरण करे, जिससे उसकी आत्मा का कल्याण हो। *उत्तराध्ययन* सूत्र में कहा गया है–

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई॥

सांसारिक प्राणी शादी करता है, व्यापार करता है। दूसरे अनेक प्रकार के धंधों में जुटता है। उन सबमें भी धर्म की पुट रहे, यह अपेक्षित है। काम करना पड़ता है, यह एक अलग बात है, पर उसमें भी पाप से जितना बचाव हो सके, उतनी बचने की चेष्टा करनी चाहिए। किसान खेती करते हैं। उसमें अनेक जीव मर जाते हैं, पर संकल्पपूर्वक निरपराध प्राणी की हिंसा से वे भी बच सकते हैं। व्यापारी अपने व्यापार में ग्राहकों को धोखा न दें तो उनके व्यापार में भी धर्म की पुट रह सकती है।

यों तो धर्म की बहुत-सी बातें हैं, पर सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है– अहिंसा। इसकी तुलना में अन्य कोई बात नहीं आ सकती। सारी अन्य बातें मिलकर भी इसकी बराबरी नहीं कर सकतीं। कोई कह सकता है कि मैं अहिंसा को नहीं मानता, इसलिए सबको सताऊंगा, लेकिन उससे यदि यह पूछ लिया जाए कि कोई तुझे सताए तो; सताना तेरे लिए बुरा है तो वह दूसरों के लिए अच्छा कैसे हो सकेगा। इसलिए व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मैं अपनी ओर से किसी को तकलीफ न दूं। आज संसार दुखी है। उस दुःख का रहस्य हिंसा ही है। हिंसा दुःखों की जननी है। इसी लिए कहा गया है–

हिंसा दुखां री बेलड़ी, हिंसा दुखां री खान।
अनंत जीव नरके गया, हिंसा तणा फल जान॥

ठीक इसके विपरीत–

दया सुखां री बेलड़ी, दया सुखां री खान।
अनंत जीव मुगते गया, दया तणा फल जान॥

दया यानी अहिंसा। यह सुख की बेल है। इसके बीज बो देने के बाद फल लगते ही रहेंगे। और ये ऐसे फल हैं, जिन्हें खाकर संसार सुखी बन सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर लोगों की सोच-समझ जाने कैसी है कि वे धर्म से नहीं, धन से सुखी होना चाहते हैं, आत्म-कल्याण करना चाहते हैं! शेरगढ़ में एक वृद्ध आया और उसने पांच रुपयों का नोट भेंट करना चाहा। मैंने जब उसे यह बताया कि हम रुपयों की भेंट नहीं लेते तो वह बोला—'यदि आप यह भेंट स्वीकार नहीं करेंगे तो हमारा कल्याण कैसे होगा?' मैंने कहा—'आत्म-कल्याण पैसे से नहीं खरीदा जा सकता, बल्कि पास में जितना अधिक पैसा होता है, उतना ही वह दूर रहता है। आत्म-कल्याण का मार्ग है—बुराइयां/दुष्प्रवृत्तियां छोड़कर अपना जीवन पवित्र बनाना।' अहिंसा और क्या है? अहिंसा का अर्थ किसी प्राणी को नहीं मारना या नहीं सताना ही नहीं है। यह तो एक बात है। वास्तव में दुष्प्रवृत्तिमात्र हिंसा है और दुष्प्रवृत्ति छोड़ना अहिंसा है। जैसाकि मैंने अभी-अभी कहा, अहिंसा से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। यह अहिंसा-धर्म आप अपनाएं। अपनी प्यारी-प्यारी बुराइयां संतों के चरणों में भेंट कर दें। निस्संदेह, आपके जीवन में पवित्रता का सौरभ फूट पड़ेगा। सुख और शांति का सागर आपके हृदय में हिलोरें लेने लगेगा।

कलरखेड़ा
२५ मार्च २९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२ : जनतंत्र और धर्म

भय क्या है

आज सारा संसार भयाकुल है, आतंकित है, संत्रस्त है। प्रश्न होता है कि भय क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में आज से ढाई हजार वर्षों पूर्व भगवान महावीर ने कहा था—**दुक्खभया पाणा।** यानी व्यक्ति को सबसे बड़ा भय है कि मुझे किसी प्रकार की पीड़ा, कष्ट या दुःख न हो जाए। वर्तमान में अनुकूलता न हो तो मनुष्य भयभीत हो जाता है। इसी तरह भविष्य के लिए आशंका भी भय है। राजनयिक इस बात के लिए आशंकित हैं कि सत्ता हमारे हाथ से निकल न जाए। पूंजीपति इस बात के लिए आशंकित हैं, हमारी पूंजी खत्म न हो जाए। इस प्रकार भय का वातावरण बना रहता है।

भय : उत्स और अंत

भय पैदा क्यों होता है? इसका सर्जक कौन है? भय परोपार्जित नहीं, स्वोपार्जित है। भय उत्पन्न होता है प्रमाद से। जो व्यक्ति जितना अधिक प्रमादी होता है, वह उतना ही अधिक भयभीत रहता है।

भय कैसे मिटे? क्या इसे मिटाने के लिए कोई फरिश्ता आकाश से उतरेगा? *गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

— जब-जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं इस धरती पर अवतरित होता हूं।

लेकिन भगवान महावीर ने कहा कि भय का नाशक मनुष्य स्वयं होगा। जिस दिन अप्रमाद की स्थिति आ जाएगी, प्रमाद समाप्त हो जाएगा, उस दिन भय भी खत्म हो जाएगा; और जब भय का अंत हो जाएगा, तब दुःख भी स्वयं समाप्त हो जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधुओ! आपका भय भी प्रमादजन्य है। आपमें से ज्यादातर लोग व्यापारी हैं। व्यापारी अपने बही-खातों के बारे में सदा भयभीत रहते हैं कि कहीं तलाशी न हो जाए। प्रमाद न हो तो हर व्यक्ति अभय हो जाता है। अभय प्रामाणिकता है। प्रामाणिकता की जितनी कमी होती है, व्यक्ति उतना ही भयभीत रहता है। विरक्त ऋषियों ने तो संसार के हर तत्त्व में भय देखा है। भर्तृहरि ने कहा है–

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं,
मौने दैन्यभयं गुणे खलभयं रूपे जरायाः भयम्।
शास्त्रे वादभयं बले रिपुभयं काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

अभय का मार्ग है–वैराग्य, पर वैराग्य का अर्थ संन्यासी होना ही नहीं है। व्यक्ति किसी स्थिति में रहता हुआ वैराग्य की साधना कर सकता है। वैराग्य का अर्थ है–अनासक्ति। अनासक्ति का फल है–अहिंसा। *आगमों* में अहिंसा को अभय बताया गया है। अहिंसा और अभय पर्यायवाची शब्द हैं। पता नहीं कि किन व्यक्तियों की करतूतों ने अहिंसा को कायर और कमजोर व्यक्तियों का हथियार बना दिया।

अहिंसा वीरों का कर्तव्य है। जो व्यक्ति स्वयं भयभीत रहता है, वह हिंसक है। इसी प्रकार जो औरों को भयभीत बनाता है, वह भी हिंसक है। अतः जो व्यक्ति अभय बनना चाहता है, वह पहले औरों को अभय दे। फिर उसे भी किसी प्रकार का भय नहीं होगा।

राजा संजय शिकार करता था। निरीह पशुओं को मारकर स्वयं को वीर मानता था। एक दिन शिकार के लिए जंगल में गया। एक हरिण को लक्ष्य बनाकर उसने तीर छोड़ा। निशाना अचूक था। वह मृग के लगा और वह ढेर हो गया। राजा शिकार को संभालने के लिए उधर आया। उसने देखा, मृग मुनि के चरणों में पड़ा है। उस समय वैदिक संन्यासी अपने-अपने तपोवन में मृग पालते थे। कोई व्यक्ति तपोवन के मृग को कष्ट देता, वह मुनि की कोप-दृष्टि से बच नहीं सकता था।

'मुनि के कोप का परिणाम है–सर्वनाश !'–यह सोचकर राजा संजय के हथियार ढीले हो गए। शरीर से पसीना छूटने लगा, पर मन को थोड़ा मजबूत करके वह मुनि के निकट आया और अपना अपराध स्वीकार करता हुआ क्षमायाचना करने लगा। मुनि ध्यानस्थ खड़े थे। उनका नाम गर्दभाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। उन्होंने सोचा कि मेरा किसी ने कुछ भी अपराध नहीं किया, फिर भी यह व्यक्ति क्षमा कैसे मांग रहा है। इसी चिंतन में वे ध्यानस्थ खड़े रहे। मुनि के मौन ने राजा संजय को और अधिक भयभीत बना दिया। वह फिर बोला–'महामुने ! मैंने आपका मृग मार दिया है। अब भविष्य में ऐसा काम नहीं करूंगा। आप संसार को अभय बनाते हैं, मुझे भी अभय बनाएं।'

अब मुनि गर्दभाली ने समझा कि वह भयभीत मुझसे नहीं, स्वयं के अकृत्य से है। यह सुंदर अवसर है इसे बोध-पाठ देने का। मुनि ने आंखें खोलीं। देखा, राजा का शरीर भय से कांप रहा है। मुनि ने पूछा–'तुम क्या चाहते हो?' कातर स्वर में राजा ने कहा–'अभय।' मुनि ने राजा का मानस झकझोरते हुए कहा–'तुम दूसरों को भयभीत बनाते हो और स्वयं अभय रहना चाहते हो, यह कैसे हो सकेगा?' राजा ने अत्यंत दीनतापूर्वक कहा–'मैं आपकी कृपा चाहता हूं।' मुनि ने राजा को पुनः झकझोरा–'तुम पर कोई रोष नहीं है, पर तुम बताओ तो सही कि क्या जानवर अभय बनना नहीं चाहते हैं; तुम्हारा क्या अधिकार है कि तुम किसी प्राणी को भयभीत बनाओ।' राजा ने कहा–'मुने! आप प्रतिबोध दें कि अब मुझे क्या करना चाहिए?' मुनि ने राजा को प्रेरित करते हुए कहा–'अब तुम संकल्प करो कि मैं जिंदगी में कभी शिकार नहीं करूंगा, किसी को भयभीत नहीं बनाऊंगा।' राजा बोला–'मैं आपकी साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता हूं कि अब जीवन में कभी शिकार नहीं करूंगा।' मुनि ने कहा–'देखो प्राणी के भय का कारण हिंसा है। तुमने हिंसा छोड़ने का संकल्प कर लिया है, अतः समझ लो कि भय भी तुम्हें छोड़ देगा।'

राजा संजय को आश्वासन मिला। मुनि को प्रणाम निवेदन करके वह अपने नगर की ओर बढ़ गया।

इस घटना का मर्म यह है कि अभय और अहिंसा दोनों एक ही हैं। जो कोई व्यक्ति भयभीत होता है, वह स्वयं की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के कारण ही होता है। अतः अभय बनने के लिए हिंसा से उपरत होना जरूरी है।

एक भ्रांति

जैन-धर्म ने अहिंसा पर बहुत अधिक बल दिया है। यद्यपि अहिंसा को सभी धर्म मानते हैं, पर जैन-धर्म ने इसका खास तौर से विशद विवेचन किया है, लेकिन जैन-धर्म के बारे में एक भ्रांति फैल गई है कि वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों को कायर बनाता है। मुझे लगता है कि यह भ्रांति दूसरों ने नहीं, बल्कि स्वयं जैनों ने फैलाई है। यह एक सचाई है कि दूसरे व्यक्ति उतना अनिष्ट नहीं कर सकते, जितना स्वयं के द्वारा होता है। बहुत-से तथाकथित जैनों ने अपनी जान बचाने के लिए अहिंसा की शरण ली। शत्रु मारने के लिए आए तो वे घरों में छिप गए। पूछा गया कि ऐसा क्यों, तो उनका उत्तर था—'अहिंसा की सुरक्षा के लिए।' बंधुओ! शक्ति के अभाव में अहिंसा की यह ओट लेना मखौल नहीं तो और क्या है? संभव है, ऐसे व्यक्तियों के कारनामे सामने आने से ही अहिंसा को कायरों का हथियार बता दिया गया।

वास्तव में अहिंसक वह होता है, जो मार सकता है, फिर भी किसी को मारता नहीं। जैन-तीर्थंकरों ने इस आदर्श को ही सच्ची अहिंसा कहा है। ऐसी अहिंसा को पालनेवाले ही सही अर्थ में अहिंसक हैं। ऐसे अहिंसक ही अहिंसा के पवित्र भाल पर लगा काला धब्बा धो सकेंगे।

जैन-धर्म : जन-धर्म

बंधुओ! अहिंसा की तरह ही जैन-धर्म के दूसरे-दूसरे सिद्धांत भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, व्यापक हैं, पर जैनों की अपनी कमजोरी और उदासीनता के कारण इस धर्म का सही रूप जनता के सामने नहीं है। इसी लिए इसका फैलाव बहुत कम है। इसे सही रूप में जाननेवाले लोग भी बहुत थोड़े हैं, परंतु प्राचीनकाल में जैन-धर्म जन-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित था। आज भी हम इसे जन-जन का बनाएं; इसे वर्ग, जाति, संप्रदाय..... के बंधनों से निकालकर मानव-धर्म के रूप में संसार के सामने लाएं, यह नितांत अपेक्षित है। मेरी दृष्टि में वह धर्म सही माने में धर्म नहीं होता, जो मानव-मात्र को खुराक न दे। जैन-धर्म को पुनः जन-धर्म का रूप देने के लिए हमने एक प्रयत्न किया है। हमने जब देखा कि एक विशाल धर्म बनियों की कौमविशेष तक ही सीमित हो रहा है तो हमारे मन में पीड़ा हुई। उसी पीड़ा का परिणाम है—*अणुव्रत।* उसके माध्यम से हमने धर्म का सार्वजनीन रूप जन-जन तक पहुंचाया।

अणुव्रत व्यक्ति के लिए गृहस्थ-जीवन में रहते हुए धर्म को व्यावहारिक धरातल पर उतारने का उपक्रम है। संन्यासी के लिए अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि महाव्रतों का पालन करना आवश्यक होता है, लेकिन गृहस्थ के लिए यह संभव नहीं है, पर इसका अर्थ यह भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि वह इनका बिलकुल भी आचरण नहीं कर सकता। एक सीमा तक वह भी इनका पालन आसानी से कर सकता है। फिर एक सद्गृहस्थ के लिए यह आवश्यक भी है, अन्यथा वह सुख और शांति से जी भी नहीं सकता। अणुव्रत कहता है कि व्यक्ति रक्षक भले न बन सके, पर भक्षक तो न बने, देव भले न बन सके; पर दानव तो न बने; सत्यवादी हरिश्चंद्र भले न बन सके, पर अनर्थकारी झूठ तो न बोले। व्यापार-व्यवसाय वह नहीं छोड़ सकता, पर उसमें अप्रामाणिकता तो न करे, ग्राहकों को धोखा तो न दे, ब्लैकमार्केटिंग तो न करे, अधिक संग्रह तो न करे। वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं बन सकता, पर व्यभिचार से तो बचे, भोग की कोई सीमा तो रखे। इस प्रकार के छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार करके व्यक्ति अपना जीवन स्वस्थ रख सकता है। धार्मिकता और क्या है? जीवन की स्वस्थता/पवित्रता का नाम ही तो धार्मिकता है। धर्म का यह ऐसा स्वरूप है, जिसके बारे में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। और तो क्या, नास्तिक या कम्यूनिस्ट कहलानेवाले भी इसे शांतिमय जीवन के आधार के रूप में प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं। जाति, वर्ग, वर्ण, संप्रदाय आदि का झंझट तो इसमें है ही नहीं। मानवता और जीवन की पवित्रता में विश्वास रखनेवाला हर मनुष्य यह आचार-संहिता अपना सकता है। मुझे यह कहते हुए अत्यंत प्रसन्नता है कि अणुव्रत धर्म का मौलिक स्वरूप उजागर करने में अहम भूमिका निभा रहा है। आज वह तेजी से जन-धर्म या मानव-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है।

लोकतंत्र और धर्म

बहुत बार यह प्रश्न आता है कि क्या लोकतंत्र में धर्म की पालना संभव है। मैं मानता हूं, धर्माराधना की दृष्टि से एकतंत्र व साम्यवाद फिर भी बाधक बन सकते हैं, पर जनतंत्र में वैसी स्थिति पैदा होने की संभावना नहीं लगती। मेरा मानना है कि जितनी शासन-प्रणालियां आज हमारे सामने हैं, उनमें जनतंत्र की प्रणाली धर्म की साधना की दृष्टि से सबसे अनुकूल है।

आप देखें, जनतंत्र में हर व्यक्ति अपने विचार देने में स्वतंत्र है। साहित्य या वक्तृत्व के माध्यम से हर व्यक्ति के विचार जनता के सामने आ सकते हैं। उन विचारों को कुचलने का अधिकार किसी को नहीं है। यह सिद्धांत अहिंसा का प्रतीक है। भगवान महावीर ने कहा--'किसी की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाधीनता मत छीनो। किसी पर हुकूमत मत करो, अपने विचार मत थोपो। किसी के अधिकारों में खलल मत पहुंचाओ।'''''ऐसा करना हिंसा है।' जनतंत्र में इन भावनाओं को प्रश्रय मिलता है। इससे अहिंसा को पसरने के लिए एक विशाल मैदान मिल जाता है।

एक जगह वैभव के ढेर लग जाएं और दूसरी जगह खाने के लिए रोटी भी न रहे, यह विषमता राष्ट्र के सुखी जीवन में बाधक है। जनतंत्र समता का पोषक है। वह व्यक्तिगत संग्रह को मूल्य नहीं देता, बल्कि उसे अनुचित मानता है। इस समता का फलित है—अपरिग्रह। जहां समता का सिद्धांत व्यवहार्य बन जाता है, वहां अपरिग्रह की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। अपरिग्रह धर्म का मौलिक सिद्धांत है। जहां-कहीं अपरिग्रह की भावना को बल मिलता है, वहां धर्म को ही पोषण मिलता है, धर्म का ही फैलाव होता है।

जनतंत्र में परस्पर विरोधी विचारवाले व्यक्ति साथ-साथ रह सकते हैं। एक स्थान पर बैठकर विचार-विनिमय का वहां पूरा अवकाश है। यह सह-अस्तित्व की बात है। जैन-धर्म का प्रमुख सिद्धांत अनेकांत कहता है कि परस्पर विरोधी विचार भी एक साथ रह सकते हैं। उनमें भी किसी अपेक्षा से सामंजस्य हो सकता है। मैं मानता हूं, जहां सत्य अनंत है, हर वस्तु अनंतधर्मा है और हर व्यक्ति को स्वतंत्र रूप में सोचने-देखने का अवकाश है, वहां विचार-भेद होना बहुत स्वाभाविक स्थिति है। विचार-भेद दो ही स्थितियों में नहीं हो सकता। प्रथम उस स्थिति में, जहां कोई स्वतंत्र विचारक होता ही नहीं, सब लोग उधार लिए हुए विचार ही काम लेते हैं। दूसरी स्थिति केवलज्ञानी होने की है। दो केवलज्ञानियों के बीच विचारों का पूरा-पूरा साम्य होता है।

बंधुओ! विचार-भेद के कारण लड़ना बहुत बड़ा पाप है। कभी-कभी विचार-भेद के कारण एक पक्ष के लोग अपने विरोधी को जिंदा जला देते हैं। ऐसा करना जनतंत्र का जनाजा निकालना है। वस्तुतः विरोधी विचार न सहना व्यक्ति की स्वयं की दुर्बलता है। इस दुर्बलता के कारण दूसरे का अस्तित्व समाप्त करना सर्वथा अनुचित है, अन्याय है। स्वस्थ जनतंत्र और धर्म—इन दोनों ही क्षेत्रों में ऐसी प्रवृत्ति को कोई अवकाश नहीं है।

मैं जहां तक सोचता हूं, लोकतंत्र सफल हो तो धर्म और अध्यात्म को भी फलने-फूलने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है। जनतंत्र के विकास में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव-मानव के चैतन्य को विकसित होने का अवसर मिलता है।

धर्म और संप्रदाय

धर्म के क्षेत्र में एक बहुत बुरी बात यह हुई है कि लोगों ने धर्म को गौण करके धर्म-संप्रदायों को प्रमुखता दे दी, जबकि धर्म मुख्य है और संप्रदाय गौण। गहराई से देखा जाए तो संप्रदायों का अस्तित्व धर्म के अस्तित्व के साथ ही जुड़ा है। यानी धर्म है तो संप्रदाय हैं, अन्यथा उनका कोई अस्तित्व नहीं है। धर्म शाश्वत तत्त्व है, त्रैकालिक सत्य है। हालांकि धर्म के प्रचार-प्रसार और उसकी सुरक्षा की दृष्टि से संप्रदायों का अपना एक उपयोग है, तथापि धर्म का अस्तित्व उनके अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। आज तक संसार में न जाने कितने-कितने संप्रदाय उदय में आकर अस्तित्वहीन हो गए, उनका लेखा-जोखा किया जाना भी असंभव है, परंतु धर्म सलामत है। भविष्य में भी वह सदा बना रहेगा। लेकिन किसी संप्रदाय की शाश्वतता के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। मुझसे कोई मेरा परिचय पूछता है तो मेरा पहला उत्तर होता है कि मैं एक मानव हूं। उसके बाद का उत्तर होता है कि मैं एक धार्मिक हूं। इस क्रम में तीसरा परिचय एक जैनाचार्य का और अंतिम परिचय तेरापंथ संप्रदाय के आचार्य का होता है। यह धर्म को प्रमुख और संप्रदाय को गौण मानने का ही परिणाम है। मैं चाहता हूं, इस दृष्टि का व्यापक विकास हो, ताकि धर्म को अपनी मूल प्रतिष्ठा मिल सके। धर्म जब अपनी मूल प्रतिष्ठा पर होगा तो अलग-अलग संप्रदाय हमारे लिए कोई कठिनाई या परस्पर संघर्ष का कारण नहीं बनेंगे। आप निश्चित मानें, जब तक यह स्थिति नहीं बनती, तब तक वैचारिक भेद, उपासना-पद्धति के भेद आदि छोटी-छोटी बातों के कारण संप्रदाय-संप्रदाय में परस्पर होनेवाला संघर्ष नहीं टाला जा सकता। बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि संघर्ष संप्रदायों के बीच होता है और बदनाम धर्म होता है, जबकि धर्म तो परस्पर मैत्री का नाम है, सौहार्द का संदेशवाहक है। अपेक्षा है, धर्म को इस बदनामी से बचाया जाए।

बंधुओ! यह मुख्य और गौण की बात राष्ट्रीय संदर्भ में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आज भाषा, जाति, प्रांत आदि के नाम पर जितने विवाद हो रहे हैं, उसका मूलभूत कारण यही तो है कि लोगों ने गौण को मुख्य मान लिया है और मुख्य को गौण। राष्ट्र के समक्ष भाषा, जाति, प्रांत आदि गौण हैं, पर लोगों ने राष्ट्र को गौण कर दिया है और भाषा आदि को मुख्य। राष्ट्र के विकास में यह एक बड़ी बाधा है। यदि यह बाधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूर हो जाती है तो राष्ट्र के विकास को नया आधार मिलता है। जनता में सौहार्द, भाईचारा और मैत्री का वातावरण बनता है, जो कि किसी राष्ट्र के विकास का मौलिक आधार है।

स्वागत अध्यात्म का

आगमन के अवसर पर आपने हम साधु-संतों का स्वागत किया, यह भारतीय संस्कृति की गरिमा के अनुरूप ही है। भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान संस्कृति है, अध्यात्मप्रधान संस्कृति है। साधु-संत त्याग के प्रतीक होते हैं, अध्यात्म के मूर्त रूप होते हैं। इसलिए साधु-संतों का स्वागत त्याग का स्वागत है, अध्यात्म का स्वागत है, भारतीय संस्कृति का स्वागत है। इसी आधार पर मैं आपका यह स्वागत स्वीकार कर रहा हूं। यदि यह स्वागत मेरा व्यक्तिगत होता तो मुझे स्वीकार्य नहीं था। अस्तु, आपने अपना कर्तव्य निभाया, पर इस संदर्भ में मैं एक बात कहना चाहता हूं। हालांकि शाब्दिक स्वागत भी बिना हृदय की भावना के नहीं हो सकता, इसलिए उसकी भी अपनी सार्थकता है, तथापि संतों का सच्चा स्वागत तभी हो सकेगा, जब आप भी उनके जीवन से प्रेरणा लेकर अपने जीवन में यथाशक्य त्याग को स्वीकार करेंगे, धर्म को व्यवहारगत बनाएंगे। अणुव्रत की चर्चा मैंने पूर्व में की थी। यह आपके लिए राजपथ है। आप इस राजपथ पर आएं। भर्तृहरि ने कहा है–

- **को लाभः ? गुणिसंगमः**.....
- **का हानिः ? समयच्युतिः**.....

– गुणी व्यक्तियों का संपर्क लाभ है और समय को बरबाद करना हानि है।

अतः हर व्यक्ति समय का उपयोग करके सत्संग का लाभ उठाए, यह अपेक्षित है। निस्संदेह आपके जीवन में त्याग के फूल खिलेंगे, धर्म की सुरभि फूटेगी।

श्रीगंगानगर

२७ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३ : आत्मा और पुद्गल

हमारे सामने दो तत्त्व हैं—अध्यात्म और भूत। अध्यात्म आत्मा को केंद्र मानकर चलता है तथा भूतवाद जड़ को आधार मानकर। अध्यात्म और भूत दोनों शब्द प्राचीन हैं। जैन-दर्शन में भूत की जगह *पुद्गल* शब्द का प्रयोग हुआ है। पुद्गल मूर्त पदार्थ है। वह दृश्य, श्रव्य, वक्तव्य, रस्य, गंध्य और स्पर्श्य है। यानी पुद्गल देखे जा सकते हैं, सुने जा सकते हैं, बोले जा सकते हैं, चखे जा सकते हैं, सूंघे जा सकते हैं और उनका स्पर्श किया जा सकता है।

आत्मा का जन्म-मरण

आत्मा चेतन है और पुद्गल जड़ है। ये दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी हम आत्मा का सही रूप जान नहीं सकते। इसका कारण ? कारण यह कि हमारे सामने आत्मा का जो रूप है, वह जड़-चेतन का मिश्रण है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान और दर्शनमय है। पुद्गल का स्वभाव है—गलन-मिलन। पुद्गल बनता और बिगड़ता है, जबकि आत्मा अजन्मा और अविनाशी है। आत्मा के मरने और जनमने की जो बात कही जाती है, उसका कारण है आत्मा के साथ चिपका हुआ पुद्गल-समूह।

साथ ही आत्मा के बिना शरीर का भी जन्म-मरण नहीं होता। अतः हमें मानना होगा कि आत्मा से संपृक्त शरीर एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया से जन्म-मरण करता रहता है।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा का सही स्वरूप बहुत कम लोग जानते हैं। इसका एक बड़ा कारण है—आत्मा के बारे में दर्शनों में मतैक्य का न होना। यह दर्शनों की विभिन्नता मिट भी नहीं सकती, क्योंकि जो व्यक्ति आत्मा को जिस रूप में देखता है, वह उसे उसी रूप में संसार को बताता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथी कैसा है

चौराहे पर खड़े हाथी के गले में बंधी घंटी की आवाज सुनकर छह अंधे व्यक्ति उसे देखने के लिए चल पड़े। हाथी के पास पहुंचकर छहों ने स्पर्श के द्वारा उसे देखा। छहों के निष्कर्ष अलग-अलग थे–

- पहला व्यक्ति बोला–'हाथी खंभे जैसा है।'
- दूसरा व्यक्ति बोला–'हाथी मूसल जैसा है।'
- तीसरा व्यक्ति बोला–'हाथी बांस की लकड़ी जैसा है।'
- चौथा व्यक्ति बोला–'हाथी छत जैसा है।'
- पांचवां व्यक्ति बोला–'हाथी केले जैसा है।'
- छठा व्यक्ति बोला–'हाथी छाज जैसा है।'

एक ही हाथी के बारे में छहों की विसंवादपूर्ण बातें उनके लिए बहुत बड़ी समस्या बन गई। हर व्यक्ति स्वयं को सच्चा तथा शेष पांचों को झूठा बताने लगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बात सही होने का आग्रह था। ऐसी अवस्था में झगड़े का निपटारा कैसे हो? स्थिति यहां तक बनी कि वे गाली-गलौज पर उतर आए।

उन व्यक्तियों को झगड़ते देखकर एक चक्षुष्मान व्यक्ति वहां आया। उसने पूछा–'तुम लोग लड़ते क्यों हो?' इस प्रश्न के उत्तर में सब अंधे एक साथ बोल पड़े–'मैं सच्चा हूं, पर मुझे ये असत्य साबित करना चाहते हैं।' उस चक्षुष्मान व्यक्ति ने उनकी बात का अध्ययन किया और ठंडे दिमाग से गहराई से सोचा। यह जरूरी भी था, क्योंकि न्याय वही कर सकता है, जो विवाद का कारण अच्छे ढंग से समझे और संतुलित दिमाग से उसके समाधान के बारे में चिंतन करे। उस व्यक्ति ने उन छहों अंधे व्यक्तियों से कहा–'तुम लोग एक बार मेरे साथ पुनः हाथी के पास चलो, फिर सारा विवाद स्वतः समाप्त हो जाएगा।'

हाथी के पास पहुंचकर उसने पहले व्यक्ति को हाथी का पैर पकड़ाया। दूसरे को दांत पकड़ाया। तीसरे को पूंछ पकड़ाई। इसी प्रकार चौथे को पीठ, पांचवें को सूंड और छठे को कान पकड़ाया। हर व्यक्ति ने कहा–'हां, हाथी यही है।'

झगड़े का मूल पकड़कर उस चक्षुष्मान ने उन्हें समझाया–'खंभा-सा जो है, वह हाथी का पैर है। मूसल-सा हाथी का दांत है। बांस-सी हाथी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पूंछ है। छत-सी हाथी की पीठ है। केले-सी हाथी की सूंड है और छाज-सा हाथी का कान है। तुम लोग जब तक एक-एक अवयव के आधार पर झगड़ते रहोगे, तब तक हाथी का सही स्वरूप नहीं जान सकोगे। केवल पैर हाथी नहीं हो सकता। केवल पीठ हाथी नहीं हो सकती।'''''और इन अवयवों के बिना भी हाथी नहीं हो सकता। इसलिए तुम सब सच्चे हो, क्योंकि सबकी बातों में सत्य का अंश है।'

आत्मा के बारे में भी यही झगड़ा चल रहा है। आज हमारे सामने ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो आत्म-तत्त्व का संपूर्ण ज्ञाता या साक्षात द्रष्टा हो। अननुभूत तत्त्व के बारे में कोई कुछ बता नहीं सकता। इस स्थिति में 'मैं जानता हूं वही ठीक है'—यह कथन झगड़े को जन्म देता है।

नय : दुर्नय

जैन-दर्शन में दो शब्द हैं—नय और दुर्नय। किसी वस्तु का एकांगी ज्ञान करके यह कहना कि यही तत्त्व ठीक है, यह दुर्नय है। इसी ज्ञान के विषय में यह कहना कि मैंने सत्य को यहां तक पाया है, इससे आगे भी सत्य हो सकता है, लेकिन जब तक उसे समझ नहीं लेता, तब तक उसे स्वीकार नहीं कर सकता, नय है।

अनाग्रही : आग्रही : दुराग्रही

आग्रही और अनाग्रही वृत्तियां ही व्यक्ति को सत्य से दूर और निकट ले जाकर छोड़ जाती हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने *अध्यात्मोपनिषद्* में कहा है—

आग्रही बत! निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
आग्रहेण रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

— आग्रही व्यक्ति सत्याभास को सत्य मान लेता है तथा उसे ही साबित करने की कोशिश करता है। अनाग्रही व्यक्ति जो कुछ जानता है, उसे कहता है, किंतु वह यदि सही नहीं होता है तो अपने चिंतन को मोड़ देता हुआ युक्तिसंगत विचार स्वीकार कर लेता है।

संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं—अनाग्रही, आग्रही और दुराग्रही। अनाग्रही वह होता है, जो अपनी बात युक्ति और तर्क से समझाए तथा दूसरे की बात युक्तिसंगत हो तो उसे स्वीकार भी करे। ऐसा व्यक्ति अच्छा माना जाता है, क्योंकि वह अपनी दृष्टि से सही बात पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अड़ा रहता है, लेकिन तब तक ही, जब तक उसे स्वयं के गलत होने का भान नहीं हो जाता। अनाग्रही होना सबसे अच्छा है, क्योंकि उसके द्वारा किसी प्रकार के वाद-विवाद की संभावना नहीं रहती, परंतु अनाग्रही होने में भी विवेक होना अत्यंत आवश्यक है। **गंगा गए तो गंगादास और यमुना गए तो यमुनादास**—यह विवेक-शून्य अनाग्रह अच्छा नहीं होता।

प्रसंग देवगढ़ का

मेवाड़ प्रदेश में देवगढ़ नाम का एक कस्बा है। वहां के रावजी के पास कई आदमी रहते थे। वे स्वयं को रावजी के परम भक्त मानते थे। एक दिन रावजी ने सोचा कि मेरे पास जो आदमी रहते हैं, उनकी पहचान तो करनी चाहिए कि ये सब मूर्ख ही हैं या इनमें कोई काम का आदमी भी है।

एक दिन का प्रसंग। सब आदमी बैठे हुए थे। रावजी बोले—'देखो सभासदो! हमारे सामने जो चट्टान है, वह आजकल छोटी होने लग गई है।' छूटते ही सभी सभासद एक साथ बोल पड़े—'आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। हमें भी ऐसा ही लग रहा है।'

कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन रावजी ने कहा—'अब तो यह चट्टान काफी छोटी हो गई है।' सभासदों ने हां में हां मिलाते हुए कहा—'आपकी बात सवा सोलह आना यथार्थ है। सचमुच चट्टान बहुत छोटी हो गई है।' लगभग एक महीने का समय निकल गया तो एक दिन रावजी ने कहा—'अब तो यह चट्टान पुनः बढ़ने लग गई है।' सभी सभासद एक स्वर में बोले—'हां, बिलकुल ऐसा ही है। चट्टान फिर बढ़ने लगी है।'

रावजी ने देखा कि ये मेरे तथाकथित स्वामिभक्त तो गोबर के किले हैं। इनमें इतना ही चिंतन नहीं है कि चट्टान भी कभी बढ़ या घट सकती है क्या। चट्टान कोई पौधा तो नहीं, जो पानी देने से बढ़ जाए और न देने से सूख जाए। उन्होंने उन सब व्यक्तियों के सामने यह बात कही तो वे बोले—'आप हमारे स्वामी हैं। ऐसे में हम आपकी बात से असहमत कैसे हो सकते हैं?' रावजी ने कहा—'तुम स्वामिभक्त जरूर हो, पर निरे मूर्ख हो। जिस व्यक्ति के पास सब निरे मूर्ख-ही-मूर्ख इकट्ठे हो जाएं, वह व्यक्ति कभी बड़ा नुकसान उठा सकता है। उसका अस्तित्व तक समाप्त हो सकता है।'

कहा जाता है कि रावजी ने उन सबकी छुट्टी कर दी। इस घटना से हम जान सकते हैं कि ऐसे विवेकहीन अनाग्रही भी अच्छे नहीं होते।

आग्रही वह होता है, जो अपना विचार या चिंतन ही सही मानता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और विभिन्न युक्तियों एवं तर्कों से उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है। दूसरे की बात समझने का प्रयत्न ही नहीं करता।

दुराग्रही वह होता है, जो न तो स्वयं तत्त्व समझता है और न दूसरों को समझाने की कला जानता है। बस, अपनी बात पर अड़ा रहता है। 'धरती का बीच वही है, जो मैं मानता हूं। विश्वास न हो तो माप कर देख लो।'—इस प्रकार की बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति सत्य तक नहीं पहुंच सकता।

आज भी तीनों प्रकार के व्यक्ति हमें मिलते हैं। अनाग्रही अपने विवेक को अभिव्यक्ति देते हैं। आग्रही एक हद तक समझकर चलते हैं, पर इन दोनों कोटियों के व्यक्ति कम ही होते है। अधिकतर व्यक्ति तो दुराग्रही ही होते हैं।

आत्मा का स्वरूप

मैं आत्मा के बारे में आपको प्रामाणिकता और निष्ठापूर्वक बता रहा हूं। मुझसे कोई यह पूछ सकता है कि क्या आपने आत्मा को आंखों से देखा है। इसका समाधान यह है कि आत्मा आंखों से देखने की चीज नहीं है। मैं आत्मा का जो स्वरूप बता रहा हूं, वह उसका एक अंग है। दूसरे-दूसरे अंग सामने आ जाएं तो स्वरूप पूर्ण हो सकता है।

मेरी दृष्टि में आत्मा ज्योतिर्मय, ज्ञानमय और शक्तिमय पिंड है। पुरुष, आत्मा, चेतन, क्षेत्रज्ञ आदि आत्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। परमात्मा आत्मा का संपूर्ण विकसित रूप है। आत्मा की अनंत अवस्थाएं हैं। हम दस-बीस अवस्थाएं देख सकते हैं, पर अनंत अवस्थाएं हमारे ज्ञान का विषय नहीं बन सकतीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म यंत्र भी सब अवस्थाएं नहीं पकड़ सकता।

परमात्मा बनने की प्रक्रिया

आत्मा तब तक परमात्मा नहीं बन सकती, जब तक वह जन्म-मृत्यु की परंपरा से मुक्त नहीं हो जाती। जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं, जब आत्मा को ज्ञान हो जाता है, उसकी विवेक-चेतना जग जाती है, भेद-विज्ञान के द्वारा उसे **आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः** की सचाई का ज्ञान हो जाता है। शरीर और आत्मा का सर्वथा संबंध-विच्छेद होने से ही उसका (आत्मा का) मूल रूप यानी शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है। आत्मा और शरीर की सर्वथा विच्छिन्नता की इस भूमिका में पहुंचने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय, ध्यान, सत्संग और आत्म-चिंतन का क्रम बताया गया है। इस प्रक्रिया से सब उलझनें समाहित हो जाती हैं।

आत्मा व्यक्तिगत है

आत्मा हम सबके पास है। वह व्यक्तिगत है, हमारी निजी संपत्ति है। उधार ली हुई नहीं है। यदि आत्मा को व्यक्तिगत न मानें तो दो व्यक्तियों का सुख-दुःख अलग-अलग नहीं हो सकता। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु आदि भी अलग-अलग नहीं हो सकते। अतः मानना होगा कि मनुष्य की ही नहीं, हर पशु, हर पक्षी की आत्मा भी व्यक्तिगत है। हर प्राणी की आत्मा व्यक्तिगत है। कर्म-पुद्गलों के संबंध से हर प्राणी की आत्मा अनेक अवस्थाओं में हमारे सामने आती है।

परमाणु और वैज्ञानिक खोज

आत्मा के बाद हमारा विवेच्य विषय है—पुद्गल। पुद्गल क्या है? स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से युक्त द्रव्य को पुद्गल कहते हैं। परमाणु, अणु (देश) और स्कंध—ये पुद्गल की परिणतियां है। पुद्गल का सबसे सूक्ष्म रूप परमाणु है। वैज्ञानिक कहते हैं कि हमने परमाणु को पा लिया है, पर मैं मानता हूं कि उन्होंने परमाणु को नहीं पाया है। वैज्ञानिक पहले भी कहते थे कि हमने परमाणु को जान लिया है, किंतु बाद की खोजों से उन्होंने अपनी पहली मान्यता में संशोधन कर लिया। आज वे जिसे परमाणु कह रहे हैं, जैन-सिद्धांत की दृष्टि से उसके भी अनंत खंड हो सकते हैं, क्योंकि सूक्ष्म यंत्र से दृश्य पुद्गल भी अनंतप्रदेशी स्कंध ही हो सकता है। उससे कम प्रदेशोंवाला पुद्गलस्कंध यंत्रों से भी नहीं देखा जा सकता।

दो प्रकार के परमाणु

जैन-शास्त्रों में दो प्रकार के परमाणु बताए गए हैं—व्यवहार परमाणु और निश्चय परमाणु। निश्चय परमाणु वह होता है, जिसका कोई भी खंड न हो सके। व्यवहार परमाणु अनंतप्रदेशी स्कंध ही होता है, पर व्यवहार में चूंकि वह सबसे सूक्ष्म लगता है, इसलिए उसे भी परमाणु मान लिया गया है।

अनंत परमाणुओं के मिलने से निष्पन्न पुद्गलस्कंध आत्मा के काम आते हैं। खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, बोलना, चिंतन करना, श्वास लेना.....सभी क्रियाओं में पुद्गलों की अनिवार्य सहायता रहती है। कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है कि पर्वत पर अथवा अंतरिक्ष में जानेवाले व्यक्ति यहां से ऑक्सीजन लेकर जाते है, क्योंकि वहां प्राणवायु नहीं है अथवा स्वल्प है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्वास के काम आने योग्य पुद्गल वहां नहीं हैं अथवा स्वल्प हैं। यहां समझने की बात यह है कि तत्त्वतः जीव की कोई भी प्रवृत्ति बिना पुद्गलों की सहायता के नहीं हो सकती।

सुख-दुःख और पुद्गल

इससे और आगे चलें तो हमें मानना होगा कि प्राणी का सुख-दुःख भी पुद्गलों के कारण ही है। हालांकि कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि सुख-दुःख धर्मराज देते हैं। वे संसार-भर के प्राणियों के पुण्य-पाप का पूरा-पूरा लेखा-जोखा करते हैं। उसी के आधार पर वे सभी के सुख-दुःख का निर्णय करते हैं। पर यह बात तथ्यपरक नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्राणी अपनी सत-असत प्रवृत्ति के द्वारा पुद्गल अपनी ओर आकर्षित करता है और वे पुद्गल आत्मा से संबद्ध हो जाते हैं। कालांतर में उनकी प्रतिक्रिया के रूप में प्राणी सुख-दुःख का वेदन करता है।

आत्मा और पुद्गल का संबंध

आत्मा की विशद खोज होने पर भी अब तक यह पता नहीं चला है कि आत्मा और पुद्गल का संबंध कब और कैसे होता है। अमुक समय से संबंध मानने का अर्थ यह है कि पहले आत्मा मुक्त थी, परंतु मुक्त आत्मा के बंधन होने का कोई कारण नहीं मिलता। इसलिए दार्शनिकों ने इस गुत्थी को सुलझाने के लिए बताया कि आत्मा और पुद्गल का संबंध अनादि है और यह संबंध तब तक रहता है, जब तक आत्मा का पुद्गलों से एकदम संबंध-विच्छेद नहीं हो जाता।

अध्यात्म और भूत की चर्चा के अंतर्गत हमने आत्मा और पुद्गल को समझा। अध्यात्म और भूत—ये दोनों सापेक्ष तत्त्व हैं। कोई व्यक्ति एकांततः आध्यात्मिक या भौतिक नहीं रह सकता। एक ही बात को मान लेना उचित नहीं है। हम ऐकांतिक न बनें, बल्कि जिज्ञासु रहें। जिज्ञासु-दृष्टि से ही तत्त्व मिल सकता है। हम आत्मा को किसी स्थिति में भुला नहीं सकते। साथ ही पुद्गलों की उपेक्षा भी नहीं कर सकते।

हालांकि अध्यात्म के विकास की प्रक्रिया और भूत के विकास की प्रक्रिया दोनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी एक का विकास दूसरे के लिए बाधक बनता है। जैसे—एक व्यक्ति उपवास करता है। उपवास आत्मा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खुराक है, पर इससे शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, क्योंकि शरीर की खुराक भोजन है।

हम प्रतिदिन भोजन करते हैं। क्यों? शरीर को पोषण देने के लिए। हालांकि हमारा मूल लक्ष्य आत्म-विकास है, शरीर तो अंततः त्याज्य है, तथापि आत्म-विकास की दृष्टि से शरीर की भी अपनी एक उपयोगिता है। हम ध्यान, जाप, स्वाध्याय, सत्संग, तपस्या आदि शरीर से ही तो करते हैं। यदि शरीर न हो तो ये क्रियाएं नहीं की जा सकतीं। इसलिए शरीर के साथ समझौता करके चलना होता है। उसे सहयोगी के रूप में पोषण देना आवश्यक होता है। हां, उसके प्रति हमारी आसक्ति न हो, इस दृष्टि से सजग रहने की अपेक्षा है। इसे स्पष्ट करने के लिए शास्त्रों में एक उदाहरण दिया गया है–

चोर ने सेठ के बच्चे ही हत्या कर दी। चोर पकड़ा गया। राजाज्ञा से राजपुरुष उसे कारावास में ले गए। उस समय कारावास में खोड़े होते थे। चोर को एक खोड़े में डाल दिया गया। संयोग की बात। कुछ दिनों पश्चात वह सेठ भी जगात की चोरी के अपराध में पकड़ा गया और उसी खोड़े में डाल दिया गया। सेठ ने अपने पुत्र के हत्यारे को पहचान लिया। उसके प्रति सेठ के मन में आक्रोश बहुत था, पर अपनी परिस्थिति पर विचार करता हुआ वह शांत रहा।

सेठ संपन्न था। अतः रोजाना दोनों समय उसके घर से मनोज्ञ रसोई आती। चोर को भोजन मिलता प्रशासन की ओर से। वह मनोज्ञ नहीं होता था। सेठ को भोजन करते देखकर चोर के मुंह में पानी भर आता। एक दिन उसने सेठ से कहा–'आप भोजन का थोड़ा हिस्सा मुझे भी दें।' सेठ बोला–'तुम मेरे पुत्र के हत्यारे हो, मैं तुम्हें भोजन दूं, यह कैसे हो सकता है!' और उसने भोजन नहीं दिया।

सायंकाल सेठ को शौच-निवृत्ति के लिए जाने की आवश्यकता हुई। पर जाता कैसे? सेठ और चोर दोनों के पैर एक ही खोड़े में जो थे। सेठ ने चोर को चलने के लिए कहा तो वह इनकार हो गया। सेठ ने मिन्नतें कीं तो वह बोला–'घर का भोजन आपने किया है, मैंने नहीं। तब आप ही जाइए, मैं क्यों जाऊं? अब सेठ को अनुभव हुआ कि इसके चले बिना तो मैं इधर से उधर भी नहीं हो सकता, इसलिए इसे नाराज करना ठीक नहीं है। इसके साथ तो समझौता करके चलने में ही समझदारी है। वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोला–'भाई! पीछे की बात छोड़ो। आगे से रसोई आएगी, तब पहले तुम्हें भोजन कराऊंगा और बाद में मैं करूंगा। पर अभी तुम साथ चलो।' शर्त पक्की हो गई। चोर सेठ के साथ चला गया।

थोड़ी देर पश्चात सेठ का नौकर भोजन लेकर आया। वचनबद्धता के अनुरूप सेठ ने पहले चोर को भोजन कराया, फिर खुद खाया। नौकर ने घर जाकर सारी बात सेठानी से कही। सेठानी को बहुत बुरा लगा।

कारावास की अवधि पूरी हुई। सेठ छूटकर घर पहुंचा। सेठानी को खबर पड़ चुकी थी, पर उसने सेठ की कोई आव-भगत नहीं की। सेठ के भवन में प्रवेश कर देने पर भी सामने नहीं आई। सेठ को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह स्वयं उसके कक्ष में पहुंचा और उसने नाराजगी का कारण जानना चाहा। सेठानी बोली–'मैं पुत्र की हत्या के दुःख से सूखकर कांटा बन रही हूं और आपको उसका कोई दर्द ही नहीं है। मानो वह मेरा ही पुत्र था, आपके कुछ लगता ही नहीं था।' सेठ पत्नी के कथन का आशय नहीं समझ पाया। उसने पूछा–'ऐसी क्या बात हो गई, जिससे मुझे पुत्र का विरह न खलने की बात कह रही हो?' सेठानी उसी भावप्रवाह में बोली–'बात क्या आपसे अज्ञात है? यदि आपको पुत्र से प्रेम होता तो आप पुत्र के हत्यारे को रसोई नहीं खिलाते।' अब सेठ को पत्नी की नाराजगी का कारण समझ में आया। उसने कहा–'यदि एक दिन तुम कारावास में आ जाती तो इसका रहस्य स्वयं समझ लेती।' सेठानी ने पूछा–'कैसे?' सेठ ने कहा–'वहां मैं और वह पुत्र-हत्यारा चोर दोनों एक ही खोड़े में थे। यदि मैं उसे भोजन न कराता तो मेरी दूसरी आवश्यकताएं पूरी कैसे होतीं? और तो क्या, मेरा शौच का काम भी नहीं हो पाता। इसलिए मुझे मजबूर होकर ऐसा करना पड़ा।'

सेठानी ने अब पति की परिस्थिति समझी और समझते ही उसकी नाराजगी कपूर हो गई। अपने अशिष्ट व्यवहार के लिए उसने सेठ से क्षमा मांगी।

बंधुओ! इस उदाहरण से आप यह तथ्य समझ सकते हैं कि आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए शरीर का पोषण करना आवश्यक है, क्योंकि शरीर और आत्मा दोनों एक खोड़े में हैं। यदि वह उसे उचित पोषण नहीं देगा तो स्वस्थ कैसे रहेगा? ऐसी स्थिति में वह ध्यान, स्वाध्याय, जप, सेवा, तपस्या आदि के रूप में साधना कैसे कर सकेगा? पर यहां प्रायः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बहुत बड़ी भूल हो जाती है। व्यक्ति आत्मा को भूलकर शरीर के सौंदर्य में उलझ जाता है, उसे ही बनाने-संवारने में जुट जाता है। आत्म-विकास का लक्ष्य लगभग गौण हो जाता है।

यह भूल न हो, इसके लिए **आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः** का सिद्धांत समझना आवश्यक है। यह सिद्धांत जब समझ में आ जाता है, तब व्यक्ति शरीर और आत्मा के विसंबंध की बात सोचने लगता है। वह शरीर में आसक्त नहीं होता। आत्मोदय का लक्ष्य उसके सामने सदैव स्पष्ट रहता है।

मृत्यु के बाद शरीर से संबंध टूटता है, पर यह छूटनेवाला शरीर मात्र स्थूल शरीर है। सूक्ष्म शरीर मरने के बाद भी आत्मा को नहीं छोड़ते और कालांतर में दूसरे स्थूल शरीर की रचना कर लेते हैं। सूक्ष्म शरीर छूटने से ही आत्मा का सही स्वरूप प्रकट होता है, आत्मानंद की प्राप्ति होती है। हमें आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करना है, आत्मानंद को उपलब्ध होना है, इसलिए सूक्ष्म शरीरों से मुक्ति पाने के लिए सचेष्ट होना होगा। भगवान महावीर ने इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन किया है। हम पदन्यास करें। सही दिशा में बढ़नेवाले चरणों के लिए कोई मंजिल दूर नहीं होती।

श्रीगंगानगर
२८ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४ : मद्यपान : एक घातक प्रवृत्ति

आज का कार्यक्रम *मद्य-निषेध सम्मेलन* के रूप में आयोजित है। कभी-कभी मन में आता है कि धर्मस्थान पवित्र स्थल होते हैं, वहां *मद्य-निषेध सम्मेलन*-जैसे कार्यक्रम क्यों होते हैं; यहां तो अध्यात्म की गहरी चर्चा होनी चाहिए, आत्मा-परमात्मा के विषय में चिंतन चलना चाहिए; इन्हें छोड़कर ऐसी तुच्छ बातों में क्यों जाएं। लेकिन फिर दूसरा चिंतन आता है कि आखिर धर्मस्थानों की पवित्रता है क्या; कोई स्थान तो पवित्र या अपवित्र होता ही नहीं; पवित्रता-अपवित्रता तो वहां आनेवाले व्यक्तियों पर निर्भर है; धर्मस्थानों में सब प्रकार के लोग आते हैं; उनमें नई पीढ़ी के लोग भी होते हैं; यदि उनके मन में युग की बुराइयों के प्रति घृणा के भाव नहीं होंगे तो पवित्रता कायम कैसे रहेगी!

धार्मिकता की पृष्ठभूमि

हम लोग आपको धर्म की ऊंची बातें सुनाना चाहते हैं, पर सबसे पहले पृष्ठभूमि बनाना जरूरी है। पात्र बिना धर्म टिकेगा कहां? कहा जाता है कि शेरनी का दूध कांस्य, ताम्र या पीतल के बरतन में नहीं टिकता। उसके लिए तो स्वर्णपात्र की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार हम यह समझें कि धार्मिकता की पृष्ठभूमि भी ठीक हो। धार्मिकता की पृष्ठभूमि है नैतिकता; और नैतिक बनने के लिए बुराइयों का परित्याग व अच्छाइयों स्वीकरण अपेक्षित है।

संन्यास और नशा

नशा भी एक बुराई है और ऐसी बुराई है, जिससे सारे संसार को बचाना आवश्यक है। नशे के रूप में कुछ पदार्थों का उपयोग तो आजकल धार्मिक कहलानेवाले भी करने लगे हैं। गांजा वे योगी पीते हैं, जो अपने-आपको भगवान के भजन में मस्त मानते हैं। तथाकथित योगियों के पास सहज मस्ती तो होती नहीं, इसलिए गांजा-जैसे मादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों का सेवन करके पागल बनते हैं। तंबाकू तो मानो संन्यास का एक अंग ही बन गया है।

मैं अवाक रह गया

मैं उत्तर प्रदेश की यात्रा पर था। उस दौरान एक दिन एक संन्यासी मेरे पास आया और बोला–'बाबाजी! तंबाकू लाइए।' मैंने कहा–'हम तंबाकू न तो रखते हैं और न पीते ही हैं।' संन्यासी के लिए यह अजूबा था। वह बोला–'अच्छे बाबा बने! अपने पास तंबाकू भी नहीं रखते!'

सुनकर मैं अवाक रह गया। मन में विचार आया कि साधु-संत स्वयं जब नशीले और मादक पदार्थ काम लेने लग गए तो वे जन-साधारण को क्या समझाएंगे। पर यह बात आज ही है, ऐसी बात भी नहीं है। प्राचीन काल में भी कुछ तथाकथित साधु-संत इस बुराई के शिकार होते थे। कुछ तो शराब तक पी लेते थे। इसी लिए *दशवैकालिक* सूत्र में कहा गया है–

- **वड्ढई सोंडिया तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो।**
  अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया॥
- **निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहि दुम्मई।**
  तारिसो मरणंते वि, नाराहेइ संवरं॥

– शराब का सेवन करनेवाले भिक्षु के उन्मत्तता, माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता–ये रोग बढ़ते हैं। वह चोर की भांति उद्विग्न रहता है। और तो क्या, वह मरणांत काल में चारित्र की आराधना नहीं कर सकता।

सीधी भाषा में कहा जाए तो मद्य का सेवन करनेवाला साधु बहुत बड़ा पापी होता है। इस बुराई के द्वारा वह अपने सौभाग्य की नींव खोदता है, अपने लिए नरक तैयार करता है। इसलिए किसी साधु को मद्य का सेवन नहीं करना चाहिए।

बुराई सदा बुराई है

इस संदर्भ में एक बात बहुत गंभीरता से समझने की है। प्राचीन काल से यह प्रवृत्ति चली आ रही है, इस कारण यह बुराई नहीं है, ऐसा मानना भयंकर भूल हैं। बुराई तो हर युग में बुराई ही रहती है। उसके घातक परिणाम तो भोगने ही होते हैं। हम ग्रंथों में पढ़ते हैं कि यादवों का विनाश इसी मद्यपान के दुर्व्यसन के कारण हुआ था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मद्यपान महाप्रमाद है

मद्यपान को महाप्रमाद माना गया है। मद्य, कषाय, विषय, निद्रा और विकथा—इन पांच प्रमादों में भी पहला स्थान मद्य का है। एक मद्यप प्रमादी होता है, क्योंकि वह अपना होश भूल जाता है और उस पर उन्माद हावी/प्रभावी हो जाता है। उन्माद की स्थिति आप जानते ही हैं। उसके वशीभूत होकर आदमी कौन-सा अकार्य नहीं कर लेता? अतः अपना हित चाहनेवाले किसी व्यक्ति को इसका सेवन नहीं करना चाहिए।

जैन, बौद्ध, वैष्णव, नामधारी सिक्ख, विश्नोई तथा कुछ मुसलमानों में भी मद्य का सर्वथा निषेध था, किंतु आज हम दृष्टि उठाकर देखते हैं तो पाते हैं कि इन समाजों में भी इस बुराई ने अपने पैर फैलाने शुरू कर दिए हैं। यह स्थिति चिंतनीय है। अतः इसका प्रतिकार करने के लिए हमें तीव्र प्रयास करना होगा।

हालांकि जड़-मूल से इस बुराई को उखाड़ना सहज बात नहीं है, तथापि इस दिशा में तीव्र प्रयास तो होना ही चाहिए। इससे बढ़ती हुई इस दुष्प्रवृत्ति पर अंकुश लग सकेगा तथा जो लोग इस बुराई से ग्रस्त हैं, उनकी संख्या भी धीरे-धीरे कम हो सकेगी।

इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने योग्य है। आज का युग वैज्ञानिक युग है। इसमें हर तथ्य व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना पड़ता है। आज उपदेश से जो काम नहीं हो सकता, वह युक्तिपूर्वक समझाने से होता है। यदि हम युग की नई पीढ़ी को इस बुराई से मुक्त रखना/करना चाहते हैं तो इस विषय से संबद्ध विविधमुखी अध्ययन प्रस्तुत करना होगा, स्वास्थ्यशास्त्रीय, मानसशास्त्रीय, शरीरशास्त्रीय और अध्यात्मशास्त्रीय अध्ययनों को प्रयोगात्मक रूप देना होगा।

कुएं भांग पड़ी!

अभी प्रिंसिपलसाहब ने कहा कि शराब सभ्यता बन गई है, इसलिए हर वर्ग इससे प्रभावित हो रहा है, लेकिन मैं तो समझ नहीं पाता कि ऐसी दुर्गंधयुक्त चीज आदमी पीता कैसे है। कुछ दिनों पहले की बात है। मैं रात्रि में प्रवचन कर रहा था। प्रवचन में प्रसंगवश मैंने शराब के दुष्परिणामों की चर्चा की। प्रवचन के थोड़ी देर बाद मुझे बताया गया कि ठीक उसी समय शराब की बोतलों से भरे ट्रक में आग लग गई। बात यों बनी कि ट्रक-ड्राइवर बीड़ी पीता था। बीड़ी झाड़ने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिनगारियां एक बोतल पर जा पड़ीं। इससे वह बोतल फूट गई। उसके फूटने के साथ ही सैकड़ों बोतलों के फूटने की आवाज आने लगी। ड्राइवर डरा और धूल से बचाव करने लगा, लेकिन आग काबू में नहीं आई। संयोगवश नहर पास ही थी। ड्राइवर ने नहर तोड़कर ट्रक को पानी में ढकेल दिया और जैसे-तैसे बचाव किया।

सुबह हम उधर से गुजरे। हमने देखा कि नहर का पानी गंदा हो गया है। उसका रंग बदल गया है। दूर-दूर तक उसकी भयंकर बदबू फैल गई है। उसे सहना मुश्किल हो गया। मन में विचार आया कि आश्चर्य है, ऐसी शराब भी लोग पीते हैं! कोई किसी को कुछ कहनेवाला नहीं है। उस समय मुझे **कुएं में भांग पड़ी**—यह कहावत याद आ गई। हर व्यक्ति पर शराब का नशा छाया हुआ है। ऐसी स्थिति में कौन कहे; किसे कहे; क्या कहे?

बंधुओ! मदिरा पीना एक भयंकर बुराई है। इसलिए इससे स्वयं बचें और अपने बच्चों को बचाएं। गांधीजी जब विदेश गए, तब उनकी मां पुतलीबाई ने उन्हें मद्यपान, मांस-भक्षण और परस्त्री-गमन—इन तीनों बुराइयों से सर्वथा बचने के संकल्प करवाए थे। गांधीजी ने संकल्प दृढ़तापूर्वक निभाकर आदर्श उपस्थित कर दिया।

हमारे वर्तमान के होनहार विद्यार्थी भी दृढ़संकल्प करें और युग की इस बुराई को परास्त करके राष्ट्र के आदर्श नागरिक बनें। सरकार कानून के द्वारा अपने ढंग से काम कर रही है। कानून भय पैदा करता है और उससे अस्थायी काम होता है। इसका भी अपना एक उपयोग है, पर बुराई मिटाने का सही तरीका है—हृदय-परिवर्तन या विचार-परिवर्तन। विचार बदलने के बाद कानून स्वयं कृतार्थ हो जाता है। अणुव्रत हृदय-परिवर्तन के द्वारा जन-जन को इस बुराई से छुड़ाने का प्रयत्न करता है। इन पंद्रह-बीस वर्षों की अवधि में इस आंदोलन से प्रेरित होकर हजारों-हजारों लोगों ने इस बुराई से मुक्ति पाई है। आप भी इस बुराई के दुष्परिणाम समझकर इसे छोड़ने के लिए संकल्पबद्ध हों। यह संकल्पबद्धता निश्चय ही आपके जीवन में नया सूर्योदय लाएगी। आपमें से बहुत-से-व्यक्ति ऐसे भी होंगे, जो इस बुराई से बचे हुए हों। वे भी भविष्य की सुरक्षा की दृष्टि से संकल्प ग्रहण करें। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति यह संकल्प भी करे कि मैं वर्ष-भर में इतने व्यक्तियों की शराब छुड़ाऊंगा। यह प्रतिज्ञा बहुत मूल्यवान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक व्यक्ति किसी को हजार रुपए देता है। दूसरा व्यक्ति उसकी शराब छुड़ाता है। मैं मानता हूं, पहले व्यक्ति की तुलना में दूसरा व्यक्ति महान उपकारी है। इस क्रम से हर व्यक्ति शराब-मुक्ति के इस यज्ञ में अपनी आहुति दे सकता है। जिस प्रकार घट के भरने में पानी की हर बूंद महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार हर-एक व्यक्ति की यह आहुति इस यज्ञ की सफलता में महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञ की सफलता के साथ समाज और राष्ट्र के सुधार की अनेक-अनेक संभावनाएं भी जुड़ी हुई हैं। अस्तु, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र–तीनों के हितों से जुड़ा यह कार्यक्रम हम, आप और सबके सहयोग से आगे बढ़ेगा, ऐसी आशा करता हूं।

श्रीगंगानगर
२९ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५ : श्रद्धा और आचार की समन्विति

कई व्यक्ति सुनते बहुत हैं, पर श्रद्धा नहीं करते। कई श्रद्धा तो करते हैं, पर वह औपचारिक ही होती है,क्योंकि थोड़े समय के बाद वह उखड़ जाती है। कुछ व्यक्ति स्थायी श्रद्धा करते हैं, पर व्यवहार में तदनुरूप आचरण नहीं करते। *उत्तराध्ययन* सूत्र में कहा है–

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।

कान का सच्चा आभूषण

संसार में अच्छी बातें सुनना दुर्लभ है। कान सब मनुष्यों के हैं, पर इसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वे तो पशु-पक्षियों और राक्षसों के भी होते हैं। मात्र उनके कान सार्थक हैं, जो उनका सही उपयोग करते हैं। आभूषणों से कानों को सजाना उनका सही उपयोग नहीं है,क्योंकि महान पुरुषों के लिए कृत्रिम आभूषणों की अपेक्षा ही नहीं रहती। आचार्य सोमप्रभ ने कहा है–

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनं,
मुखे सत्या वाणी श्रुतिमधिगतं च श्रवणयोः।
हृदि स्वच्छावृत्तिर्विजयि भुजयोः पौरुषमहो!
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम्॥

– जो व्यक्ति स्वभाव से महान होते हैं, उनके लिए अग्रोक्त सहज आभूषण होते हैं–हाथ का आभूषण है–सुपात्र को दान देना, सिर का आभूषण है–विनम्रता, मुख का आभूषण है–सत्यवाणी, कानों का आभूषण है–सिद्धांत-श्रवण, हृदय का आभूषण है–स्वच्छवृत्ति और भुजाओं का आभूषण है–पौरुष।

रखूं कैसे नहीं

बहिनों को आभूषणों का विशेष आकर्षण रहता है। मैं कलरखेड़ा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक जमींदार के घर गया। वहां एक औरत के पैरों में चांदी के मोटे-मोटे कड़े थे। मैंने जमींदार से पूछ लिया–'इन कड़ों का वजन कितना होगा?' जमींदार बोला–'महाराज ! एक कड़ा सेर से ज्यादा का नहीं है।' मैंने पूछा–'पैरों को वजन नहीं लगता है क्या?' इस बार वह औरत बोली–'महाराज! वजन तो लगता ही है।' सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। उसी भावधारा में मैंने पूछा–'फिर क्यों रखती हो?' बहिन बोली–'रखूं कैसे नहीं? जो एक परंपरा पड़ी हुई है, उसका निर्वाह भी जरूरी है।'

आभूषण भार हैं

मैं मानता हूं कि गहने बंधन हैं। शास्त्रों में कहा गया है–**सव्वे आभरणा भारा**। अर्थात सब आभूषण भार हैं, पर जिसे वे भार न लगें, वह उन्हें कैसे छोड़े? हालांकि आभूषण के प्रचलन के पीछे एक उद्देश्य रहा है। शुरू-शुरू में पुरुष शादी करके स्त्री को घर लाया। उस समय उसका अपनी माता के प्रति आकर्षण होना सहज है। इसलिए वह भाग न जाए, इस भय/आशंका से उसका समूचा शरीर उसने आभूषणों से जकड़ दिया। धीरे-धीरे यह आम परंपरा हो गई। नारी का आभूषणों के साथ मानो अभिन्न संबंध हो गया। यद्यपि आजकल भारी आभूषणों के प्रति महिलाओं का आकर्षण घट रहा है, तथापि हीरे और मोती के आभूषणों के प्रति आकर्षण में कमी दिखाई नहीं देती। यह आकर्षण उनके अधिकाधिक संग्रह की प्रेरणा बनता है। संग्रह चाहे सोने-चांदी के आभूषणों का हो या हीरे और मोती के आभूषणों का, धार्मिक दृष्टि से अच्छा नहीं कहा जा सकता। अधिक संग्रह तो सामाजिक दृष्टि से भी अच्छा नहीं है। फिर उनका अधिक उपयोग एवं प्रदर्शन करना तो खतरे से भी खाली नहीं है।

यह बात मैंने प्रासंगिक तौर पर कही। हमारा मूल प्रसंग है सिद्धांत-श्रवण का। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो इस आशंका से सुनना ही नहीं चाहते कि इससे किसी की बात दिमाग में जंच जाएगी। मैं मानता हूं कि किसी को सुनने में यह चिंता नहीं होनी चाहिए। यदि उसकी बात अनुचित लगे तो उसे स्वीकार न किया जाए, पर दिमाग में बैठ जाने के भय से किसी को न सुनना कहां की बुद्धिमत्ता है?

श्रद्धा दुर्लभ है

कुछ-कुछ सुननेवाले व्यक्ति फिर भी मिल सकते हैं, पर श्रद्धा करनेवाले बहुत कम होते हैं। श्रद्धा का अर्थ है–जो अच्छी बात सुनी जाए,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस पर मन का टिक जाना, हाड़ और मज्जा तक गहरे पैठ जाना।

श्रुति और श्रद्धा में अंतर रहता है। श्रुति सही तत्त्व सुनने तक सीमित है। उसे स्वयं में परिणत कर देने का नाम श्रद्धा है।

व्यक्ति परिस्थितिवश या प्रमादवश जब कभी बुराई में प्रवृत्त हो, उसी समय भीतरी घंटी बजकर उसे सचेष्ट कर दे—यह श्रद्धा का परिणाम है। वस्तुतः जब सही तत्त्व के प्रति व्यक्ति श्रद्धानिष्ठ हो जाता है, तब गलत तत्त्व—बुराई के प्रति ग्लानि का भाव स्वतः पैदा हो जाता है। ग्लानि का भाव पैदा हो जाने के पश्चात उस प्रवृत्ति या तत्त्व का छूटना बहुत सहज बन जाता है। अतः बुराई को बुराई जानने के बाद उसके प्रति ग्लानि पैदा होना आवश्यक है। कौन नहीं जानता कि झूठ बुरी बात है, हिंसा निंद्य है? पर किसी बुराई के प्रति जब तक ग्लानि नहीं होती, तब तक वह बुराई छूट नहीं सकती। बुराई के प्रति मानसिक ग्लानि पैदा हो जाने के पश्चात यदि किसी परिस्थिति में व्यक्ति के समक्ष वह दुष्प्रवृत्ति करने की मजबूरी पैदा भी होती है तो उसकी आत्मा चीख पड़ती है। *आगमों* में इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए एक सुंदर उदाहरण प्राप्त है—

संदर्भ सुलस का

कालसौकरिक अपने समय का कुख्यात कसाई था। प्रतिदिन वह पांच सौ भैंसों का वध किया करता था। यह महावध उसका कुलगत धंधा था। कालसौकरिक के पुत्र का नाम सुलस था। कैसा विचित्र संयोग कि महाक्रूरकर्मी बाप का बेटा अत्यंत दयार्द्र था, अहिंसा की भावना से ओतप्रोत था, हिंसा के प्रति उसके मन में गहरी ग्लानि थी! बूचड़खाना जाना तो बहुत दूर की बात थी, उसके नाम से ही वह कांपता था! पता नहीं कि कौवे के घर में यह हंस कैसे आ गया!

कालसौकरिक पुत्र की यह अहिंसक वृत्ति देख मन-ही-मन अत्यंत चिंतित था। ज्यों-ज्यों अवस्था प्राप्त होता हुआ वह वृद्धत्व के नजदीक पहुंच रहा था, उसकी यह चिंता क्रमशः वृद्धिंगत होती जा रही थी। वह जब-तब पुत्र को अपना हिंसा का दर्शन समझाता, कुलधर्म की महत्ता बखाणता और उसे निभाने की प्रेरणा देता, पर सुलस पर इन सब बातों का कोई असर नहीं हुआ, प्रत्युत हिंसा के प्रति उसके मन में ग्लानि बढ़ती ही गई।

कालसौकरिक के काल-धर्म को प्राप्त हो जाने के पश्चात कौटुंबिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन एकत्रित हुए। उन्होंने सुलस को पिता का भार संभालने के लिए कहा। सुलस ने कहा–'जितना निभ सकेगा, उतना निभाने का प्रयास करूंगा।'

कौटुंबिक जनों ने उसके सिर पर परिवारप्रमुख की पगड़ी बांधने से पूर्व हाथ में एक तलवार पकड़ाई और पास बंधे भैंसे की गर्दन पर चलाने का निर्देश दिया। कुल-परंपरा के अनुसार परिवारप्रमुख बनने के लिए ऐसा करना आवश्यक माना जाता था, पर सुलस की आत्मा ने उसे यह कार्य करने की अनुमति नहीं दी। उसने भैंसे पर तलवार का प्रहार करने से स्पष्ट इनकार करते हुए कहा–'इसके लिए आप लोग मुझे बाध्य नहीं कर सकते।'

कौटुंबिक जनों ने कहा–'बाद में तुम्हारी इच्छा हो वैसा करना, पर अभी रस्म के रूप में एक बार तो तलवार चलानी ही होगी, अन्यथा पिता के मुंह पर कालिख पुत जाएगी। समूची बिरादरी बदनाम होगी।'

सुलस इधर कौटुंबिक लोगों का आग्रह देख रहा था और उधर मूक भैंसे की दयनीय दशा। उसका दिल दहल उठा। उसने कौटुंबिक जनों से कहा–'यदि तलवार चलाना इतना जरूरी है तो मैं अपने पैर पर चला सकता हूं, मूक पशु पर नहीं।' और ऐसा कहते हुए उसने पैर पर तलवार चलाने के लिए हाथ ऊपर उठाया। पारिवारिक जनों ने झट लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और कहा–'यह क्या पागलपन है! अभी पैर कट जाता और फिर जीवन-भर रोते रहते।'

सुलस ने अत्यंत गंभीर एवं शांत स्वर में अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहा–'मैं पिताजी का उत्तराधिकारी अवश्य हूं, पर उनके दुष्कृत्यों का नहीं। पैर कटने से जैसा दुःख मुझे होता है, वैसा ही दुःख इस भैंसे को भी होता है। हालांकि मैं और मुझ-जैसे प्राणी अपना दुःख व्यक्त कर सकते हैं और यह भैंसा नहीं कर सकता, तथापि दुःख तो सबका एक सरीखा ही है, सुख तो सबका एक समान ही है। मौत मैं नहीं चाहता तो यह भैंसा भी नहीं चाहता। फिर इस भैंसे पर तलवार का प्रहार करना अनर्थ है, घोर अन्याय है। मैं यह अनर्थ और अन्याय कदापि नहीं कर सकता।'

यह उदाहरण है गहरी निष्ठा का। जिसकी रग-रग में अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा पैदा हो जाती है, उसकां मन हिंसा के प्रति ग्लानि से भर जाता है। फिर वह हिंसा कर नहीं सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरा मन कैसे टिका

जो व्यक्ति अंतःकरण से मानता है कि बेईमानी पाप है, वह अपने जीवन में किसी को धोखा नहीं दे सकता। कल शाम की ही बात है। चौधरी हरिराम हमारे पास आए। मैंने उनको अणुव्रत की बात बताई। बात उनकी समझ में आ गई। तत्काल धूम्रपान के अतिरिक्त उन्होंने सब नियम स्वीकार कर लिए। वार्तालाप के दौरान उन्होंने अपने जीवन की एक घटना सुनाई–'मुझे एक दिन रास्ते में दो हजार रुपए मिले। मैं वे रुपए लेकर सीधा कलक्टर के पास गया और बिना गिने ही सारे रुपए उनके सामने रखकर बोला–*मुझे मार्ग में मिले हैं, जिसके हों, उसे दे दीजिए।* कलक्टर ने रुपए गिने। पूरे दो हजार थे। वे बोले–*इतने रुपए पाकर तेरा मन टिका कैसे?* मैंने कहा–*मेरे मन में दूसरे की वस्तु लेने के प्रति ग्लानि है। दूसरे के धन से धनी बनना मैं पाप मानता हूं। थोड़े दिन जीना है, फिर ऐसे घृणित कार्य से स्वयं का पतन क्यों करूं?'*

चौधरी का यह प्रसंग सुनकर मुझे लगा, यह सच्ची श्रद्धा का परिणाम है। जहां निर्लोभता के प्रति दृढ़ श्रद्धा होती है, वहां लोभ के प्रति ग्लानि पैदा हो जाती है, पर ऐसी श्रद्धा करनेवाले व्यक्ति कम ही मिलते हैं। कृत्रिम श्रद्धा करनेवाले, बनावटी धार्मिक बननेवाले अधिक मिलते हैं। वे बरसाती मेंढ़कों की तरह पैदा होते हैं। अष्टग्रह योग के समय न जाने कितने धार्मिक और ईश्वरभक्त पैदा हो गए! घर-घर में कीर्तन और जाप होने लगा। ऐसा लगने लगा, मानो सारा राष्ट्र धार्मिक बन गया है, पर जैसे ही ग्रहों की बात समाप्त हुई, सारी धार्मिकता भी समाप्त हो गई। इसलिए मैंने कहा कि कृत्रिम धार्मिक बहुत हैं, सही माने में धार्मिक बहुत कम हैं। कवि ने कहा है–

शैले शैले न मणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

भिक्षु स्वामी ने भी कहा है–**दृढ़ समकित धर थोड़ला।**

अभी लोहा गर्म है

बंधुओ! आपमें से जिन-जिन व्यक्तियों के मन में वस्तुतः ही पाप के प्रति ग्लानि पैदा हो गई है, वे मौका न चूकें। लोहा गर्म हो तो चोट लग जाती है। ठंडा होने के बाद उसका कोई असर नहीं हो सकता। पिछले दिनों मैं हिसार में था। अणुव्रत के प्रचार से वहां बहुत ही सुंदर वातावरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मित हुआ। लोगों को ऐसा प्रतिभासित हो रहा था, मानो सारे शहर की दृष्टि बदल गई है। हर व्यक्ति धार्मिकता से ओतप्रोत बन गया है। विहार के समय वहां के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने कहा—'हिसार का लोहा तप गया है। अभी आप यहां दस दिन और रहें तो कायाकल्प हो जाएगा।.....'

मैं मानता हूं, यह बात सही है। इसलिए व्यक्ति के मन में जिस समय बुराइयों के प्रति ग्लानि पैदा हो जाए, उसे तभी अणुव्रत की मोहर लगा लेनी चाहिए। इसके विपरीत आंतरिक ग्लानि नहीं है तो दिन-भर *राम-राम* रटने पर भी अपेक्षित लाभ नहीं हो सकता।

शास्त्रों में कहा गया है कि जिस व्यक्ति को अनंत काल में एक बार भी सच्ची श्रद्धा मिल जाती है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। कृत्रिम श्रद्धा का परिणाम स्थायी नहीं होता। जैसे सट्टे का पैसा टिकाऊ नहीं होता तथा जादुई पैसा भी स्थायी नहीं होता, उसी प्रकार कृत्रिम श्रद्धाजन्य शांति भी अस्थायी ही होती है। अतः सुनें, सम्यक श्रद्धा करें और फिर तदनुरूप आचरण करें। तीनों का योग आपको मुक्ति के द्वार तक पहुंचाएगा।

श्रीगंगानगर
३१ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६ : जैन-धर्म : एक वैज्ञानिक धर्म

धर्म एक शाश्वत तत्त्व है। भगवान महावीर के शब्दों में वह है—अहिंसा। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सब अहिंसा के ही परिपार्श्व में घूमनेवाले तत्त्व हैं। साधारण व्यक्ति संक्षेप में गंभीर रहस्य की बात समझ नहीं सकते, अतः उनके लिए विस्तार से बताने की अपेक्षा रहती है।

भगवान पार्श्व ने अपने समय में चार यामों का प्रतिपादन किया। उनमें ब्रह्मचर्य अपरिग्रह के साथ जुड़ा हुआ था। कोई महाव्रती स्त्री को अपनी नहीं मान सकता, क्योंकि स्त्री भी एक प्रकार का परिग्रह है। यह संक्षेपवादी मनोवृत्ति का परिणाम है।

भगवान महावीर के युग में यह तर्क उपस्थित हुआ कि अब्रह्मचर्य में क्या दोष है। इस तर्क को समाप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य को अलग महाव्रत का स्थान दिया गया। वास्तव में धर्म एक अहिंसा है और जो अहिंसा में विश्वास करते हैं, वे ही सही माने में धार्मिक हैं।

विभिन्नता क्यों

आप कहेंगे कि जब धर्म एक ही है तो उसे भिन्न-भिन्न रूपों में क्यों देखा जाता है। यह विभिन्नता भिन्न-भिन्न प्रवर्तकों के कारण है। धर्मचक्र-प्रवर्तक अपनी साधना से ज्ञान को अनावृत कर लेते हैं। फिर वे संसार का हर तत्त्व हस्तरेखा की तरह साक्षात देखते हैं। हर प्रवर्तक अपने समय में धर्म की अपने ढंग से व्याख्या देते हैं। फलतः एक नया दर्शन और एक नया मार्ग बन जाता है।

जैन-धर्म एक स्वतंत्र धर्म है

हर धर्मचक्र-प्रवर्तक अनुशिष्टि देते हैं, अर्थ और धर्म को गति देते हैं तथा तत्त्व-साधना की अवगति देते हैं। भगवान महावीर अंतिम धर्मचक्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवर्तक हैं। उन्होंने दो बातों पर विशेष रूप से बल दिया—

- मनुष्य तत्त्वज्ञ बने।
- मनुष्य क्रियाशील बने।

उनके इन विचारों ने आगे चलकर जैन-धर्म के नाम से विस्तार पाया। कुछ लोग कहते हैं कि जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म प्रतिक्रियास्वरूप सामने आए थे। जब हिंदू संस्कृति में यज्ञ-याग और पशुबलि को प्रोत्साहन मिला तो कुछ लोगों ने क्रांति की। उनकी वह क्रांति ही जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के रूप में प्रसिद्ध हुई, लेकिन यह कथन तथ्य से कोसों दूर है। कोई भी गंभीर इतिहास-अध्येता इसे स्वीकार नहीं कर सकता।

जैन-धर्म के विचार सर्वथा स्वतंत्र हैं। समता का सिद्धांत प्रतिक्रिया कैसे हो सकता है? भगवान महावीर ने कहा—

- व्यक्ति औरों की शांति में बाधक न बने।
- व्यक्ति औरों का सुख न लूटे।
- व्यक्ति किसी का प्राण-वियोजन न करे।
- व्यक्ति किसी को अस्पृश्य न माने।
- व्यक्ति किसी पर अभियोग न लगाए।

.....

.....

इन विचारों के आधार पर चलनेवाला धर्म जैन-धर्म, अहिंसा-धर्म या समता-धर्म कहलाया। जैन-दर्शन के सामने कोई वैचारिक उलझन चुनौती बनकर खड़ी नहीं रह सकती। उसके पास अनेकांतवाद के रूप में एक ऐसा सिद्धांत है, जो हर उलझन को सुलझा सकता है।

बहुत-से लोग आत्मा को अमर मानते हैं। कुछ दार्शनिक उसे विनाशशील भी मानते हैं, लेकिन जैन-दर्शन कहता है कि आत्मा एक दृष्टि से शाश्वत है और दूसरी दृष्टि से अशाश्वत। इसी प्रकार जगत भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों है। इस कथन के पीछे अपेक्षा है द्रव्य और पर्याय की। संसार का हर पदार्थ द्रव्यतः शाश्वत है और पर्याय दृष्टि से उसमें अवस्था-भेद होता रहता है। आज विज्ञान ने भी यह तथ्य स्वीकार कर लिया है। इस प्रसंग से हटकर मैं एक बात और कहना चाहता हूं। जब आत्मा और पुद्गल भी अपेक्षाभेद से शाश्वत नहीं हैं, उस स्थिति में हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंपराओं को पकड़कर कैसे बैठ सकते हैं? आप ध्यान दें, वर्ण-व्यवस्था, सगाई-विवाह, जन्म-मरण·····पर चलनेवाली रस्में·····ये सब सामाजिक परंपराएं हैं। इन्हें शाश्वत धर्म मानना भूल है। हम पढ़ते हैं कि यौगलिक काल में शादी नहीं होती थी। एक युग्म पैदा होता। वह पहले भाई-बहिन की तरह रहता, बाद में वही पति-पत्नी की तरह रहता तथा एक युग्म को पैदा करके समाप्त हो जाता।

इस परंपरा को माननेवाला आज की विवाह-परंपरा देखकर कहे कि वर्णव्यवस्था का लोप हो गया तो उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा, पर उसका यह कथन एक अपेक्षा से गलत नहीं है। परंपराओं में बदलाव चलता ही रहता है। आज जो पद्धति है, भविष्य में वह भी बदल सकती है। अतः इन परिवर्तित पद्धतियों में किसी का आग्रह नहीं होना चाहिए।

एक लाभ : एक नुकसान

जैन-दर्शन समन्वयवादी दर्शन है। वह सबके साथ समझौता कर सकता है। इसी लिए तो वैदिक संस्कृति के संस्कार स्वीकार करने में उसने कोई संकोच नहीं किया। फलतः जन्म, मृत्यु, शादी की रस्मों और त्यौहारों की परंपराएं समान होती गईं। इससे हित तो यह हुआ कि जैन-संस्कृति और वैदिक संस्कृति में एकत्व हो गया और अहित यह हुआ कि जैन-संस्कृति की सामाजिक पद्धति लुप्त हो गई। प्राचीन साहित्य पढ़ने से पता चलता है कि जैनों की भी अपनी स्वतंत्र सामाजिक परंपराएं थीं।

भक्त भगवान बन सकता है

जैन-दर्शन ने धर्म को आत्मगत बनाने के लिए आत्मोपासना का तत्त्व दिया, क्योंकि आत्मा ही परमात्मा बनती है। आत्मगुणों के निकट जाने से परमात्मपद की दूरी मिट हो जाती है। दूसरे दर्शनों में भक्त को ईश्वर बनने का अधिकार नहीं दिया गया है, पर जैन-दर्शन ने यह अधिकार दिया कि उपासक उपास्य बन सकता है, आत्मा परमात्मा बन सकती है, भक्त भगवान बन सकता है।

इस अधिकार को उपयोग में लाने का साधन है—कर्मवाद। मनुष्य स्वयं के द्वारा सृष्ट जाल में फंसता है और स्वयं ही उसे समाप्त कर सकता है। कर्म विजातीय पुद्गल हैं। इनका बहुत गहरा असर होता है। सुबह-सुबह बगीचे में घूमना स्वास्थ्यप्रद माना जाता है, क्योंकि वहां का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऑक्सिजन हमारे लिए काम का है। यह असर पुद्गलों का ही है। फिर वे कर्म रूप में अपना प्रभाव क्यों नहीं छोड़ सकते? हां, स्थिति, विपाक और रस हमारे द्वारा डाला जाता है। जैसे वैज्ञानिक पहले ही यह बता देते हैं कि यह बम इतने समय बाद फटेगा, उसी प्रकार हर-एक कर्म की अवधि भी निश्चित हो जाती है।

विज्ञान धर्म का उपकारी है। वह धर्म की रहस्यात्मक बातें प्रयोग के धरातल पर स्पष्ट कर रहा है। कहीं-कहीं विज्ञान के प्रयोग धर्म और दर्शन से टकराते हैं। वहां हमें चिंतन का मौका मिलता है। यदि कोई तत्त्व सही हो तो उसे स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए।

सुधारवादी धर्म

जैन-धर्म एक सुधारवादी धर्म है। वह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व सभी स्तरों पर सुधार का मार्ग प्रशस्त करता है। गहराई से देखा जाए तो वही धर्म वास्तव में धर्म है, जो सुधार की बात करे। जिस धर्म में सुधार की चर्चा नहीं, कार्यक्रम नहीं, उसे धर्म कहने का कोई औचित्य नहीं है। मैं तो यहां तक कहता हूं कि धर्म नाम ही सुधार का है। धर्म यदि सुधार की बात नहीं करेगा तो क्या अधर्म करेगा?

जैनों की संख्या कम क्यों

मेरे समक्ष अनेक बार प्रश्न आता है कि जब जैन-धर्म इतना महान है, तब उसका फैलाव कम क्यों; जैनों की संख्या लाखों में सिमटकर क्यों रह गई है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। धर्म आज कुल-परंपरागत बन गया है। जो जिस कुल में पैदा होता है, वह उसी कुलगत धर्म से संबद्ध हो जाता है। इस परिस्थिति के कारण जैनों की संख्या बहुत थोड़ी है। वैसे यदि हम जन्मना जैन की बात गौण कर दें और संस्कारों से जैनों की संख्या पर ध्यान दें तो यह संख्या बहुत बड़ी हो सकती है। मैं मानता हूं, जिन लोगों का भी अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास है, वे सब जैन हैं। सह-अस्तित्व, समन्वय, समता और मैत्री—ये चारों सिद्धांत स्वीकार करके चलनेवाले जैन हैं। अनेकांत को माननेवाले जैन हैं। इसी के समानांतर जैन कहलानेवाले लोगों में भी जिनका इन सिद्धांतों में विश्वास नहीं है, वे जैन कहलाने के सच्चे हकदार नहीं हैं।

धर्म आत्मगत बने

मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि धर्म के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रांति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा है। इस जन्मना धर्म या जातिगत धर्म के स्थान पर संस्कारगत धर्म या जीवनगत धर्म को बल देना होगा। जब तक जीवनगत धर्म की बात मूल्य नहीं पाती, तब तक वह हमारा बहुत हित नहीं कर सकता। वस्तुतः धर्म का संबंध आस्था से है। जन्म से उसका कोई संबंध है ही नहीं। वह तो समझ-बूझकर स्वीकार करने का तत्त्व है। समझ-बूझकर स्वीकार किया जानेवाला धर्म की आत्मगत हो सकता है। जहां आत्मगत होने की बात नहीं होती, वहां वह मात्र मोहर/छाप से अधिक नहीं होता।

यीशु को शूली क्यों मिली

चर्च में खड़ा एक पादरी बहुत-से लोगों को ईसाई धर्म के बारे में समझा रहा था। आज फादर उनका परीक्षण करने के लिए आनेवाले थे, इसलिए ईसाई धर्म और क्राइस्ट के बारे में उन्हें समझा दिया गया। कुछ देर बाद फादर आए और उन्होंने पूछा–'ईसाई धर्म कैसा है?' सभी एक स्वर में बोले–'बहुत अच्छा है।' फादर ने प्रश्न किया–'क्या आपका विश्वास इसमें है?' वे बोले–'हां।' फादर ने पूछा–'क्या आप इसे स्वीकार करेंगे?' वे लोग बोले–'अवश्य करेंगे।' फादर ने प्रश्न किया–'ईसाई धर्म के प्रणेता कौन थे?' उन लोगों ने उत्तर दिया–'यीशु क्राइस्ट।' फादर ने अगला प्रश्न किया–'उन्हें शूली की सजा क्यों हुई?' उन लोगों ने कहा–'किसी का खून कर दिया होगा!'

लोगों का यह उत्तर फादर को बहुत बुरा लगा, पर इसमें उन लोगों का क्या दोष? पूछी गई और सारी बातें तो उन्हें पहले से याद करवा दी गई थीं, इसलिए उनका सही-सही उत्तर उन्होंने दे दिया, पर यीशु को शूली की सजा क्यों हुई, इस बारे में उन्हें कुछ भी नहीं बताया गया था। तब वे सही उत्तर कैसे देते?

बंधुओ! यह केवल ईसाई धर्म की बात नहीं है, बल्कि सभी धर्मों की यही बात है। धर्म जहां रटा-रटाया होता है, बिना समझे, बिना चिंतन किए स्वीकार किया हुआ होता है, वहां ऐसी स्थिति का बनना बहुत स्वाभाविक है। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि धर्म को अपने विवेक से अच्छी तरह समझकर स्वीकार करना चाहिए, चिंतनपूर्वक अंगीकार करना चाहिए। यह आत्मगत धर्म ही जीवन के लिए वरदान साबित होता है।

जैसाकि मैंने कहा, जैन-धर्म ने धर्म को आत्मगत बनाने की बात बताई है, पर विडंबना यह है कि जैन लोग स्वयं ही यह बात भूल रहे हैं!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह भूल नहीं होती तो जैन-धर्म की स्थिति आज कुछ दूसरी ही होती। खैर, अब भी इस दिशा में प्रयत्न किया जाए। इस वैज्ञानिक युग में जैन-धर्म का भविष्य बहुत उज्ज्वल है, क्योंकि वह अपने-आपमें पूर्ण वैज्ञानिक है। विज्ञान को जितना इस धर्म ने प्रभावित किया है और कर रहा है, उतना शायद अन्य किसी ने नहीं। यह अभिमत केवल मेरा नहीं है, अपितु अच्छे-अच्छे बौद्धिक और चिंतनशील लोगों का है। मैं चाहता हूं, प्रत्येक जैन कहलानेवाला व्यक्ति इस धर्म को समझ और चिंतन के धरातल पर स्वीकार करके आत्मगत बनाए। निश्चय ही उसके जीवन में पवित्रता की महक फूटेगी।

श्रीगंगानगर

३१ मार्च १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७ : साधना का प्रभाव

साधु संसार के लिए पूज्य होते हैं। मनुष्य तो साधु-संतों की पूजा करते ही हैं, देवता भी उनकी स्तुति करके स्वयं को धन्य मानते हैं। संतों की स्तुति में इंद्र कहता है—

अहो! ते अज्जवं साहु, अहो! ते साहु मद्दवं।
अहो! ते उत्तमा खंती, अहो! ते मुत्ति उत्तमा॥

साधु और गृहस्थ का धर्म एक ही है

आर्जव, मार्दव, क्षांति और मुक्ति—ये मुनि के सहज गुण हैं। आर्जव का अर्थ है—ऋजुता या अकुटिलता। मुनि के लिए जिस आर्जव की बात हम सुनते हैं, उसका अंश गृहस्थों में भी होना चाहिए। मुनि का धर्म और गृहस्थ का धर्म दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते। मुनि का धर्म सरलता है तो गृहस्थ का धर्म वक्रता कैसे हो सकेगा? मुनि का धर्म क्षमा है तो गृहस्थ का धर्म क्रोध कैसे हो सकेगा? मुनि का धर्म सत्य है तो गृहस्थ का धर्म असत्य कैसे होगा?

धर्म का वास्तविक रूप एक ही है। अंतर केवल मात्रा का है, क्योंकि साधु और गृहस्थ की खुराक समान नहीं होती। एक बत्तीसवर्षीय स्वस्थ युवक की जो खुराक होती है, क्या उसे एक बच्चा पचा सकता है? यद्यपि खाद्य दोनों का एक ही है, पर मात्रा में अंतर है। इसी प्रकार मुनि-धर्म बहुत गहरा और ऊंचा है। उस ऊंचाई तक धर्म स्वीकार करने की क्षमता गृहस्थों में नहीं होती। इसलिए वे उसे आंशिक रूप में ही स्वीकार करते हैं।

मुनिधर्म और गृहस्थधर्म को दो मानने का अर्थ यह होगा कि साधु-संतों की प्यास बुझाने का साधन तो पानी है और गृहस्थों की प्यास बुझती है अग्नि से। ऐसा मानना भयंकर भूल है। आत्म-विकास सत्य, अहिंसा आदि की साधना से ही संभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त संदर्भ में भिक्षु स्वामी ने कहा है–

साध नै श्रावक रतना री माला, एक मोटी दूजी नान्ही रे।

– साधु और श्रावक दोनों रत्नों की मालाएं हैं। अंतर इतना ही है कि एक माला बड़ी है और दूसरी छोटी। एक के रत्न ज्यादा कीमती हैं और दूसरी के कम मूल्यवाले हैं। पर हैं दोनों खरे। एक माला के मोती खरे हों और दूसरी के कलचर हों, यह बात नहीं है। साधु महाव्रती होता है और श्रावक अणुव्रती।

हां, तो साधु और श्रावक का धर्म एक है। साधु और श्रावक का ही क्यों, मनुष्यमात्र का धर्म एक है। भेद है तो मात्र मात्रा का। शक्ति-भेद के कारण साधु और श्रावक में यह मात्रा का अंतर रह जाता है। एक व्यक्ति उपवास करता है, पर दूसरा उपवास नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वह एकाशन करता है। यहां समझने की बात यह है कि दूसरा व्यक्ति एक समय खाना खाता है, वह धर्म नहीं है, किंतु दोनों ने जो खाना छोड़ा है, (एक ने संपूर्ण और दूसरे ने यथाशक्य) वह धर्म है। जो एक समय भी खाना नहीं छोड़ सकता, वह ऐसा संकल्प कर सकता है कि मैं इतनी से ज्यादा चीजें नहीं खाऊंगा। जो चीजों का भी संकोच नहीं कर सकता, वह खाने में गृद्धि न रखने का संकल्प कर सकता है, क्योंकि स्वाद-संयम भी एक तत्त्व है। निष्कर्ष की भाषा में आप यह समझें कि जितना त्याग किया जाता है, वह धर्म है। फिर उसे कोई करे, चाहे जितनी भी मात्रा में करे और कभी करे, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

धर्म की तरह पाप भी सबके लिए समान है। ऐसा नहीं कि साधु कोई दुष्प्रवृत्ति करता है तो वह पाप है और गृहस्थ करता है तो वह पाप नहीं है। पाप पाप ही है, चाहे उसका सेवन साधु करे या गृहस्थ। हां, इतना फर्क अवश्य पड़ता है कि साधु कोई दुष्प्रवृत्ति करता है तो वह सबका नजर में आ जाती है। फलतः वह बदनाम हो जाता है, लेकिन वही बुराई एक गृहस्थ करता है तो उस पर सहसा ध्यान नहीं जाता। काली कंबल पर काली स्याही की पूरी दवात भी गिर जाए तो सामान्यतः पता नहीं चलता, पर सफेद चद्दर पर एक छींटा भी लग जाए तो वह भी दिखने लगता है। साधु वक्रता करता है, इसका अर्थ है–सफेद चद्दर पर धब्बा लगना। अतः उसके लिए आर्जव का विशेष महत्त्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरलता और भोलापन

आर्जव बहुत गहरे में सत्य का ही पर्यायवाची है। वैसे सत्य का असर सीधा नहीं होता, क्योंकि सत्य के प्रति सहसा विश्वास नहीं जमता, पर विश्वास पैदा होने के बाद उसका चामत्कारिक प्रभाव होता है। संसार में साधु की प्रतिष्ठा क्यों होती है? यह इसी लिए कि वह सत्यवादी होता है, ऋजु होता है। अतः वक्रता छोड़कर सरलता की उपासना करनी चाहिए। पर इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। सरलता का अर्थ भोलापन नहीं है। भोला वह होता है, जो कुछ समझता नहीं, जबकि सरलता बाहर-भीतर से एकरूप होने का नाम है।

साधु का दूसरा गुण है—मृदुता। मृदुता का अर्थ है—निरभिमानता। यह गुण जैसे-जैसे जीवन में विकसित होता जाता है, वैसे-वैसे व्यक्ति विनम्र बनता जाता है। उसका हर व्यवहार मृदु बनता चला जाता है। मृदुता अपने-आपमें एक ऐसा गुण है, जो अनायास ही दूसरे व्यक्ति को अपनी ओर खींच लेता है। एक व्यक्ति बोलता है तो सब अघा जाते हैं, वहीं दूसरा बोलता है तो सबको प्रिय लगता है। यह अंतर वाणी की अमृदुता और मृदुता का ही तो है। कोयल अपने इसी गुण के कारण सबको प्रिय लगती है। कवि धरम्मसी ने कहा है—

काक-सी कोयल श्याम शरीर है,
क्रोध गंभीर धरै मन मांहि।
औरन के सुत से धरै द्वेष, पे
पोखत आपन के सुत नांहि।
ऐसो स्वभाव बुरो उनको, पर
एक भलो गुण है तिण मांहि।
बोले 'धरम्मसी' वैण सुधा सम,
तातै सुहात जहांहि-तहांहि॥

कोयल की मधुर वाणी प्रसिद्ध है। उसकी आवाज सुनकर बहुधा मेरे पैर रुक जाते हैं। सचमुच मधुर वचन अमृत के समान है। फिर जान-बूझकर अमृत को छोड़ जहर को कौन स्वीकार करना चाहेगा? पर इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने की है। कोरी वाणी की मृदुता बहुत मूल्यवान नहीं है। वाणी की मृदुता के साथ-साथ हृदय की मृदुता भी रहनी चाहिए। इस मृदुता के साथ वाणी की मृदुता की शोभा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकर्षण कई गुना बढ़ जाता है।

साधु का तीसरा गुण है–क्षांति। क्षमा, तितिक्षा, सहिष्णुता आदि इसी के पर्यायवाची हैं। क्षांतिसंपन्न व्यक्ति के व्यवहार में अमृत टपकता रहता है, पर केवल ऊपरी व्यवहार का अमृत पर्याप्त नहीं है, अंतर में क्षांति का अमृत भी चाहिए। शास्त्रों में चार प्रकार के व्यक्ति बताए गए हैं– १. भीतर से जहरमय और बाहर से अमृत के समान। २. भीतर से अमृतमय और बाहर से जहर के समान। ३. भीतर भी अमृत और बाहर भी अमृत। ४. बाहर और भीतर दोनों जहर-संपृक्त।

संसार में चारों ही प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। प्रथम कोटि में वे लोग आते हैं, जो भीतर से जहर उगलते हैं और बाहर से कृत्रिम शिष्टाचार निभाते हैं; जिनके मन में कैंची चलती रहती है और वे बाहर गले मिलते रहते हैं। इस प्रकार के शिष्टाचार से सौहार्द नहीं पनप सकता।

दूसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं, जिनके पेट में तो पाप नहीं होता, पर वाणी में मधुरता नहीं रहती। तीसरी कोटि के व्यक्ति बहुत ऊंचे होते हैं। वे जैसे बाहर से अमृत-से लगते हैं, वैसे ही अंदर से होते हैं। चौथी श्रेणी के लोग तीसरी श्रेणी के लोगों के ठीक विपरीत होते हैं। यानी उनके बाहर भी जहर होता है और अंदर भी जहर।

प्रसंग जैन-रामायण का

जैन-रामायण का एक प्रसंग है। राम जब वन जा रहे थे, तब एक दिन रास्ते में सीता को प्यास लग गई। सीता ने पानी मांगा। खोज की गई, पर आसपास कहीं पानी नहीं मिला। इस खोज में वे एक गांव में गए। वहां पानी कम था, इसलिए जिससे भी उन्होंने पानी मांगा, उसने यही कहा–'यहां तो पानी नहीं है।' सीता प्यास से बेचैन हो गई, पर पानी नहीं मिला। नियति का खेल कैसा विचित्र है! एक राज-रानी इस प्रकार पानी के लिए तरसती रही! खैर, राम चलते-चलते अंततः ग्राम के बाहर बसे हुए एक ब्राह्मण के घर पहुंचे।

ब्राह्मण की पत्नी ने देखा कि घर पर अतिथि आए हैं तो उसका दिल खुशी से नाच उठा। उसने राम, लक्ष्मण और सीता–तीनों का हार्दिक स्वागत किया। लक्ष्मण ने पानी के बारे में जिज्ञासा की तो वह बोली–'यहां का पानी अच्छा नहीं है। आप लोग कुछ देर विश्राम कीजिए। मैं आपको मीठा पानी पिलाऊंगी।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मणी की अमृत-जैसी मधुर वाणी सुनकर सीता की प्यास आधी हो गई। ब्राह्मणी ने सस्सम्मान अतिथियों को बिठाया और स्वयं पंखा झेलने लगी। फिर वहां से उठी और पानी लेकर आई। पानी पीने से सबका कलेजा ठंडा हो गया। सबसे पहले अपना मौन तोड़ते हुए राम ने कहा–'पानी सदा पीते हैं, पर आज के पानी जैसा मीठा पानी कभी नहीं पिया।' लक्ष्मण बोले–'बोलते सब हैं, पर आज की वाणी जैसी मीठी वाणी कभी नहीं सुनी।' सीता भी मौन नहीं रही। वह बोली–'यहां जैसा सरस वातावरण है, वैसा सरस वातावरण अन्यत्र कहीं नहीं देखा।'

राम, लक्ष्मण और सीता रास्ते की थकान मिटाकर चलने की तैयारी में ही थे कि इतने में घर का मालिक ब्राह्मण आ गया। उसने देखा, तीन राहगीर बैठे हैं और उनके पास मेरी पत्नी खड़ी है। बस, उसका खून खौल उठा। घर में पैर रखते ही पत्नी को लक्ष्य करके बड़बड़ाने लगा–'हर व्यक्ति को घर में आने देती है, दुष्टा कहीं की! तुझे शर्म तो आती ही नहीं है। कितनी बार कहा, पर तू मानती ही नहीं है। आज तुझे घर से निकालकर ही छोड़ूंगा।'

ब्राह्मणी बहुत ही लज्जित हुई। राम, लक्ष्मण और सीता से धीमे से बोली–'आप चिंता न करें, इनकी प्रकृति कुछ ऐसी ही है।'

इधर ब्राह्मण आपे से बाहर हो गया। चूल्हे से जलती हुई लकड़ी हाथ में लेकर बोला–'अभी मुंह जलाता हूं कलमुंही का!'

राम ने जब देखा कि हमारे कारण बेचारी महिला पर मुसीबत आ रही है, तब उन्हें चिंता होना स्वाभाविक था। वे उसे उस मुसीबत से बचाने का उपाय सोचने लगे। उधर ब्राह्मणी पति से बचने के लिए सीता के पीछे आकर खड़ी हो गई। ब्राह्मण आग उगलता हुआ वहां आया और उसके सतीत्व पर लांछन लगाने लगा। लक्ष्मण ने निर्णय किया, अब तो इसकी पूजा करनी होगी। बस, वे अपने स्थान से उठे। राम ने उन्हें रोका तो बोले–'यह व्यक्ति इस योग्य नहीं है कि मैं इसे छोड़ दूं।'

लक्ष्मण ब्राह्मण का पैर पकड़कर उसे आकाश में चारों ओर घुमाने लगे। ब्राह्मण के हाथ में जलती हुई लकड़ी तो थी ही। ब्राह्मण के साथ वह भी चक्कर चढ़ गई। ब्राह्मण को कुछ देर घुमाकर लक्ष्मण ने राम से पूछा–'इसे आकाश में छोड़ दूं क्या?' यह सुनते ही ब्राह्मण चिल्लाया। लोग इकट्ठे हो गए। उन्होंने देखा–एक आकाशी दीया-सा जल रहा है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घर में खड़े व्यक्ति स्तब्ध बने हुए हैं।

राम के निर्देश पर लक्ष्मण ने पंडित को आकाश में न छोड़कर जमीन पर ही छोड़ा। लोगों न सारी स्थिति समझकर ब्राह्मणी की मुक्त कंठों से प्रशंसा की तथा ब्राह्मण को बुरा-भला कहा। परिचय पूछने पर राम, लक्ष्मण और सीता नाम सुनकर सब चकित रह गए और इस बात का अनुताप करने लगे कि हमारे घर से भी इन्होंने पानी मांगा था, पर हमने इन्हें सुना भी नहीं।

इस बीच ब्राह्मण भी शांत हो गया था। उसने आकर राम के पैर पकड़ लिए और अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी। राम बोले–'मूर्ख! तुमने क्या किया, सोचो तो सही! यह अमानुषिक व्यवहार कहां तक शोभास्पद है? तुम्हें पत्नी क्या मिली है, देवी है! पर तुम्हारे भाग्य में सुख नहीं था। अब भविष्य में गुस्सा न करने का संकल्प ले लो।'

इस प्रसंग में ब्राह्मणी और ब्राह्मण क्रमशः तीसरी और चौथी श्रेणी में आते हैं। ब्राह्मणी बाहर और भीतर दोनों स्तरों पर अमृत थी तो ब्राह्मण दोनों स्तरों पर घातक जहर।

क्रोध चांडाल है

बंधुओ ! यह क्रोध एक चांडाल है। आश्चर्य, लोग जाति के चांडाल से तो घृणा करते हैं, उसे अस्पृश्य मानते हैं और इस चांडाल को अपने घट में बसाए रहते हैं! और तो क्या, बहुत-से साधक और तपस्वी कहलानेवाले लोगों के मन में भी यह अपना आसन जमाए रहता है। दुर्वासा का गुस्सा कितना भयंकर था, यह बात कौन नहीं जानता? अतः क्षमा की साधना करनी चाहिए।

गुस्से को पी जाना क्षांति का सीधा-सा अर्थ है। गुस्सा करनेवाला व्यक्ति दूसरों का नुकसान करे या न भी करे, पर अपना अहित तो कर ही लेता है। कवि ने कहा है–

क्रोधः कृपावल्लिदवानलोऽयं, देहस्थितो देहविनाशनाय।

कुछ व्यक्ति भोजन करते समय गुस्सा करते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि भोजन के समय गुस्सा करने से भोजन जहर हो जाता है। अतः साधक सलक्ष्य इससे अपना बचाव करता है।

अनासक्ति का दूसरा नाम है–मुक्ति। संसारी प्राणी को हर तरह का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काम करना पड़ता है, यह मजबूरी है, पर उसमें आसक्ति न हो तो बहुत ऊंची साधना हो सकती है।

मुनि के जीवन में आर्जव, मार्दव, क्षांति और मुक्ति को साक्षात पाकर इंद्र उनके चरणों में नत हो गया। इन गुणों के कारण ही वे जन-जन की आस्था के केंद्र बनते हैं। जाति, लिंग और वर्ग के भेदों से अतीत यह धर्म का स्वरूप है। इसका विकास सबके लिए आवश्यक है।

श्रीगंगानगर
१ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८ : सत्संग का महत्त्व

जीवन को बनाने और बिगाड़ने में संगति का बड़ा प्रभाव होता है। बुरी संगति से व्यक्ति पतित हो जाता है और सत्संग से नरक भी स्वर्ग में परिणत हो जाता है। श्रीगंगानगर जिले की स्थिति का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र को अधिक समय देना आवश्यक है, क्योंकि यह क्षेत्र अध्यात्म की दृष्टि से बंजर है, भले भौतिक दृष्टि से बहुत उर्वर है। हां, एक शुभ लक्षण है कि लोगों का अध्यात्म के प्रति आकर्षण है। यह क्षेत्र सत्संग चाहता है। इसका प्रमाण है—प्रतिदिन की उपस्थिति। अपने व्यस्त जीवन में भी लोग संतों को सुनने के लिए समुत्सुक रहते हैं।

जब मैं शहर के घरों में गया तो मुसद्दीलालजी का घर आ गया। उन्होंने अपनी कहानी सुनाते हुए कहा—'आचार्यजी ! मैंने जब से समझ पकड़ी, तब से नशा करना शुरू कर दिया था। फिर मैं अकेला ही नशा नहीं करता था, अपितु सैकड़ों व्यक्ति सामूहिक रूप से नशा करते थे। यहां के जैनों ने हमें नशा छोड़ने के लिए प्रेरित किया। हमने नशे की बुराई समझी, पर वह छूटी नहीं। २७ मार्च से मुझे आपका सत्संग मिला और मेरा मन बिलकुल बदल गया। अब मैंने जिंदगी-भर के लिए नशा न करने का संकल्प कर लिया है।'

मैं उनके घर से प्रस्थित हुआ तो कुछ भाई मेरे साथ हो गए। वे बोले—'आचार्यजी! इनकी शराब क्या छूटी है, शराब का अड्डा उठ गया है। इनके कारण अड़ोस-पड़ोस की बड़ी दुर्गति हो रही थी। हमने कितनी ही बार इनके पैरों में पगड़ी रख दी, फिर भी ये शराब छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए। आपने हमारी सारी मुसीबतें मिटा दी हैं। हमारे मुहल्ले को स्वर्ग बना दिया है।'

मैंने पाया, बहुत-से व्यक्ति व्यसनी होकर नारकीय जीवन जी रहे हैं। उनका सुधार ही वास्तविक सुधार है। यदि यह न होता तो संतों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा ही क्या होती? सत्संग का माहात्म्य न होता तो शास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं होता। सत्संग से क्या मिलता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने *भगवती* सूत्र में कहा है–

सवणे नाणे विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी।।

सत्संग जीवन-विकास का प्रारंभ भी है और जीवन-विकास की चरम सीमा भी। कैसे? सत्संग में आने से चाहे-अनचाहे दो हित वचन सुनने को मिलते हैं। व्यक्ति संत-वाणी को स्वीकार करे या नहीं, प्रतिज्ञा करे या नहीं, ये आगे की बाते हैं, पर दो क्षण के लिए उसने शास्त्रवचनामृत का पान किया, यह भी एक विशेष बात है। शास्त्रों में जिन चार दुर्लभ बातों का उल्लेख है, उनमें एक शास्त्र-श्रवण है।

सुनने के बाद ज्ञान होता है। ज्ञान पढ़ने से भी हो सकता है, पर सुनने की बात कुछ अलग ही है। यदि मात्र पढ़ने से ज्ञान होता हो तो बहुत-सी पुस्तकें पड़ी हैं, उनसे ही काम चल जाता। फिर कौन गुरु को सुनने का प्रयास करता?

प्राचीन काल में अक्षर-विन्यास था ही नहीं, अतः सारा ज्ञान गुरु द्वारा ही मिलता था। आज साधनों के विकास से पुस्तकों का बाहुल्य हो गया है, फिर भी रहस्य समझने के लिए गुरु की अपेक्षा रहती ही है। *भागवत, गीता, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन*.....को उलटने-पलटनेवाले बहुत हो सकते हैं, पर उनका रहस्य समझने के लिए गुरु का सान्निध्य पाना जरूरी है।

अपवाद रूप में कुछ व्यक्तियों को हम यहां छोड़ देते हैं। तीर्थंकर आदि स्वयंबुद्ध होते हैं। वे कभी सत्संग नहीं करते, फिर भी उनके ज्ञान का स्रोत खुल जाता है, पर साधारणतः हर व्यक्ति के लिए गुरु का पथदर्शन आवश्यक है।

.....वह ज्ञान अज्ञान है

पर ज्ञान का अर्थ दुनिया की जानकारी नहीं है। एक व्यक्ति भूगोल का अच्छा ज्ञाता है, खगोल-विज्ञान का महापंडित है, परंतु उसे यदि स्वयं की पहचान नहीं है तो उसके इस ज्ञान का बहुत महत्त्व नहीं है, बल्कि यह ज्ञान अज्ञान है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस बिंदु पर सभी धर्मशास्त्र एकमत हैं। अतः आत्मज्ञान का लक्ष्य हर व्यक्ति के समक्ष स्पष्ट रहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। आत्मज्ञान की परिधि बहुत विस्तृत है। इतनी विस्तृत कि उसकी उपलब्धि के पश्चात कुछ जानना शेष ही नहीं रहता।

आत्मज्ञानी का पहला चिह्न

प्रश्न हो सकता है कि आत्मज्ञानी की पहचान क्या है। मैं हूं। मुझमें अनुभूति है। मैं सुख चाहता हूं। इंद्रियों और मन के द्वारा मुझे अनुभव होता है। मेरी वृत्तियों में उतार-चढ़ाव होता रहता है। बहुत बार वृत्तियां उत्तेजित होती हैं और कितनी ही बार शांत भी रहती हैं।.....ये सब बातें आत्मज्ञान को प्रकट करती हैं, पर आत्मज्ञानी होने का पहला चिह्न यह है कि व्यक्ति सदा आत्मस्वभाव में रमण करता है, विभाव में नहीं जाता।

एक आत्मज्ञानी से कोई कलह करता है, पर वह उससे अधीर नहीं होता। कज्जल की काली कोठरी में जाकर भी वह एक काली रेखा तक नहीं लगाता। आप कहेंगे कि यह कैसे संभव है। इसका रहस्य यह है कि बाह्य पदार्थ तब तक नुकसान नहीं करते, जब तक उन्हें स्वीकार न किया जाए; और स्वीकार करने के बाद वे बाह्य नहीं रहते। अतः मानना होगा कि व्यक्ति स्वयं अपनी शांति में बाधक बनता है।

उपादान और निमित्त

हालांकि यह तथ्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बाह्य वातावरण का भी अपना महत्त्व है। उससे सहयोग मिल सकता है, पर बाह्य वातावरण ही सब-कुछ है, यह नहीं मानना चाहिए। हम देखते हैं, स्वस्थ वातावरण में रहकर भी बहुत-से व्यक्ति अपना सुधार नहीं कर पाते। अतः यह एक तथ्य है कि वातावरण निमित्त कारण बन सकता है, उपादान नहीं। उपादान शुद्ध होगा तो निमित्त भी काम में आ जाएगा, पर मूल कारण उपादान है। वही कार्य रूप में परिणत होता है।

बीज वृक्ष का उपादान कारण है। घड़े का उपादान कारण है मिट्टी। परमात्मा का उपादान है आत्मा। बीज सही नहीं है तो वृक्ष नहीं होगा। कोई व्यक्ति मूसल रोपकर पानी सींचे तो क्या वह फल सकता है? उर्वर भूमि, पानी, धूप—ये सब वृक्ष के निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार आत्मज्ञान ही परमात्मा बनने में उपादान कारण है। यदि आत्मा का बोध यथार्थ नहीं है तो कोई भी फरिश्ता आकर किसी को परमात्मा नहीं बना सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छाई और बुराई का संगम है आत्मा

हम इस तथ्य को हृदयंगम करें कि ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र तीनों आत्मा में हैं तो क्रोध, मान, माया और लोभ—ये भी आत्मा में ही हैं। आत्मा अच्छाई और बुराई का संगम है। इन दोनों स्थितियों में रहता हुआ भी बुराई को पहचानकर उसे छोड़नेवाला और अच्छाई को स्वीकार करनेवाला ही आत्मज्ञान को उपलब्ध हो सकता है।

समाज-सुधार : व्यक्ति-सुधार

कल रात्रि में हमारे सामने एक प्रश्न आया कि जब समाज-सुधार के बिना व्यक्ति-सुधार होनेवाला नहीं है, तब आप व्यक्ति-सुधार का प्रयास क्यों करते हैं। प्रश्न सुंदर है। बात समझने-जैसी है। वास्तव में हमारा लक्ष्य भी समाज-सुधार ही है, पर इस सुधार की प्रक्रिया व्यक्ति-सुधार ही होगा।

समाज बुरा है, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। वस्तुतः समाज नहीं, व्यक्ति ही बुरा होता है। समाज में शराबी हैं, चोर हैं, लुटेरे हैं, ईर्ष्यालु हैं..... इसी वजह से ही तो समाज बुरा है। मैं पूछना चाहता हूं कि शराब समाज कब पीता है; कलह करनेवाला समाज कब होता है। समाज तो व्यक्तियों का समूह है। व्यक्ति-व्यक्ति में जो बुराई होती है, उसी से समाज बुरा बन जाता है और औपचारिक रूप से समाज को कोसा जाने लगता है।

समाज बीमार है तो इंजेक्शन किसके लेगेगा? व्यक्ति-व्यक्ति की बीमारी मिटानी होगी। बीमारी के कारण मिटाने होंगे और वातावरण भी सुधारना पड़ेगा। अतः व्यक्ति-सुधार की बात आवश्यक है।

विज्ञान विवेक जगाता है

व्यक्ति-सुधार के लिए पहले संतों को सुनें, फिर ज्ञान करें। उसके पश्चात विज्ञान करें। आजकल विज्ञान का अर्थ प्रयोगात्मक ज्ञान किया जाता है, पर यहां इसका अर्थ विश्लेषणात्मक ज्ञान है। इससे ज्ञान विशद होता है। उदाहरणार्थ, धूम्रपान एक दुर्व्यसन है। इससे अपना बचाव करना चाहिए, क्योंकि यह अनेक रोगों का स्रष्टा है। इससे रक्त विषैला हो जाता है। मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है और मस्तिष्क के स्नायु कमजोर हो जाते हैं।.....

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा उदाहरण और देखें–एक व्यक्ति रात-रात में वृद्ध हो गया। रात को सोया, तब उसके बाल काले थे, किंतु सुबह उठा तो बाल चांदी-जैसे सफेद हो गए। यह कैसे हुआ? मानसिक संक्लेश इसका कारण है। इस प्रकार का ज्ञान विज्ञान होता है। विज्ञान से विवेक जाग्रत हो जाता है और व्यक्ति बुराई का प्रत्याख्यान कर देता है।

पर इस संदर्भ में इतना अवश्य समझना चाहिए कि **सवणे नाणे विन्नाणे**..... की प्रक्रिया तभी उपयोगी बनती है, जब सामनेवाला व्यक्ति उसे सम्यक रूप में ग्रहण करे। बंदर-जैसी मानसिकतावाले व्यक्ति को उपदेश देनेवाला स्वयं का ही नुकसान कर बैठता है।

मादा बया अपने घोंसले में बैठी थी। घोंसले के सामने की डाल पर एक चंचल बंदर उछल-कूद कर रहा था। सहसा तेज वर्षा होने लगी। वातावरण सर्द हो गया। बंदर के शरीर में सिहरन पैदा हो गई। यह देखकर मादा बया से रहा नहीं गया। वह बोली–

हाथ तेरे, पांव तेरे, मिनख जैसी देह रे।
झोंपड़ी तू छाव बंदर ! ऊपर बरसे मेह रे॥

बंदर ने मुंह उठाकर देखा कि उपदेष्टा कौन है। मादा बया को देखते ही बोला–

सूचिमुखि! दुराचारिणि! रण्डे! पण्डितवादिनि!
असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृहभञ्जने॥

–ऐसा कहता हुआ वह एक ही छलांग में घोंसलेवाली डाल पर पहुंच गया और उसने घोंसला तोड़ दिया। मादा बया स्वयं को मुसीबत में पाकर सोचने लगी–मैंने कैसे मूर्ख को शिक्षा दे दी! ऐसे मूर्खों का संपर्क ही अहितकार होता है। इसलिए कहा गया कि सीख देने में पात्रता का ध्यान देना चाहिए। अपात्रता की स्थिति में व्यक्ति अच्छी सीख से भी नुकसान उठा लेता है। अपात्रता के कारण ही तो अमृत-सा दूध सांप के पेट में जहर बन जाता है।

मुक्ति की संपूर्ण प्रक्रिया

उपदेश सुनकर ज्ञान होता है। ज्ञान के बाद विज्ञान होता है। तब बुराई के प्रति ग्लानि होती है। ग्लानि होते ही शपथपूर्वक प्रत्याख्यान कर दिया जाता है। प्रत्याख्यान से संयम होता है। फिर आश्रव रुकते हैं। उसके बाद तपस्या करने से बंधन टूट जाते हैं। स्वाध्याय और ध्यान की साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अक्रियावस्था आ जाती है तथा अंत में सिद्धि मिल जाती है। यह सत्संग का महान लाभ है। इसी लिए मैंने कहा, सत्संग जीवन-विकास का प्रारंभ भी है और उसकी चरम सीमा भी।

बंधुओ ! हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो सत्संग का लाभ उजागर करते हैं। आप भी सत्संग का मूल्य और महत्त्व समझें। समझने का अर्थ यह नहीं कि आप केवल बुद्धि के स्तर पर उसे जान लें। बुद्धि के स्तर पर जानने के साथ-साथ ही उसे जीवन का एक हिस्सा भी बनाएं। निश्चय ही यह आपके जीवन में एक क्रांति लानेवाला साबित होगा। आत्म-विकास की यात्रा आपके लिए सहज हो जाएगी। मनुष्य-जीवन की सार्थकता का अनुभव करके आप धन्य हो जाएंगे।

श्रीगंगानगर
२ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९ : कैसे मनाएं महावीर को*

जन्म-जयंती मनाने की सार्थकता

आज महावीर का पावन जन्मदिन है। महावीर इस धरती के एक दिव्य महापुरुष थे। महापुरुषों का जन्मदिन मनाने की परंपरा चली आ रही है। इस निमित्त उनकी स्मृतियां ताजा हो जाती हैं। नई पीढ़ी को संस्कार मिलते हैं। उसे इतिहास की बहुत-सी घटनाएं जानने-समझने का अवसर प्राप्त होता है। परंतु जयंती मनाने की पूरी सार्थकता तब है, जब जनता उनके विचार हृदयंगम करे, उनके अनुरूप अपना जीवन ढाले। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिवर्ष उनके अमूल्य शिक्षा-रत्नों में से अधिक नहीं तो कम-से-कम एक शिक्षा-रत्न तो अवश्य स्वीकार करे और अपना जीवन सत्प्रवृत्त बनाए, अन्यथा लाभ अल्प और औपचारिकता ज्यादा रह जाएगी।

महावीर का जन्म और आर्यक्षेत्र

आज से ढाई हजार से कुछ अधिक वर्ष पहले भगवान महावीर इस संसार में आए। आए भी इस आर्यक्षेत्र में नहीं, किन्तु तथाकथित अनार्यक्षेत्र में। आज जिस बंगाल और बिहार की भूमि में जाना अकल्प्य माना जाता है, वहां भगवान महावीर का जन्म हुआ था। शास्त्रों में जहां आर्य-अनार्य का विश्लेषण है, वहां बताया गया है कि जिस क्षेत्र में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों का जन्म होता है, वह क्षेत्र आर्य है। चौबीस तीर्थंकर भी इन्हीं महापुरुषों में हैं। ऐसी स्थिति में बंगाल और बिहार को अनार्यक्षेत्र कहने का क्या औचित्य रह जाता है?

विशाल राजवंश में लालन-पालन होने पर भी भौतिक वैभव महावीर को लुभा नहीं सका। लुभाता भी कैसे? संसार का यह वैभव तुच्छ व्यक्तियों को ही लुभा सकता है। महान व्यक्ति की दृष्टि में शान की चीज

*महावीर-जयंती पर प्रदत प्रवचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है–त्याग/अकिंचनता।

मुझे वह पारस दें·····

युवक बहुत गरीब था। किसी दिन एक संन्यासी के पास पहुंचा और बोला–'बाबा! कुछ दें।' संन्यासी ने कहा–'मेरे पास कुछ नहीं है। रोटी भी मांगकर खाता हूं।' पर युवक आग्रह करता ही रहा। बाबा ने जब देखा कि यह यों ही लौटनेवाला नहीं है, तब वह बोला–'देखो, अभी झोंपड़ी के पीछे मैंने एक पत्थर फेंका है, वह ले आओ।' युवक गया और वह पत्थर ले आया। बाबा ने कहा–'इसे ले जाओ।' युवक बोला–'बाबा ! पत्थर तो रास्ते में ही बहुत मिलते हैं। मैं आपके पास पत्थर लेने नहीं आया हूं। मुझे तो कोई ऐसी चीज दें, जिससे मेरी दरिद्रता मिट जाए।' बाबा बोला–'यह कोई सामान्य पत्थर नहीं है, दुर्लभ रत्न है, पारस है। इससे तुम्हारी दरिद्रता मिट जाएगी।' युवक ने अधीरतापूर्वक पूछा–'वह कैसे?' बाबा बोला–'इस रत्न का यह गुण है कि इसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। लोहे को सोना बनाकर तुम चाहो तो मात्र एक दिन में लक्षाधिपति ही नहीं, कोट्याधिपति भी बन सकते हो।'

युवक ने रत्न उठाकर झट अपने जेब में डाल लिया और इस आशंका से कि कहीं बाबा इसे वापस न मांग ले, तत्काल वहां से प्रस्थित हो गया। पर वह दस-पंद्रह कदम भी मुश्किल से गया होगा कि उसके मन में विकल्प उठा–लगता है, यह रत्न असली नहीं है। बाबा ने पल्ला छुड़ाने के लिए इसे पारस बताकर मुझे दे दिया है। यदि यह असली पारस होता तो बाबा इसे पत्थर समझकर नहीं फेंकता।·····बस, वह उन्हीं पैरों वापस आया और बाबा से बोला–'मुझे यह नकली पारस नहीं चाहिए। मुझे तो असली पारस दें।' बाबा ने पूछा–'अरे भाई ! यह नकली कैसे हुआ?' युवक बोला–'यदि यह असली पारस होता तो आप इसे क्यों फेंकते?' बाबा बोला–'पारस तो यह असली ही है, पर मेरे पास एक दूसरा पारस है, इसलिए मैंने इसे फेंक दिया।' युवक ने कहा–'बाबा! मुझे तो वही पारस दें। उसके मिलते ही मैं भी इसे फेंक दूंगा।' बाबा ने कहा–'दे तो मैं दूंगा, पर उसे ग्रहण करना कठिन बहुत है।' युवक ने कहा–'बाबा! कितना ही कठिन क्यों न हो, लूंगा तो वही पारस।' बाबा ने कहा–'मेरे पास तो त्याग का पारस है, अकिंचनता का पारस है। उस पारस के पास होने के कारण मुझे यह पारस पत्थर लगता है। इसके प्रति मेरे मन में कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकर्षण नहीं है, लगाव नहीं है।'

हां, तो मैं कह रहा था कि महान व्यक्ति त्याग और अकिंचनता को ही शान समझते हैं, वैभव मानते हैं। भगवान महावीर ने भी त्याग को सच्चा वैभव माना, अकिंचनता को ही जीवन का सारभूत तत्त्व समझा। शेष सब-कुछ उनके लिए निस्सार था। इसलिए वे भर तरुणावस्था में साधना के पथ पर अग्रसर हो गए।

उनका साधना-काल लगभग साढ़े बारह वर्षों का था। इस अवधि का बहुलांश ध्यान और कायोत्सर्ग में बीता, स्वाध्याय में बीता। साढ़े बारह वर्षों के काल में मात्र एक मुहूर्त उन्होंने नींद ली। इस एक बात से आप अनुमान लगा सकते हैं कि उनकी साधना कितनी जागरूकता की थी, कितने ऊंचे स्तर की थी। साधनाकाल में उन्होंने यह संकल्प किया कि जब तक केवलज्ञान उपलब्ध नहीं हो जाता, तब तक लगभग मौन रहूंगा, शरीर की सार-संभाल नहीं करूंगा·····अपनी विशिष्ट साधना और जागरूकता के आधार पर आखिर उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया। कैवल्य-प्राप्ति का अर्थ है कि उनके ज्ञान के समस्त स्रोत खुल गए। सब-कुछ साक्षात हो गया।

कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, जन-जन को प्रतिबोध दिया। उनका वह प्रतिबोध ढाई हजार वर्षों के पश्चात भी हमारे लिए प्रासंगिक है, अत्यंत उपयोगी है।

जैन स्वयं दोषी हैं

महावीर के विचार अत्यंत व्यापक हैं। उनका समता का दर्शन विश्व-शांति का आधारभूत तत्त्व है। अपरिग्रह का सिद्धांत राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर की बहुत-सी समस्याओं का समुचित समाधान है। पर मुझे दुःख है कि हमने भगवान महावीर को व्यापक नहीं बनाया। फलतः बुद्ध और क्राइस्ट का जहां नाम आता है, वहां महावीर का नहीं आता, और आता भी है तो गौण रूप में। इसके कारण जैन ही हैं, महावीर के अनुयायी ही हैं। जैनों ने महावीर के सिद्धांत सही रूप में प्रस्तुत ही नहीं किए।

इस संदर्भ में पहली भूल यह हुई कि अनुयायियों ने महावीर का दर्शन जितना ऊंचा बताया, अपना जीवन-स्तर उतना ही नीचे गिरा दिया। यों तो यह विसंगति सभी धर्मावलंबियों में मिलती है, पर जितनी जैनों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उतनी दूसरों में नहीं है। अहिंसा और अपरिग्रह के बारे में उन्होंने जितनी बातें कीं, उतनी औरों ने नहीं कीं।

अहिंसा को इस रूप में परिभाषित किया गया कि गृहस्थ अपने आवश्यक कर्तव्य भी पूरे नहीं कर सकता, अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व भी नहीं निभा सकता। पड़ौसी राष्ट्र ने अपने राष्ट्र पर आक्रमण कर दिया, फिर भी हथियार नहीं उठाना चाहिए, उसका मुकाबला नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह हिंसा है। जैनों ने अपरिग्रह का एकांगी विवेचन करते हुए कहा कि परिग्रह त्याज्य है, परिग्रह पाप का मूल है। इस प्रकार हर व्यक्ति के सामने एक महाव्रती आदर्श खड़ा कर दिया। दर्शन बतानेवाले गृहस्थ होते हैं और उस दर्शन का आदर्श मिलता है मुनियों में। मुनि कहां-कहां मिलें? फलतः वह विवेचन एक विडंबना बन गया और लोगों ने अव्यावहारिक मानकर जैन-धर्म को उपेक्षित कर दिया।

पर सचाई यह है जैन-धर्म बहुत ही यथार्थवादी धर्म है। भगवान महावीर ने साधना को जैसा व्यावहारिक रूप दिया, वैसा किसी ने नहीं दिया। महाव्रत और अणुव्रत का विभाजन उसी का परिणाम है। महाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आदर्श रूप है और अणुव्रत इनका व्यावहारिक रूप। आदर्श तक कोई-कोई ही पहुंच सकता है, इसलिए पांच महाव्रतों का विधान उन्होंने मात्र मुनियों के लिए किया। जनसाधारण आदर्श रूप में इन्हें नहीं निभा सकता। एक सीमा तक ही इनकी साधना उसके लिए संभाव्य है। इसलिए उन्होंने अणुव्रत के रूप में इनकी साधना प्रस्तुत की। यह अहिंसा, अपरिग्रह आदि तत्त्वों का बिलकुल व्यावहारिक रूप है। यानी अणुव्रत स्वीकार करके एक गृहस्थ अपने पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय दायित्व अच्छी तरह से निभाता हुआ अहिंसा, अपरिग्रह आदि की साधना में संलग्न रह सकता है। मैं मानता हूं, जिस दर्शन या धर्म में अहिंसा, अपरिग्रह आदि का आदर्श रूप नहीं है, वह अधूरा है। इसी प्रकार जिसमें इनका व्यावहारिक रूप नहीं है, वह भी अधूरा है। भगवान महावीर ने व्यक्ति-व्यक्ति के सामर्थ्य की तरतमता को ध्यान में रखते हुए इन्हें दोनों रूपों में प्रस्तुत कर दिया। यदि ये तत्त्व इसी रूप में प्रतिपादित होकर सबके सामने आते तो शायद यह भ्रांति नहीं फैलती, भगवान महावीर का नाम धर्म-प्रवर्तकों की चर्चा में गौण रूप में नहीं उभरता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी बात यह भी है कि जैन-मुनियों ने तप पर बहुत बल दिया और शरीर सुखाने की बात कही, जबकि तपस्या वहां तक ही करनी चाहिए, जहां तक अहिंसा की भावना को बल मिले। जिस तप से मन संक्लिष्ट हो जाता है, वह तप उपादेय नहीं है। तप आत्म-शुद्धि का मार्ग है। यदि आत्म-शुद्धि नहीं होती है तो शरीर के साथ हमारा क्या विरोध है? अतः यह नितांत अपेक्षित है कि भगवान महावीर ने जिस रूप में तपस्या की, उसे उसी रूप में सम्यक ढंग से समझा जाए।

हीनता-महानता का आधार

भगवान महावीर ने जातिवाद और वर्णवाद को महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने कहा, व्यक्ति किसी जाति या वर्ण में जन्म लेने मात्र से हीन या उच्च नहीं होता। व्यक्ति की हीनता या महत्ता का मानदंड उसका आचरण है। इसी प्रकार स्त्री को उन्होंने हीन दृष्टि से नहीं देखा। उस युग में नारी-जाति को आगे लाकर तो भगवान महावीर ने एक अनोखा ही काम किया। इसी लिए तो वे नारी-जाति के उद्धारक कहलाते हैं।

अनेकांतवाद और स्याद्वाद

जिस प्रकार आचार के क्षेत्र में उन्होंने अहिंसा पर बल दिया, उसी प्रकार विचारों का आधार अनेकांत को बनाया, भाषा की पृष्ठभूमि स्याद्वाद को बनाया। अनेकांत और स्याद्वाद के द्वारा वैचारिक और भाषात्मक दोनों स्तरों पर उभरनेवाली विभिन्न उलझनें बहुत आसानी से सुलझाई जा सकती हैं। और बहुत सही तो यह है कि जहां ये दोनों तत्त्व होते हैं, वहां विचार और भाषा के स्तरों पर विवाद पैदा हो ही नहीं सकते।

महावीर के संदर्भ में थोड़ी-सी चर्चा मैंने की। मैं मानता हूं, यदि महावीर के सिद्धांतों को सही प्रस्तुति मिले तो जैन-धर्म विश्व का प्रमुख धर्म बन सकता है। महावीर केवल कुछ लाख जैनों के नहीं, अपितु जन-जन के आराध्य बन सकते हैं, पर यह तभी संभव है, जब जैन लोग महावीर के सिद्धांत स्वयं सही रूप में समझें और उन्हें अपने आचार-विचार में व्यवहारगत बनाएं। कोई अच्छा-से-अच्छा तत्त्व तब तक अपेक्षित लाभ नहीं कर सकता, जब तक वह इस भूमिका पर नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आता, पर यह एक सामान्य बात है कि लोग सरल मार्ग पर चलना पसंद करते हैं, कठिन मार्ग पर नहीं। मुझे लगता है, धर्म को जीवन के आचार और विचार की भूमिका पर उतारना लोगों को कठिन लगता है। मात्र भगवान का नाम लेकर तथा उनकी पूजा-आरती करके वे धार्मिक बनना चाहते हैं, क्योंकि इसमें उन्हें सुविधा महसूस होती है, पर धार्मिकता के अभाव में उपासना का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। एक व्यक्ति झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यापार और व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है, ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी करता है। और भी न जाने कितनी-कितनी तरह की बुराइयों में वह फंसा हुआ है। ऐसी स्थिति में भगवान का नाम लेने मात्र से कल्याण कैसे संभव है?

उपासना : व्यापक संदर्भ

वैसे उपासना को यदि व्यापक संदर्भ में लिया जाए, जीवन की पवित्रता के साधन के रूप में उसका उपयोग किया जाए तो वह व्यक्ति के लिए बहुत उपयोगी तत्त्व है। व्यापकता से मेरा तात्पर्य है कि उसे भगवान का नाम लेने तक ही सीमित नहीं रखा जाए। ध्यान, स्वाध्याय, आत्म-चिंतन, सत्संग आदि सभी उपासना के ही अंतर्गत आते हैं। जीवन की पवित्रता का अर्थ आप समझते ही हैं। इसके लिए व्यक्ति को बुराइयों से विरत होना आवश्यक होता है। अतः उपासना व्यक्ति के लिए बुराई न करने की प्रेरणा बननी चाहिए। साथ ही यदि कोई बुराई पूर्व में है तो उसे छोड़ने की प्रेरणा बननी चाहिए। व्युत्पत्ति की दृष्टि से हम देखें तो उपासना का अर्थ होता है—नजदीक होना। यानी अपनी आत्मा के पास रहना। यह तभी संभव है, जब व्यक्ति अपने आचार और विचार में आत्मगुण ढाले; क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव सत्य, संयम आदि का विकास करे। धर्म और क्या है? इन गुणों के विकास का नाम ही धर्म है। इसी लिए मैंने कहा कि उपासना को यदि व्यक्ति सही रूप में समझे, व्यापक संदर्भ में स्वीकार करे तो वह उसके लिए बहुत उपयोगी है। वह उसके धार्मिक बनने का सही आधार बनती है।

ऐसी उपासना व्यक्ति को करनी चाहिए, अवश्य करनी चाहिए और तब तक करनी चाहिए, जब तक वह मोक्ष के द्वार में प्रविष्ट न हो जाए। मोक्ष के द्वार में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात आत्मा परमात्मा बन जाती है। उसकी साधना सार्थक हो जाती है, कृतकारज हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर ने धर्म की सम्यक रूप में आराधना करके अपना आत्मस्वरूप प्राप्त किया। वे परमात्मपद को प्राप्त हुए। हम सब भी उनके पदचिह्नों का अनुसरण करें। ऐसा करके ही हम महावीर को मना सकते हैं।

श्रीगंगानगर

३ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३० : विद्याध्ययन : क्यों : कैसे*

जीवन का स्वर्णिम काल

विद्यार्थी समाज या राष्ट्र की नींव होते हैं, पृष्ठभूमि होते हैं। समाज और राष्ट्र का विकास उनके विकास पर ही निर्भर करता है। विद्यार्थी-काल वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति के विकास की सर्वाधिक संभावनाएं रहती हैं। साथ ही इस अवस्था में होनेवाला विकास स्थायी भी होता है। इस दृष्टि से विद्यार्थीकाल को यदि जीवन का स्वर्णिम काल कहा जाए तो अनुपयुक्त नहीं होगा। जो व्यक्ति इस स्वर्णिम काल का सही ढंग से उपयोग नहीं करता, उसे बाद में पछताना पड़ता है।

विद्यार्थी कौन

प्रश्न होता है कि विद्यार्थी किसे कहा जाए। सामान्यतः स्कूलों-कॉलेजों में पढ़नेवाले लड़के-लड़कियों को विद्यार्थी माना जाता है। यह उम्र साधारणतया पचीस वर्ष के आस-पास तक रहती है, पर मेरा चिंतन ऐसा है कि विद्यार्थी की कोई उम्रविशेष नहीं होती, यह तो एक मानसिकताविशेष का नाम है। व्यक्ति का मानस जब तक जिज्ञासु है, ग्रहणशील है, वह विद्यार्थी है। इस विवक्षा से एक सत्तर वर्ष का व्यक्ति भी विद्यार्थी हो सकता है। इसके ठीक विपरीत एक दस वर्ष का बालक भी विद्यार्थी नहीं हो सकता, यदि उसके मन में जिज्ञासा नहीं है, ग्रहणशीलता नहीं है। मैं अपने-आपको सदा विद्यार्थी मानता हूं। आज भी मन में नया जानने की भावना रहती है। जहां-कहीं कोई उपयोगी बात मेरे ध्यान में आती है, मैं उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करता हूं। मेरे सामने बहुत-से अध्यापक बैठे हैं। कहीं वे अपने-आपको पूर्ण तो नहीं मान बैठे हैं? खुद को पूर्ण मानना अपने विकास का द्वार बंद करना है, जबकि विद्यार्थी बनकर रहना सतत विकास की यात्रा है। मेरा अभिमत है कि वही अध्यापक कुशल अध्यापक

*विद्यार्थी-सम्मेलन में प्रदत्त प्रवचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन सकता है, जो स्वयं को विद्यार्थी मानकर चले। गहराई से देखा जाए तो अध्यापन अपने-आपमें पढ़ना ही है। यह कहना और अधिक उपयुक्त होगा कि स्वयं पढ़ने से जितना ज्ञान प्राप्त नहीं होता, उतना अध्यापन से होता है, बशर्ते कि जिज्ञासा का भाव मौजूद हो, ग्रहण करने की मानसिकता बनी हुई हो। इसलिए अध्यापक सदा विद्यार्थी बनकर रहें।

दूसरी बात यह भी है कि स्वयं को विद्यार्थी माननेवाला ही विद्यार्थियों के हृदय को छू सकता है। स्वयं को विद्यार्थी न माननेवाला विद्यार्थियों को पुस्तक भले पढ़ा दे, पर उनके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता; और तादात्म्य के अभाव में वह विद्यार्थियों को अपेक्षित ज्ञान देने में विफल रहता है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों के मन में भी उसके प्रति वह आदर और पूज्यता का भाव नहीं होता, जो एक शिक्षागुरु के प्रति होना चाहिए।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य क्या है, इस प्रश्न पर हमारे विद्यार्थियों और अध्यापकों ने अवश्य चिंतन किया होगा। अधिकतर विद्यार्थी शायद ऐसा सोचते हैं कि हमें ऊंची डिग्री हासिल करनी है, ताकि अच्छी नौकरी प्राप्त हो सके। यदि पढ़ाई नहीं करेंगे तो सर्विस मिलने में कठिनाई हो जाएगी। और तो क्या, अनपढ़ लड़के से कोई अच्छी लड़की शादी भी करना नहीं चाहती। इसी प्रकार अध्यापक लोग सोचते हैं कि अध्यापन से आजीविका अच्छे ढंग से चलाई जा सकेगी। इससे पैसा तो मिलता ही है, इज्जत भी प्राप्त होती है। पर मैं मानता हूं कि यह सब शिक्षा का सही उद्देश्य नहीं है।

फिर शिक्षा का उद्देश्य क्या है? शिक्षा का उद्देश्य है—ज्ञानी बनना, आत्मा का साक्षात्कार करना या आत्मा का सर्वांगीण विकास करना। *दशवैकालिक* सूत्र में अध्ययन का लक्ष्य बताते हुए चार बातें बताई गई हैं—

१. सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। २. एगग्ग-चित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ३. अप्पाणं मे ठावइ-स्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ४. ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

— १. भविष्य में मुझे ज्ञान मिलेगा। २. मैं एकाग्रचित्त बनूंगा। ३. मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मस्थ बनूंगा। ४. मैं दूसरों को आत्मस्थ बनाऊंगा।

इन चारों बातों को लक्ष्य बनाकर विद्यार्थियों को अध्ययन करना चाहिए। यदि लक्ष्य सही होगा तो उनके सामने भटकन की स्थिति पैदा नहीं होगी, अन्यथा जब कभी भटकाव पैदा हो सकता है।

अध्यापन आत्मधर्म है

अध्यापक भी अध्यापन के संदर्भ में अपनी दृष्टि स्पष्ट रखें, सम्यक रखें। उनसे मैं एक ही वाक्य में कहना चाहता हूं कि वे अध्यापन को आजीविका का साधन नहीं, अपितु आत्म-धर्म मानें। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें पारिश्रमिक नहीं लेना चाहिए। पारिश्रमिक लेने का निषेध मैं नहीं करता, पर वह गौण बात है। मुख्य बात है—अपना आत्मधर्म निभाना। जहां आत्म-धर्म मानकर अध्ययन कराया जाता है, वहां पारिश्रमिक मिलने में लगभग कोई कमी नहीं रहती। कदाचित रहे भी तो अपना आत्मधर्म विस्मृत नहीं करना चाहिए, उसे गौण नहीं बनाना चाहिए।

शिक्षा का पात्र कौन

विद्या का पात्र कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में *उत्तराध्ययन* सूत्र में बताया गया है—

वसे गुरुकुले णिच्चं, जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई॥

— विद्यार्थी गुरुकुल में रहे। वह योगी और तपस्वी बनकर रहे। प्रिय काम करे और प्रिय बोले। सचमुच ऐसा करनेवाला ही शिक्षा का अधिकारी है।

विद्यार्थी सच्चा योगी होता है। चलना, बैठना, हंसना, बोलना आदि उसकी सारी क्रियाएं संयत होनी चाहिए। आज के विद्यार्थी संयम से नहीं रहते, अतः वे सच्चे योगी नहीं हैं। मैं चाहता हूं कि विद्यार्थी अपने विद्यार्थीकाल में योगी बने रहें।

विद्यार्थी को तपस्वी भी कहा जाता है। तपस्वी कौन होता है? तपस्वी वह होता है, जो कष्ट सहन करे। विद्यार्थीकाल में अनेक कष्ट आते हैं। कष्ट सहन किए बिना विद्या फल नहीं सकती।

केवल किताबी विद्या से जीवन का विकास नहीं हो सकता, पर कैसी बात है कि आज यह भ्रम पाला जा रहा है! मैं समझता हूं, जब तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन में अहिंसा, सत्य और प्रामाणिकता की बातें नहीं सिखाई जाएंगी, तब तक विद्या की सार्थकता सिद्ध नहीं होगी। इसी प्रकार शिक्षा के साथ अनुशासन की बात जुड़नी चाहिए। सचमुच बच्चे देश की शान हैं। देश को उन पर अभिमान है, पर जब तक वे अनुशासित नहीं होंगे, तब तक देश का नाम उज्ज्वल नहीं हो सकेगा।

विद्यार्थीवर्ग और सुसंस्कार

आजकल विद्यार्थियों पर अनुशासनहीनता का दोषारोपण किया जाता है, पर इसके लिए केवल विद्यार्थी दोषी नहीं हैं, क्योंकि उनका दायित्व रहता है अभिभावकों पर। अभिभावकवर्ग उनकी तरफ से लापरवाह रहे तो उनके जीवन में अनुशासनप्रियता का संस्कार कैसे आ पाएगा? फिर उन पर अनुशासनहीनता के एकांगी दोषारोपण का क्या औचित्य है? यही बात दूसरे-दूसरे गलत संस्कारों के संदर्भ में भी लागू होती है।

मैं पूछना चाहता हूं कि क्या बच्चे माता-पिता की संपत्ति नहीं हैं; यदि हैं तो दूसरी-दूसरी प्रकार की संपत्ति की सुरक्षा की तरह इस संपत्ति की सुरक्षा क्यों नहीं हो रही है; क्यों इतनी लापरवाही बरती जा रही है; क्यों यह समझ लिया जाता है कि स्कूल में दाखिला करा देने के पश्चात बच्चे के प्रति हमारा दायित्व पूरा हो गया है। मेरी दृष्टि से यह सोच-समझ सम्यक नहीं है। यह ठीक है कि बच्चे को स्कूल में दाखिल करवा देने से उसके प्रति माता-पिता का एक दायित्व पूरा हो जाता है, पर बच्चे के प्रति उनका यही तो एक दायित्व नहीं है, और भी तो बहुत-से दायित्व हैं। क्या समय-समय पर अध्यापकों से मिलकर बच्चे के संस्कार, चरित्र, व्यवहार और पढ़ाई के संदर्भ में जांच-पड़ताल करना, कहीं कमी हो तो उचित कदम उठाना उनका दायित्व नहीं है? पर मैं देखता हूं कि ज्यादातर माता-पिता इस दृष्टि से उपेक्षा बरतते हैं। पूरे वर्ष में शायद एक बार भी अध्यापकों से इस परिप्रेक्ष्य में नहीं मिलते। हां, पढ़ाई में कमजोर रहनेवाले विद्यार्थियों के कुछ अभिभावक अवश्य परीक्षा के दिनों में अध्यापकों से मिलते हैं, पर इस मिलने का उद्देश्य आप समझते ही हैं। बच्चे की डगमगाती नैया को वे जैसे-तैसे पार लगाना चाहते हैं, अध्यापकों को खेवणहार बनाना चाहते हैं।

अध्यापक जब यह कार्य अनैतिक बताते हैं, तब वे कहते हैं— 'नैतिकता की बातों में ज्यादा सार नहीं है। आजकल सब काम ऐसे ही चलते हैं। आप मेहरबानी रखें। देखिए, आपका और हमारा बहुत पुराना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रिश्ता है। यह बच्चा हमारा है, उससे पहले आपका है। आप ही इसके भविष्यनिर्माता हैं। जैसे-तैसे आप इसे अगली कक्षा में पहुंचने दीजिए।'.....' यह है अभिभावकों की स्थिति।

दूसरी ओर अध्यापक यह सोचते हैं कि बच्चे हमारे पास रहते ही कितनी देर हैं। हम उनके संस्कारों के बारे में क्यों सोचें। किंतु उन्हें सोचना चाहिए। भले बच्चे उनके पास बहुत कम समय तक रहते हैं, फिर भी उन पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है–

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
'तुलसी' संगत साधु की, हरे कोटि अपराध॥

आदर्श अध्यापक के पास बच्चा एक घंटा भी रहता है तो उस पर असर होता है, लेकिन अध्यापक जब स्वयं ही दुर्व्यसनी हो, शराबी हो तो उसका क्या असर हो सकेगा! ऐसे अध्यापक के विद्यार्थी भी सुसंस्कारी नहीं हो सकते। सुसंस्कारी अध्यापक के विद्यार्थी ही सुसंस्कारी हो सकते हैं। इसलिए विद्यार्थियों को सुसंस्कारित करने के लिए अध्यापकों को पहले स्वयं सुसंस्कारी बनना होगा। उनकी यह पहल विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण में निर्णायक सिद्ध होगी; और जहां विद्यार्थियों का जीवन निर्मित होगा, वहां अनुशासनहीनता-जैसे कुसंस्कारों के लिए अवकाश नहीं रहेगा।

बच्चों के जीवन-निर्माण में थोड़ा असर वातावरण और युग की पद्धति का भी होता है। छात्रों के अनुशासनहीनता आदि कुसंस्कारों का एक कारण अनुकरण भी है। एक स्कूल या कॉलेज में हड़ताल होती है तो दूसरे-दूसरे स्कूलों व कॉलेजों के विद्यार्थी एक बन जाते हैं, किंतु उनका यह संगठन अच्छे कामों में दिखाई नहीं देता। यदि ऐसा ही संगठन रचनात्मक प्रवृत्तियों के समय हो तो कितना अच्छा रहे!

गलती की भर्त्सना हो

कोई विद्यार्थी गुमराह है। वह गलती करता है, पर उसे दूसरों का प्रोत्साहन क्यों मिलता है? यह प्रोत्साहन उस विद्यार्थी को नहीं, अपितु उसकी गलती को होता है। उस समय विद्यार्थी संगठित रूप में उस विद्यार्थी की भर्त्सना क्यों नहीं करते? जिस प्रकार गलती करनेवाले को प्रोत्साहन देना गलती को प्रोत्साहन देना है, उसी प्रकार गलती करनेवाले की भर्त्सना उस गलती की भर्त्सना है, प्रतिकार है, गलती करनेवाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति की भर्त्सना नहीं है। इसलिए अपेक्षा है कि इस दिशा में विशेष जाग्रति लाई जाए।

राजनीतिक दलों का गलत रवैया

विद्यार्थियों को गुमराह करने में राजनीतिक दलों का भी कम हाथ नहीं है। अपना दल बढ़ाने के लिए विद्यार्थियों के मन में दूसरे-दूसरे दलों के प्रति घृणा पैदा करना, तोड़-फोड़ एवं हत्याकांड में उन्हें साथ लेना उन पर बहुत बड़ा अत्याचार है। बहुत गहरे में तो ऐसा करना राष्ट्र का बड़ा अहित करना है। जिस-किसी दल को सचमुच ही राष्ट्र की चिंता है, वह कभी ऐसा नहीं कर सकता। वह तो इस संपत्ति की सुरक्षा को राष्ट्र की सुरक्षा मानता हुआ अपना आचरण और व्यवहार सुनिश्चित करेगा।

अच्छाइयों को प्रोत्साहन मिले

विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण की दृष्टि से उनके कुसंस्कार छुड़ाना जितना आवश्यक है, उससे भी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, उनके नैतिकता, प्रामाणिकता-जैसे सुसंस्कारों को प्रोत्साहित करना। विदेशों में यह कानून बन रहा है कि जो विद्यार्थी वेश-भूषा से सादे रहेंगे, उन्हें पांच-पांच अंक अधिक मिलेंगे। इसी परिप्रेक्ष्य में यह भी सोचा जा सकता है कि जो विद्यार्थी व्यवहार में नैतिक व प्रामाणिक रहेंगे, उन्हें इतने-इतने अंक अधिक मिलेंगे। ऐसे प्रयोग नैतिकता और प्रामाणिकता के संस्कार जाग्रत और विकसित करने की दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

एक अभिनव प्रयोग

नैतिकता को प्रयोगात्मक रूप देने के लिए दिल्ली में *अणुव्रत-विहार* काम कर रहा है। वहां शिक्षालयों में स्वशासित स्टोर खुल रहे हैं। उनमें विद्यार्थियों के लिए उपयोगी चीजें रहती हैं। साथ ही मूल्यसूची भी रख दी जाती है। वहां कोई विक्रेता या निरीक्षक नहीं रहता। विद्यार्थी अपनी-अपनी आवश्यकता की चीज लेते हैं और उसका मूल्य पेटी में डाल देते हैं। यह प्रयोग आज तक के अनुभवों के आधार पर काफी सफल रहा है। इस प्रकार के प्रयोगों का उद्देश्य यह है कि किसी तरह नैतिकता का विकास हो।

पाठ जीवन में उतरे

जीवन-निर्माण की दृष्टि से सर्वाधिक सजग स्वयं विद्यार्थियों को होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा है। वे जो-कुछ पढ़ते हैं, उसे अपने जीवन में उतारें। जो तत्त्व जीवन में, जीवन के व्यवहार और आचरण में नहीं उतरता, वह पढ़ा हुआ नहीं गिना जाता। पाठ तो तोता भी रट लेता है, पर उससे उसका कोई हित नहीं सधता। विद्यार्थी भी केवल शाब्दिक स्तर पर पाठ याद कर अपना हित नहीं साध सकते। पाठ जीवनगत होने से ही हित संपादित होता है।

प्रसंग युधिष्ठिर का

पांडवों और कौरवों का गुरु द्रोणाचार्य के सान्निध्य में अध्ययन चल रहा था। एक दिन उन्होंने पाठ दिया—**क्रोधं मा कुरु।** पाठ देकर उन्होंने सभी विद्यार्थियों को पाठ याद करने का आदेश दिया। सभी विद्यार्थी पाठ याद करने लगे। कुछ देर पश्चात द्रोणाचार्य ने विद्यार्थियों को पाठ सुनाने के लिए कहा। एक-एक करके सभी विद्यार्थियों ने पाठ सुना दिया। अंत में युधिष्ठिर की बारी आई। उसने कहा—'मुझे अभी तक पाठ याद नहीं हुआ।' और उसने पाठ नहीं सुनाया।

सभी विद्यार्थियों ने उसकी बहुत भद्द की। द्रोणाचार्य ने भी उपालंभ दिया और दूसरे दिन पाठ याद करके आने का निर्देश दिया, पर दूसरे दिन भी युधिष्ठिर ने पाठ नहीं सुनाया। द्रोणाचार्य ने कड़ा उपालंभ दिया। तीसरे दिन भी यही स्थिति रही। युधिष्ठिर ने पाठ नहीं सुनाया। इस क्रम में कई दिन बीत गए। द्रोणाचार्य प्रतिदिन उसे पाठ सुनाने के लिए कहते और युधिष्ठिर याद न होने की बात कहता। इस स्थिति ने आखिर एक दिन द्रोणाचार्य को इतना कुपित कर दिया कि उन्होंने युधिष्ठिर के गाल पर कसकर दो चांटे जड़ दिए। चांटे लगने के साथ ही युधिष्ठिर ने करबद्ध निवेदन किया—'गुरुदेव! मुझे पाठ याद हो गया।' और उसने पाठ सुना दिया। द्रोणाचार्य ने कहा—'मुझे पहले यह पता होता कि चांटे लगने से पाठ याद होता है तो मैं यह प्रयोग प्रथम दिन ही कर लेता! इतने दिनों का समय व्यर्थ क्यों गंवाता!' पर तत्क्षण ही वे गंभीर हो गए और सोचने लगे कि युधिष्ठिर प्रतिभासंपन्न बालक है। इस स्थिति में तीन शब्दों के छोटे-से वाक्य का इतने दिनों तक याद न होने का कोई कारण नहीं है। फिर एक क्षण पहले तक इसे पाठ याद नहीं था और अगले क्षण याद हो गया। अवश्य इसमें कोई रहस्य होना चाहिए। मुझे वह रहस्य जानना·····इस चिंतन के साथ ही उन्होंने युधिष्ठिर को अपने पास बुलाया और वात्सल्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उड़ेलते हुए पूछा—'इतने दिनों तक पाठ याद क्यों नहीं हुआ?' युधिष्ठिर ने कहा—'गुरुदेव! आपने हमें सिखाया था कि जो पढ़ो, उसे जीवन में उतारो, अन्यथा पढ़ने का कोई सार नहीं। **क्रोधं मा कुरु**—यह वाक्य तो मैंने उसी दिन याद कर लिया था, पर तब तक स्थिति यह थी कि मुझे गुस्सा बहुत आता था। ऐसी हालत में पाठ याद हो जाने की बात कहना अनुचित हो जाता। इसी लिए मैंने पाठ याद न होने की बात कही और सलक्ष्य गुस्सा छोड़ने का अभ्यास शुरू कर दिया। इतने दिनों के अभ्यास से मैं इस स्थिति में तो पहुंच गया था कि मुझे कोई चाहे कुछ भी कहे, गाली भी क्यों न दे, गुस्सा नहीं आता; पर कोई पीट दे, तब भी गुस्सा न आए, इस स्थिति तक पहुंचने का अभ्यास चालू था। चूंकि आज तक ऐसा कोई प्रसंग सामने नहीं आया, इसलिए इसकी कसौटी होनी अब तक शेष थी। आज आपकी कृपा हुई और मुझे इस कसौटी पर स्वयं को कसने का अवसर मिला। चांटे लगने पर जब मुझे गुस्सा नहीं आया, तब मैंने समझ लिया कि पाठ पूरा आत्मगत हो गया है। अतः मैंने आपसे कहा कि पाठ याद हो गया है और मैंने पाठ सुना भी दिया।'

रहस्य जानकर द्रोणाचार्य ने मन-ही-मन कहा कि गुरु मैं कहलाता हूं, पर वास्तव में गुरु तो यह है। पढ़ाई की जिस सूक्ष्मता तक यह पहुंचा है, उस सूक्ष्मता तक मैं भी नहीं पहुंच पाया हूं। **क्रोधं मा कुरु** का पाठ पढ़कर इसने गुस्सा करना छोड़ दिया और मैं यह पाठ पढ़ाता हुआ भी अब तक गुस्सा करता हूं। जब मैंने स्वयं यह पाठ आत्मसात नहीं किया, तब दूसरों को पढ़ाने का अधिकार नहीं है। इसे पढ़ाने का वास्तविक अधिकारी तो यह युधिष्ठिर ही है। मुझे इससे प्रेरणा लेनी चाहिए। सही रूप में पाठ पढ़कर ही शिष्यों को पढ़ाना चाहिए। प्रकट में शिष्यों को संबोधित करते हुए बोले—'देखो, पढ़ाई नाम इसका है। तुम सबको भी इसी तरह पाठ आत्मसात/जीवनगत करके पढ़ाई करनी चाहिए।'

हमारे छात्र भी इस उदाहरण से प्रेरणा लें। अध्ययन जीवनगत बने, ऐसा प्रयत्न करें। मैं मानता हूं, ऐसा अध्ययन सचमुच उनके उज्ज्वल भविष्य यह एक सुदृढ़ आधार है।

अणुव्रत-विहार का नाम अभी मैंने आपके सामने लिया था। यह संस्थान *अणुव्रत* का कार्यक्रम आगे बढ़ाता है। अणुव्रत अपने उद्भव-काल से ही समाज के अन्यान्य वर्गों के साथ-साथ विद्यार्थी-वर्ग में भी कार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता रहा है। अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प विद्यार्थियों का जीवन नैतिकता और प्रामाणिकता के सांचे में ढालते हैं। इस सांचे में ढलकर विद्यार्थी अपने जीवन का सही ढंग से निर्माण कर सकते हैं। जिस प्रकार जलता हुआ एक दीप सैकड़ों नए दीप जला सकता है, उसी प्रकार एक सुसंस्कारी विद्यार्थी सैकड़ों-सैकड़ों विद्यार्थियों में सुसंस्कार जगा सकता है। इस अपेक्षा से प्रारंभ में यदि थोड़े विद्यार्थी भी सुसंस्कारी बनते हैं तो आगे चलकर बहुत काम हो सकता है। मैं आशा करता हूं कि हमारे विद्यार्थी अणुव्रत के पथ पर आगे बढ़ते हुए अपना निर्माण करेंगे।

यह बहुत स्पष्ट है कि विद्यार्थीकाल संपन्न होने के साथ ही हमारे ये विद्यार्थी बिखर जाएंगे, क्योंकि हर विद्यार्थी का कार्यक्षेत्र अलग होगा। एक दृष्टि से इनका बिखरना बहुत अच्छा होगा। सुसंस्कारित व्यक्ति जितने अधिक बिखरते हैं, उतना ही समाज और राष्ट्र का हित होता है।

प्रसंग गुरु नानक का

गुरु नानक की बात मुझे याद आ गई। एक गांव में उनका जाना हुआ। वहां उनका स्वागत तो बहुत दूर, प्रत्युत उन्हें लोगों की गालियां मिलीं, दुतकार मिला, अपमान मिला। पर इतने पर भी बात समाप्त नहीं हुई। उन्हें गांव से भी निकाल दिया गया। गुरु नानक ने जाते-जाते ग्रामवासियों को संबोधित करके कहा–'तुम लोग आबाद हो जाओ।'

वहां से नानक किसी दूसरे गांव के लिए रवाना हुए। उस गांव के लोगों को खबर लगी और वे अगवानी करने के लिए आए। उन्होंने गुरु नानक का खूब स्वागत किया, सम्मान किया और उपयुक्त स्थान पर ठहराया। जब नानक वहां से विदा होने लगे तो लोगों ने आशीर्वाद देने के लिए कहा। गुरु नानक ने कहा–'तुम सब उजड़ जाओ।'

गुरु नानक के साथ कुछ भक्त भी थे। नानक का आज का यह व्यवहार उन्हें गहरी हैरानी में डालनेवाला था। थोड़ी हिम्मत जुटाकर एक व्यक्ति ने पूछ ही लिया–'दुष्ट व्यक्तियों को तो आप आबाद होने का आशीर्वाद देते हैं और सज्जन व्यक्तियों को उजड़ने की दुराशीष ! यह उलटी बात क्यों?'

नानक ने कहा–'यह उलटी बात नहीं हैं, बिलकुल सुलटी है, सही है। तुम इसका रहस्य नहीं समझ पाए। देखो, पहले गांव के लोगों से मैंने आबाद होने की बात कही, क्योंकि ऐसे अभद्र प्रकृति के लोग जहां-कहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाएंगे, वहां लोगों को बिगाड़ेंगे। इसलिए उनका बिखरना बिलकुल भी अच्छा नहीं है। वे तो एक ही जगह बस जाएं तो ठीक है। इससे दूसरे-दूसरे गांवों के लोग तो बिगड़ने से बच जाएंगे। दूसरे गांव के लोगों से मैंने उजड़ जाने के लिए कहा। इसके पीछे अपेक्षा यह है कि उस गांव के लोग बहुत भले हैं, सुसंस्कारी हैं। वे लोग एक जगह रहेंगे तो दूसरे लोगों को सुसंस्कारी नहीं बना पाएंगे। अतः उनका तो उजड़ जाना यानी बिखर जाना ही श्रेयस्कर है। वे लोग जितने अधिक उजड़ेंगे-बिखरेंगे, उतने अधिक क्षेत्रों के लोगों को सुसंस्कारी बनाएंगे।'

छात्रों के लिए मैं यही बात कह रहा था। वे सुसंस्कारी होकर जब बिखरेंगे तो बहुत लाभ होगा। वे जहां भी जाएंगे, वहां सुसंस्कारों का वातावरण निर्मित करेंगे। अध्यापकों के लिए भी तो यही बात है। अच्छे अध्यापक जितने अधिक बिखरते हैं, समाज का उतना ही हित होता है।

आज चारों तरफ नव-निर्माण की चर्चा है। मैं मानता हूं, व्यक्ति-निर्माण से बढ़कर और कोई निर्माण नहीं है। फिर इस व्यक्ति-निर्माण में भी विद्यार्थियों और अध्यापकों का निर्माण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विद्यार्थी ही राष्ट्र के भावी कर्णधार होते हैं, तस्वीर होते हैं। उनका जीवन जितना अधिक सुसंस्कारी होता है, राष्ट्र का भविष्य उतना ही उज्ज्वल बनता है, तस्वीर उतनी ही सुंदर बनती है; और इन विद्यार्थियों का बहुत-कुछ निर्माण अध्यापकों के निर्माण पर निर्भर करता है। इस अपेक्षा से मैं इन दोनों वर्गों के निर्माण पर सर्वाधिक बल देता हूं।

श्रीगंगानगर

५ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१ : सुख और शांति का मार्ग

संसार की स्थिति पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो यह बहुत स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि जन-जीवन अशांत है, व्यथित है। हर व्यक्ति क्लांति का वेदन कर रहा है। सुखी आदमी खोजने से भी प्राप्त होना मुश्किल है। प्रश्न होता है कि इस अशांति और दुःख का कारण क्या है। इसके उत्तर में कोई समाज को दोषी बताता है तो कोई विज्ञान को। कोई सरकार को कारण मानता है तो कोई राजनीतिक दलों को। पर मेरी दृष्टि में इनमें से कोई भी उत्तर सही नहीं है। अशांति और दुःख का मूलभूत कारण व्यक्ति स्वयं है, उसकी स्वयं की वृत्तियां हैं।

अहिंसा और शांति

यह कैसी विचित्र बात है कि व्यक्ति स्वयं तो सुखी होना चाहता है, दुःख की छाया भी देखना नहीं चाहता, उसका नाम भी सुनना नहीं चाहता और दूसरों का सुख लूटता है! उन्हें दुखी बनाता है!! दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाना, चाहे वह अधिकार-हनन के रूप में हो, वाचिक प्रहार के रूप में हो, मानसिक संक्लेश के रूप में हो, शारीरिक उत्पीड़न के रूप में हो या प्राणवध के रूप में हो, हिंसा की कोटि में आता है। मैं मानता हूं, यह हिंसा की मनोवृत्ति ही व्यक्ति के दुःख और अशांति का मूलभूत कारण है। इसलिए सुख और शांति का रास्ता यही है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सीमा तक स्वयं को अनुशासित करे कि मैं दूसरों का सुख नहीं छीनूंगा, दूसरों की अशांति का कारण नहीं बनूंगा। यही बात हर समाज और राष्ट्र के लिए भी है। एक समाज दूसरे समाज की अशांति का कारण न बने। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की शांति में बाधक न बने। यदि अहिंसा के फूल इस भूमिका पर खिलते हैं तो सुख और शांति के रूप में उनका सौरभ सारे भूमंडल को सुवासित करेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा की पात्रता

आज जब अहिंसा की चर्चा होती है तो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह चर्चा अप्रासंगिक है। कारण बताया जाता है—सीमा पर होनेवाला युद्ध। लोग इस भाषा में सोचते हैं कि युद्ध के समय अहिंसा की बात करना अपनी कायरता प्रकट करना है। इस समय तो शस्त्रों की अपेक्षा है। अहिंसा के सिद्धांत ने हमें अतीत में गुलामी की जंजीर में जकड़ा था और अब भी हम यदि इसी की रटन लगाते रहे तो हमारी स्वतंत्रता खतरे में पड़ सकती है।

मैं समझता हूं, यह एक बहुत बड़ी भ्रांति है। अहिंसा कायरता नहीं है, कदापि नहीं है। अहिंसा में तो अनंत शक्ति है। इसे कवच के रूप में धारण करनेवाला सुरक्षित हो जाता है। भारतवर्ष अहिंसा के कारण कभी गुलाम नहीं बना। वह गुलाम बना हिंसा के कारण, अपनी पारस्परिक फूट के कारण। वस्तुतः लोग अहिंसा की ताकत और उसकी प्रतिरोधात्मक क्षमता से परिचित नहीं हैं। इसी लिए वे हिंसा का आश्रय लेने की बात करते हैं। यदि वे अहिंसा को यथार्थ की भूमिका में समझते तो कभी ऐसी बात नहीं करते। फिर अहिंसा को वही अपना सकता है, जो स्वयं शक्तिसंपन्न हो। कायर-कमजोर व्यक्ति अहिंसा को धारण नहीं कर सकता। वस्तु जितनी उच्चस्तर की होती हो, उसके टिकने के लिए उतने ही उच्चस्तर के पात्र की अपेक्षा रहती है। कहा जाता है कि सिंहनी का दूध पीतल, कांसी आदि के सामान्य बर्तन में नहीं टिक सकता। उसके लिए तो सोने का बर्तन चाहिए। मैं नहीं कह सकता कि यह कथन कहां तक यथार्थ है, पर इतना बिलकुल सही है कि पात्रता का अपना बहुत मूल्य है। अहिंसा की पात्रता वीरता है, शक्ति-संपन्नता है।

मनुष्य देवता बन सकता है

अशांति और दुःख का दूसरा कारण है—जन-जीवन में बढ़ती हुई अनैतिकता, असदाचार। मैं मानता हूं, यों तो अनैतिकता, असत्य, असदाचार-जैसे तत्त्व किसी-न-किसी रूप में अतीत में भी रहे हैं, पर वर्तमान युग पर उनका असर बहुत गहरा है। समाज के सभी वर्ग कुछ कमोबेश इनकी गिरफ्त में हैं। मनुष्यता का क्रमशः ह्रास हो रहा है। आदमी राक्षस बनता जा रहा है। यह बहुत ही चिंताजनक स्थिति है। इस स्थिति से निपटने के लिए हम अणुव्रत का कार्यक्रम चला रहे हैं। अणुव्रत इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति से निपटने में सर्वथा सक्षम है। इसके छोटे-छोटे नियम स्वीकार कर मनुष्य सुखी हो सकता है, शांति का अनुभव कर सकता है, देवता बन सकता है।

देवता और राक्षस कहां

राक्षस बनने और देवता बनने की जो बात मैंने कही, उसके पीछे मेरी अपेक्षा आप समझते ही होंगे। राक्षस और देवता दोनों मनुष्य से भिन्न नहीं हैं। ये मनुष्य की ही दो अवस्थाएं हैं। हर मनुष्य के अंतर में राक्षस और देवता—दोनों होते हैं। जब-जब मनुष्य बुराइयों में प्रवृत्त होता है, तामसिक वृत्तियां उस पर प्रभावी होती हैं, मानना चाहिए कि तब-तब उसके अंतर का राक्षस जाग जाता है, वह राक्षस बन जाता है। ठीक इसके विपरीत जब-जब वह सत्प्रवृत्त होता है, सात्त्विकता उस पर प्रभावी होती है, तब-तब वह देवता बन जाता है। यह राक्षस और देवता बनने की बात मनुष्य के हाथ का ही खेल है। वह राक्षस भी बन सकता है और देवता भी बन सकता है। यह चुनाव उसे ही करना होता है कि उसे राक्षस बनना है या देवता। सीधी-सी भाषा में कहूं तो राक्षस बनने का अर्थ है—बुरा आदमी बनना और देवता बनने का अर्थ है—अच्छा आदमी बनना।

अणुव्रत : अच्छे आदमी की आचार-संहिता

अणुव्रत आदमी को अच्छा आदमी बनाने की प्रक्रिया है। उसकी आचार-संहिता अच्छे आदमी की आचार-संहिता है। कोई व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय से संबद्ध क्यों न हो, अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार कर सही अर्थ में मनुष्य कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकता है, अपना आचरण और व्यवहार मनुष्यता के धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

अणुव्रत का यह कार्यक्रम लेकर मैं ढाणी-ढाणी, ग्राम-ग्राम, शहर-शहर जाता हूं और आदमी को आदमीयता की राह पकड़ाने की चेष्टा करता हूं। मैं देखता हूं, अणुव्रत की बात पसंद तो लगभग सभी लोग करते हैं, पर अपनाने में बहुत-से हिचकिचाते हैं। उन्हें अणुव्रत का मार्ग कठिनाइयों से भरा-पूरा दिखाई देता है। एक सीमा तक उनका अनुमान गलत नहीं है। अणुव्रत के पथ पर बढ़नेवाले के समक्ष अनेक प्रकार की कठिनाइयों का आना असंभावित नहीं है, पर मैं पूछना चाहता हूं कि कठिनाइयां किस मार्ग में नहीं आतीं। फिर अच्छे मार्ग में कठिनाइयों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आना तो बहुत स्वाभाविक है। अच्छी चीज का मिलना सहज कहां है? कठिनाइयों के साथ ही वह जुड़ी हुई होती है, पर कठिनाइयां सहन करके भी यदि वह मिलती है तो भी यह व्यक्ति के लिए बहुत लाभ का सौदा है।

पूछा जा सकता है कि कठिनाइयां/कष्ट सहन करने में क्या दूसरों का सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरों का सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा मैं नहीं कहता, पर इतना अवश्य कहता हूं कि व्यक्ति को दूसरों के सहयोग पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। अपनी शक्ति को ही आधार मानकर चलना चाहिए। भगवान महावीर का उदाहरण आपके सामने है। उन्होंने साधना का कठिन पथ स्वीकार किया। पहले दिन ही उन्हें भयंकर कष्ट सहन करना पड़ा। उनका कष्ट देखकर इंद्र उपस्थित हुआ और बोला—'प्रभो! लोग जड़ हैं। आपकी विशिष्ट साधना से अनजान हैं। इसलिए वे आपको नानाविध कष्ट देंगे। अतः आपकी आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा में रहूं और आपके कष्ट दूर करता रहूं।' क्या आप जानते हैं कि इस पर भगवान महावीर ने इंद्र से क्या कहा? भगवान महावीर ने कहा—'इंद्र! न तो अतीत में कभी ऐसा हुआ है और न भविष्य में कभी ऐसा संभव है। जितने भी तीर्थंकर होते हैं, वे अपनी शक्ति और सामर्थ्य के आधार पर ही साधना करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुंचते हैं। वे दूसरों के सहयोग पर आधारित रहकर साधना नहीं करते। मुझे भी इसी तरह आगे बढ़ना है। साधना-पथ में जो कष्ट आएंगे, उन्हें मैं समता से सहन करूंगा और लक्ष्य तक पहुंचूंगा।'

भरोसा स्वयं का ही करें

बंधुओ! आपको भी यह दृष्टि सामने रखकर आगे बढ़ना है। दूसरे लोग आपके पथ में सहयोगी बन सकते हैं, पर आपको उनके सहयोग पर आधारित नहीं रहना है। आपको तो अपनी आत्म-शक्ति का ही भरोसा करना है। मैं मानता हूं, यह दृष्टिकोण जब सामने रहेगा तो अणुव्रत-पथ पर बढ़ते समय आनेवाली कठिनाइयां आपको पराभूत नहीं कर सकेंगी। आप हंसते-हंसते उन्हें पार कर जाएंगे।

अनुरागाद् विरागः

आज के जन-मानस में भ्रष्टाचार, अनैतिकता तथा विभिन्न दुर्व्यसनों ने जिस प्रकार अपनी जड़ें जमाई हैं, उन्हें देखकर बहुत-से प्रबुद्ध लोग अत्यंत चिंतित हैं। जब-तब वे अपनी चिंता सार्वजनिक मंचों पर अभिव्यक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी करते हैं। चिंता के साथ-साथ निराशा का भाव भी स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है। मैं उनसे कहना चाहता हूं कि चिंता किसी बीमारी का इलाज नहीं है, निराशा किसी समस्या का समाधान नहीं है। आशान्वित रहते हुए चिंतन करने से ही किसी समस्या का समाधान पाया जा सकता है। मैंने इसी भूमिका पर अवस्थित होकर इस समस्या का समाधान पाया है। मेरे चिंतन से इस समस्या का समाधायक सूत्र है—**अनुरागाद् विरागः**—अनुराग से विराग। एक तत्त्व के प्रति अनुराग हो जाए तो दूसरे के प्रति स्वतः विराग पैदा हो जाता है। एक चीज के प्रति आकर्षण पैदा हो जाए तो दूसरी चीज के प्रति अनायास विकर्षण हो जाता है। एक व्यक्ति उपदेश से शराब नहीं छोड़ रहा है, पर उसका साथी जब उसके मन में ठंडाई के प्रति आकर्षण पैदा कर देता है, तब उस आकर्षण के कारण उसकी शराब अपने-आप छूट जाती है। आज की स्थिति के प्ररिप्रेक्ष्य में यह सूत्र अत्यंत प्रभावी बन सकता है। हम अणुव्रत के प्रति जन-आकर्षण पैदा करें। अणुव्रत के प्रति आकर्षण पैदा होने का अर्थ है—सदाचार के प्रति आकर्षण पैदा होना, नैतिकता और प्रामाणिकता के प्रति आकर्षण पैदा होना, अच्छाइयों के प्रति आकर्षण पैदा होना। इस आकर्षण के पैदा होने से भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि के प्रति सहज ग्लानि पैदा हो जाएगी। ग्लानि पैदा होने के बाद किसी गलत संस्कार का छूटना बहुत सरल हो जाता है।

शब्दांतर से कहूं तो अणुव्रत के प्रति आकर्षण पैदा होने का तात्पर्य है त्याग और संयम के प्रति आकर्षण पैदा होना, अध्यात्म के प्रति आकर्षण पैदा होना। जहां त्याग और संयम के प्रति आकर्षण पैदा होता है, अध्यात्म के प्रति आकर्षण पैदा होता है, वहां भोग के प्रति अनाकर्षण स्वतः फलित हो जाता है, विरक्ति का भाव सहज रूप से जाग जाता है। इस स्थिति में अशांति और दुःख को टिकने का कोई अवकाश भी नहीं बचता। हम साधु-संत लोग सुख और शांति का जीवन जीते हैं। इसका राज यही तो है कि हम त्याग का जीवन जीते हैं, संयम की साधना करते हैं, अध्यात्म के पथ पर अपने चरण गतिशील करते हैं।

मैं मानता हूं, पूर्ण भोगविरति की बात एक गृहस्थ के लिए व्यावहारिक नहीं है। संपूर्ण आध्यात्मिक जीवन जीना उसके लिए संभव नहीं है। वह एक सीमा तक ही संयम को अपना सकता है, आंशिक रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही अध्यात्म की साधना कर सकता है, पर यह ससीम संयम की आराधना, आंशिक अध्यात्म-साधना भी उसके सुख और शांति का आधार बनती है। इसलिए प्रत्येक भाई और बहिन को यथाशक्य संयम को जीवन में स्थान देना चाहिए, अध्यात्म को जीना चाहिए। वह दिन सचमुच व्यक्ति के लिए अत्यंत सौभाग्य का दिन होता है, जिस दिन वह पूर्ण संयमी बनता है, साधु-जीवन अंगीकार करता है, अध्यात्म-साधना के लिए सर्वात्मना समर्पित हो जाता है।

अबोहर

८ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२ : दीक्षा : सुख और शांति की दिशा में प्रयाण*

साधु-संत द्विज होते हैं

आज का कार्यक्रम एक सांस्कृतिक कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम को देखने की लोगों के मनों में उत्सुकता है, कुतूहल का भाव है; और यह अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आज एक बहिन का दुबारा जन्म हो रहा है। ब्राह्मण द्विज कहलाता है। उसका एक जन्म माता की कुक्षि से होता है और दूसरा जन्म उपनयन-संस्कार से। **द्वाभ्यां जन्म उपनयन-संस्काराभ्यां जायते इति द्विजः।** पक्षी भी द्विज कहलाता है। एक बार वह अंडे के रूप में पैदा होता है और दूसरी बार पक्षी के रूप में। इसी लिए कहा गया है–**द्वाभ्यां जन्म-अण्डाभ्यां जायते इति द्विजः।** साधु-संत भी द्विज हैं। उनका एक जन्म तो सामान्य रूप से होता ही है, पर दूसरा जन्म दीक्षा स्वीकार करने के समय फिर होता है। दीक्षा स्वीकार करने का अर्थ है–सांसारिक जीवन की मृत्यु और साधना के जीवन के शुरुआत। दूसरे शब्दों में असंयममय जीवन की मृत्यु और संयममय जीवन का शुभारंभ। आज एक बहिन आपके समक्ष उपस्थित है। यह भी अपना असंयममय सांसारिक जीवन छोड़कर संयममय जीवन जीने के लिए तैयार हुई है, साधना के पथ पर बढ़ने के लिए कटिबद्ध हुई है। इसलिए दीक्षा-संस्कार की संपन्नता के साथ ही यह द्विज बन जाएगी।

धर्म अजन्मा तत्त्व है

लोग कहते हैं कि आज विज्ञान का युग है। धर्म के प्रति लोगों का आकर्षण घट रहा है। संसार अध्यात्मशून्य हो रहा है।.....मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि ऐसी स्थिति में अध्यात्म का यह कार्यक्रम देखने के लिए इतनी उत्सुकता क्यों; इतना कुतूहल क्यों; यह उलटी गंगा क्यों बह रही है। समाधान मैं ही दे देता हूं। वह बहुत स्पष्ट है। धर्म का तत्त्व कभी

*दीक्षा-समारोह में प्रदत्त प्रवचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिटनेवाला नहीं है। इसके मिटने की बात करना ही बेमानी है, एक तरह की अपनी ही नासमझी का प्रकटीकरण है। धर्म तो अजन्मा तत्त्व है, शाश्वत तत्त्व है। आत्मा के साथ इसका तादात्मय है। जब आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है, तब धर्म का त्रैकालिक अस्तित्व स्वयंसिद्ध है; और जिस तत्त्व का त्रैकालिक अस्तित्व है, उसका महत्त्व इस विज्ञान के युग में क्या, किसी भी युग में कम नहीं हो सकता। यह धरती कभी धर्म से शून्य नहीं हो सकती।

धर्म की परिभाषा

कोई पूछ सकता है कि धर्म क्या है। यों तो धर्म की बहुत लंबी-चौड़ी परिभाषा दी जा सकती है, पर मैं उसमें आपको उलझाना नहीं चाहता। बहुत सीधी-सी और बहुत छोटी-सी परिभाषा बताना चाहता हूं। धर्म है—स्वभाव में रमण करना। इस परिभाषा के आधार पर आप अपनी धार्मिकता का हिसाब लगा सकते हैं। जिस सीमा तक आप स्वभाव में रमण करते हैं, उस सीमा तक धार्मिक हैं और जितना-जितना विभाव है, उतनी-उतनी धार्मिकता आनी अभी अवशिष्ट है।

.....वह अधर्म है

यदि गहराई से देखा जाए तो धर्म जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उससे वह पृथक हो नहीं सकता। जो धर्म जीवन से पृथक होता है, वह वस्तुतः धर्म है ही नहीं। धर्म के नाम पर वह कोई अन्य ही तत्त्व है। आज बहुत-से लोग धर्म से नफरत करने की बात करते हैं। मैं मानता हूं, वास्तविक धर्म से कोई कभी नफरत कर नहीं सकता। नफरत होती है, धर्म के नाम पर चलनेवाले गलत तत्त्व से। मैं बहुत स्पष्ट कहना चाहता हूं कि आडंबर से धर्म का कोई संबंध नहीं है। शोषण और अन्याय से धर्म का कोई वास्ता नहीं है। जहां धर्म के नाम पर ये तत्त्व चलते हैं, वहां लोगों की धर्म पर आस्था कैसे हो सकती है? वहां तो घृणा होना बहुत स्वभाविक है। ऐसे धर्म को तो मैं भी धर्म के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूं। सीधी भाषा में कहूं तो वह अधर्म है।

जाग्रत धर्म की पहचान

मैं देखता हूं, आज धर्म रूढ़ियों से जकड़ा हुआ पड़ा है, अंध परंपराओं पर चल रहा है। ऐसे धर्म का भविष्य अंधकारमय है। बेशक आज के वैज्ञानिक युग में लोग उसे नकार देंगे। आज तो वही धर्म जन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन का आकर्षण-केंद्र बन सकता है, जो जाग्रत है। आप पूछेंगे कि जाग्रत धर्म की पहचान क्या है। जाग्रत धर्म की पहचान बहुत सीधी-सी है। जो धर्म वर्तमान क्षण में व्यक्ति को सुख और शांति की अनुभूति करा सके, वह जाग्रत धर्म है।

पुण्य-पाप : अमीरी-गरीबी

बहुत-से लोगों ने अपने मन में इस प्रकार की धारणा पाल रखी है कि धर्म से व्यक्ति को धन आदि भौतिक सुख के साधन प्राप्त होते हैं। अमीरी पुण्य का फल है और गरीबी पाप का। लेकिन आज का जनमानस यह बात स्वीकार नहीं कर सकता, बल्कि बर्दास्त भी नहीं कर सकता। इसलिए स्थान-स्थान पर कानून के द्वारा इस पुण्य-पापजन्य अमीरी-गरीबी को खत्म करने का प्रयास हो रहा हैं। अनेक देशों में रक्त-क्रांतियां हुई हैं। सैनिक क्रांतियां भी हो रही हैं। साम्यवादी शासनप्रणाली लागू करके पुण्य-पाप की जड़ें उखाड़ने का प्रयत्न हो रहा है। इस संदर्भ में मेरा अभिमत बहुत स्पष्ट है। पुण्य और पाप दोनों अमीरी और गरीबी के निमित्त कारण तो हो सकते हैं, पर ये मूल कारण नहीं हैं। यदि पुण्योदय ही अमीरी का कारण हो और पापोदय ही गरीबी का कारण हो तो क्या अमेरिका में सब पुण्यात्मा ही हैं? क्या भारतवर्ष में पैदा होनेवाले सब पापात्मा ही हैं? जहां साम्यवाद आ गया है, क्या वहां पाप की प्रकृति समाप्त हो गई है? नहीं, ऐसा कभी संभव नहीं है।

वस्तुतः अमीरी में सबसे बड़ा हाथ है—पुरुषार्थ का। पुरुषार्थी व्यक्ति अपने भाग्य को जगा लेता है और अकर्मण्य व्यक्ति जागे भाग्य को भी गहरी नींद में सुला देता है। आप यह बात गंभीरता से समझने का प्रयत्न करें कि अमीर बनना पुण्योदय नहीं है और निर्धन होना पापोदय नहीं है। यदि गरीब होना पाप का उदय है तो क्या सबसे अधिक पापोदय साधु-संतों के नहीं होगा? हमारे पास धन के नाम पर अकिंचनता के सिवा और कुछ भी नहीं है। चार अंगुल जमीन और दो पैसे की पूंजी भी नहीं है।

इसी प्रकार अमीरी को यदि पुण्योदय माना जाए तो क्या दुष्प्रवृत्तियों में आकंठ डूबे रहनेवाले चोर, लुटेरे, वेश्याएं आदि व्यक्ति बहुत बड़े पुण्यात्मा नहीं कहलाएंगे? उनके पास विपुल धनराशि होती है। इससे भी आगे, रक्त-क्रांति के द्वारा सत्ता हथियानेवालों को भी पुण्यात्मा क्यों नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना जाए? इस माध्यम से वे भी अपनी गरीबी मिटा लेते हैं। लेकिन कोई समझदार व्यक्ति ऐसा नहीं मान सकता। इसलिए मैंने कहा कि अमीरी-गरीबी में मुख्य हाथ अपनी कर्मण्यता और अकर्मण्यता का है।

अमीरी-गरीबी दोनों अभिशाप हैं

अधिकतर लोग अमीरी को अच्छा समझते हैं और गरीबी को बुरा, पर मेरे चिंतन में ये दोनों ही अभिशाप हैं। धन का अतिभाव प्रायः व्यक्ति को विलास की ओर ढकेल देता है। परिणामतः उसका खान-पान शुद्ध नहीं रहता, रहन-सहन बिगड़ जाता है। अनेक प्रकार के व्यसन उसके जीवन में घर कर जाते हैं। इसी प्रकार धन का अति अभाव व्यक्ति के मन में हीन भावना भर देता है। वह अपने भाग्य को कोसने लगता है। अपनी जिंदगी उसे भारभूत लगने लगती है। इसलिए ये दोनों ही स्थितियां व्यक्ति के लिए सुख और शांति का आधार नहीं बनतीं।

सुख और शांति का आधार

आप पूछेंगे कि फिर सुख और शांति का आधार क्या है। सुख और शांति का आधार है—त्याग। व्यक्ति के जीवन में ज्यों-ज्यों त्याग और संयम के फूल खिलते हैं, त्यों-त्यों उसका जीवन सुख और शांति से महकने लगता है। आज आपके समक्ष यह एक बहिन त्याग और संयम के पथ पर बढ़ने के लिए उपस्थित है। वस्तुतः यह प्रयाण सुख और शांति की दिशा में प्रयाण है, पर बड़ी कठिनाई यह है कि लोग इस सचाई को नहीं देखते। उन्हें तो ऐसा लगता है कि दीक्षा स्वीकार करके यह अपने सिर पर कांटों का ताज पहन रही है। यद्यपि मैं भी मानता हूं कि व्यक्ति को साधु-जीवन में चर्या के कई प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं, तथापि गृहस्थ-जीवन के कष्टों के सामने वे कष्ट नगण्य हैं। पर लोगों का ध्यान साधु-जीवन के कष्टों की ओर जाता है, अपने कष्टों की ओर नहीं। टॉलस्टाय ने कहा—'ईसा की सूली की चर्चा सब करते हैं, पर गृहस्थ-जीवन में हर व्यक्ति हर रोज सूली पर चढ़ता है, फिर उसकी चर्चा क्यों नहीं करते?' इसका कारण बताते हुए उन्होंने आगे कहा—'ईसा सूली पर चढ़े प्रभु के नाम पर और गृहस्थ सूली पर चढ़ता है अपनी वासना के लिए, अपने स्वार्थ के लिए।' मैं मानता हूं, टॉलस्टाय के इस कथन में एक गूढ़ सचाई है। इस बहन ने यह सचाई समझी है। इसलिए यह साधु-जीवन के कष्टों से सुपरिचित होकर भी इसे स्वीकार करने के लिए कृतसंकल्प है। बंधुओ!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप भी इस सचाई को समझने का प्रयास करें। मेरा विश्वास है, यदि आप एक बार इस सचाई का अनुभव कर लेंगे तो आपको दीक्षा स्वीकार करना कांटों का ताज पहनना नहीं लगेगा। हालांकि इस सचाई से परिचित होने के बाद भी आप सब दीक्षा स्वीकार कर लेंगे, ऐसा सोचना अत्याशा करना होगा। मैं ऐसी अत्याशा नहीं करता, पर इतनी प्रेरणा अवश्य देता हूं कि आप एक सीमा तक तो त्याग और संयम का पथ अपनाएं। महाव्रती नहीं बन सकते तो क्या, अणुव्रती तो बन ही सकते हैं। अणुव्रती बनना त्याग और संयम की दिशा में ही प्रयाण है, एक सीमा तक त्याग और संयम की ही साधना है। त्याग, संयम की यह आंशिक साधना भी आपके जीवन के लिए एक वरदान सिद्ध होगी। गृहस्थ की भूमिका में रहते हुए भी आप सुख और शांति का जीवन जी सकेंगे।

अबोहर

१० अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३ : आत्मदर्शन : जीवन का वरदान

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

भारतीय संस्कृति त्याग-प्रधान संस्कृति है, संयम-प्रधान संस्कृति है, अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। हालांकि भोग को भी इसने अस्वीकार नहीं किया है, तथापि इतना बहुत स्पष्ट है कि इसे जीवन के सर्वोच्च मूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित नहीं किया है। सर्वोच्च मूल्य के रूप में यहां त्याग ही प्रतिष्ठित रहा है, संयम ही प्रतिष्ठापित रहा है। यही कारण है कि भौतिकता के इतने प्रचार-प्रसार के बावजूद यहां के जन-मानस में त्याग और संयम के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना है। बड़े-बड़े धनकुबेरों और सम्राटों के समक्ष जो मस्तक नहीं झुकते, वे अकिंचन संतों के चरणों में प्रणत होते हैं, क्योंकि संत-जन त्याग और संयम के मूर्त रूप होते हैं, अध्यात्म के जीवंत प्रतीक होते हैं।

धर्म की शाश्वत सत्ता

त्याग, संयम और अध्यात्म की इस संस्कृति का बीजारोपण ऋषि-महर्षियों द्वारा हुआ है। सिद्धांततः वे इसके एकमात्र अधिकारी हैं। जो स्वयं त्याग-संयम को नहीं जीता, अध्यात्म की साधना के प्रति समर्पित नहीं होता, वह इसका बीजारोपण कर भी कैसे सकता है? संतजन आज भी इस गौरवमयी संस्कृति को पल्लवित-पुष्पित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। धर्म त्याग, संयम और अध्यात्म को जीने की शैली का ही नाम है। हालांकि धर्म की सत्ता समाप्त करने का बार-बार प्रयत्न हुआ है, हो रहा है, पर वह अपना अस्तित्व ज्यों-का-त्यों बनाए हुए है। भविष्य में भी उसके अस्तित्व को कोई खत्म कर सके, यह संभव नहीं है। इसका कारण है—उसकी शाश्वत चेतनशीलता। जो पदार्थ अपनी चेतनशीलता बनाए रखता है, वह किसी के हजार चाहे भी खत्म नहीं होता।

धर्म व्यक्ति-व्यक्ति को आत्मदर्शी बनने की प्रेरणा देता है। आत्मदर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शांति से जीने का दर्शन है। आज मनुष्य अशांत है, इसका बहुत बड़ा कारण यही तो है कि वह आत्मदर्शन की बात को भूलता जा रहा है। उसके स्थान पर वह परदर्शन में रस ले रहा है। स्वयं के हजार दोष भी वह नजरअंदाज करता है और परदोषदर्शन के लिए सहस्राक्ष बन जाता है। घर में क्या हो रहा है, इसकी उसे खबर नहीं पड़ती, पर पड़ोसी के घर में क्या हो रहा है, इस पर उसकी खूब नजर रहती है। मैं मानता हूं, जब तक इस वृत्ति में परिवर्तन नहीं आता, तब तक व्यक्ति सुख-सुविधाओं के हजार साधन जुटाकर भी शांति से नहीं जी सकता। इसलिए अपेक्षा है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बने। वह परदर्शन छोड़कर आत्म-दर्शन पर अपना ध्यान केंद्रित करे।

सम्यक दृष्टिकोण का मूल्य

आप यह बात समझने का प्रयास करें कि दृष्टिकोण सही होना कितना आवश्यक है, मिथ्या दृष्टिकोण छूटना कितना जरूरी है। जब तक व्यक्ति के सोचने-समझने का ढंग सही नहीं होता, गलत दृष्टिकोण के लंगर से जीवन-नौका नहीं खोली जाती, तब तक तपस्या-साधना के रूप में कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाए, उसकी नौका भव-सागर के पार नहीं पहुंच सकती। मिथ्या दृष्टिकोण के लंगर से जीवन-नौका खोलने के बाद ही उसका प्रयत्न उसे भवसिंधु के पार ले जा सकता है। जो लोग तपस्या-साधना तो करते हैं, पर इस दृष्टि से ध्यान नहीं देते, उनका पुरुषार्थ एक अपेक्षा से सार्थक नहीं होता, निरर्थक ही चला जाता है।

संध्या का समय था। चार-पांच नाविक अपने गांव के नदी-तट से उस पार के गांव के लिए रवाना हुए। पूरी रात उन्होंने बारी-बारी से नौका खेई। प्रातः पौ फटते-फटते वे किनारे पहुंचकर नौका से उतरे। वहां उनमें से एक नाविक ने देखा कि मेरी पत्नी नदी से पानी भर रही है। देखते ही वह गुस्से से लाल हो गया। अपनी पत्नी को दुर्लक्षणा मानकर अंट-संट बोलने लगा।

नाविक-पत्नी ने शांति से समझाया—'यह तो अपना ही गांव है। यहां तो मैं रोज ही जल भरने के लिए आती हूं।' नाविक बोला— 'अपना गांव तो हमने कल शाम को ही छोड़ दिया था। रात-भर हम नौका खेते रहे, चलते रहे। फिर यह अपना गांव कैसे हो सकता है?' पत्नी बोली—'आपने शायद सपना देखा होगा। सपने में ही आपने नौका खेई होगी, अन्यथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गांव तो यह अपना ही है। वह देखें, सामने गांव का चौपाल है। इधर वह स्कूल है, जहां अपना बच्चा पढ़ता है।'.....'

नाविक ने गौर से देखा तो उसे पत्नी की बात यथार्थ नजर आई। इसके साथ ही उसका गुस्सा विस्मय और उलझन में ढल गया—यह कैसे हुआ! हमने नींद में नहीं, जाग्रत अवस्था में नौका खेई थी, पूरी रात खेई थी। इसके बावजूद हम गांव के नदी-तट पर ही खड़े हैं!.....

तभी उसके एक साथी की नजर लंगर पर पड़ी और वह बोल पड़ा—'पूरी रात नौका खेई तो क्या हुआ, नौका तो लंगर के बंधी पड़ी है। तब हम आगे कैसे बढ़ते? कल हमने शराब कुछ ज्यादा ही पी ली थी। उसके नशे में हमें लंगर से नौका खोलने की बात याद ही नहीं आई। बिना लंगर खोले पूरी रात नौका खेकर भी हम वहीं-के-वहीं खड़े हैं। हमारा सारा श्रम व्यर्थ चला गया।'

बंधुओ! अब आप समझ ही गए होंगे कि गलत दृष्टिकोण के लंगर से जीवन-नौका खोलना कितना आवश्यक है। जहां गलत दृष्टिकोण जीवन का अभिशाप है, वहीं सम्यक दृष्टिकोण जीवन का वरदान है। एक अपेक्षा से ये दोनों बातें एक ही हैं, दो हैं ही नहीं। सम्यक दृष्टिकोण की अप्राप्ति का नाम ही मिथ्या दृष्टिकोण है तथा मिथ्या दृष्टिकोण से मुक्त होने का नाम ही सम्यक दृष्टिकोण है।

शांतिमय जीवन का सूत्र

आत्मदर्शी बनने की बात मैंने प्रारंभ में कही। सम्यग्दृष्टि की यह बहुत बड़ी पहचान है। शांति से जीने का यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र है। वैसे आत्म-निरीक्षण का यह सूत्र प्रकारांतर से *गीता, बाइबिल, गुरुग्रंथ-साहिब* आदि विभिन्न धर्म-ग्रंथों में प्राप्त होता हैं। पर प्रश्न प्राप्त होने या न होने का नहीं है। प्रश्न यह है कि वह आत्मसात होता है या नहीं। यदि आत्मसात नहीं होता है तो उससे व्यक्ति को अभीप्सित प्राप्त नहीं हो सकता, शांति का अनुभव नहीं हो सकता।

जैसाकि मैंने प्रारंभ में कहा, धर्म व्यक्ति को आत्म-दर्शन की अभिप्रेरणा देता है। इस एक बात से ही आप धर्म का मूल्य समझ सकते हैं। अहिंसा और सत्य उसके ही दो रूप हैं। धर्म को जीवन में अपनाने का अर्थ है—सत्य और अहिंसा को स्वीकार करना। मेरी दृष्टि में ये दोनों इतने व्यापक तत्त्व हैं कि धर्म के छोटे-बड़े समग्र सिद्धांत इनमें समाविष्ट हो जाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इसलिए जहां ये दोनों तत्त्व जीवन में साकार रूप ग्रहण करते हैं, जीवनगत बनते हैं, वहां शांति की बात स्वयं समाहित हो जाती है। मैंने एक स्थान पर लिखा है–

बिन सत्य-अहिंसा शांति नहीं, चाहे हो कितनी क्रांति नई।
है सत्य-अहिंसा कामदुहा,'तुलसी' यदि दोहन कर पाओ॥
ऐ दुनियावालो! सुनो जरा दिल की दुविधा को दफनाओ।
जीवन में सत्य-अहिंसा को अनिवार्य रूप से अपनाओ॥

अस्तु, इस सत्य-अहिंसामय धर्म का तत्त्व आप आत्मसात करें। निश्चय ही आपके जीवन में सुख और शांति की धार बह जाएगी। अणुव्रत इसी धर्म को आत्मगत, जीवनगत और व्यवहारगत बनाने का सीधा-सा प्रयोग है। इसके छोटे-छोटे संकल्पों में व्यक्ति का जीवन रूपांतरित करने की अद्भुत शक्ति है। हजारों-हजारों लोगों ने इसके माध्यम से अपना-अपना जीवन संवारा है, उसे अभिशाप से वरदान बनाया है। कल तक जो बुरे आदमी के रूप में जाने-पहचाने जाते थे, वे ही आज सन्नागरिक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आप भी अणुव्रती बनकर यह गौरव प्राप्त करें। निस्संदेह, आप अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव कर सकेंगे।

श्रीकर्णपुर
२० अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४ : जाग्रत जीवन

साधक और सजगता

भगवान महावीर ने कहा—**समयं गोयम! मा पमायए**—गौतम! तू क्षण-भर भी प्रमाद मत कर। यों तो जागरूकता की यह बात गणधर गौतम को संबोधित करके कही गई है, पर समझने की बात यह है कि महावीर का यह सजगता-संदेश आत्म-साधना के पथ पर बढ़नेवाले हर पथिक के लिए है। वस्तुतः साधना सजगता का ही दूसरा नाम है। साधक स्वयं सजगता का जीवन जीता है और जन-जन को सजगता का संदेश सुनाता है। इस अपेक्षा से यह कहा जा सकता है कि जो साधक जितना अधिक जागरूक होता है, वह उतना ही अधिक दूसरों को जागरूकता की प्रेरणा दे पाता है। साधक की जागरूकता की कमी उसकी अभिप्रेरणा को भी कमजोर बना देती है।

उभयानुकंपी होते हैं साधु-संत

कुछ लोगों का ऐसा चिंतन है कि साधु-संतों को तो मात्र अपनी साधना करनी चाहिए; आत्मकल्याण करना चाहिए, दूसरों के बारे में सोचने से उन्हें क्या मतलब, पर मैं इस चिंतन से सहमत नहीं हूं। मेरा चिंतन यह है कि साधु-संतों को स्वयं की साधना तो करनी ही चाहिए, साथ-ही-साथ जनता को भी सत्पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देनी चाहिए। यदि साधु-संत ही जन-जन को सत्पथ पर बढ़ने की प्रेरणा नहीं देंगे तो देगा ही कौन? वस्तुतः वे ही इसके एकमात्र अधिकारी हैं। जो स्वयं ही उत्पथ में हैं, वे दूसरों को सही पथ पर कैसे लाएंगे? जो स्वयं ही अंधकार में हैं, वे दूसरों को प्रकाश कैसे बांटेंगे? साधु-संत चूंकि स्वयं सत्पथ के राही होते हैं, प्रकाश के पुंज होते हैं, इसलिए वे दूसरों को भी सत्पथ दिखा सकते हैं, प्रकाश बांट सकते हैं। इसी अपेक्षा से कहा गया है—**साध्नोति स्वपरकार्याणीति साधवः।** अर्थात जो स्व और पर दोनों का कार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध करता है, वह साधु है। मैं मानता हूं, यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। साधु-संत उभयानुकंपी होते हैं। वे अपना हित तो साधते-ही-साधते हैं, संसार का हित भी साधते हैं। उनकी इसी विशेषता के कारण ही लोग उनका सान्निध्य साधते हैं, उनके चरणों में पहुंचकर धन्यता की अनुभूति करते हैं, जीवन-क्षणों की सार्थकता मानते हैं।

अणुव्रत : स्वस्थ समाज बनाने का कार्यक्रम

श्रीकर्णपुर में मैं जब से आया हूं, तब से लोगों के दिल में संतों का सान्निध्य साधने का उत्साह देख रहा हूं। प्रवचन में तो हजारों की संख्या में लोग उपस्थित हो ही रहे हैं, व्यक्तिशः संपर्क के लिए भी काफी लोग पहुंच रहे हैं। व्यक्तिगत संपर्क और सान्निध्य भी बहुत उपयोगी तत्त्व है। उससे अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। मैं अपने संपर्क में आनेवाले लोगों के समक्ष अणुव्रत की चर्चा करता हूं। अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प सभी वर्गों से संबद्ध हैं। वे व्याप्त बुराइयों पर तीव्र प्रहार करते हैं। इस प्रहार के द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन बुराइयों से मुक्त बनता है। इस कार्य को मैं बहुत मूल्य देता हूं। समाज को स्वस्थ बनाने का यह कार्यक्रम जितनी तीव्र गति से आगे बढ़ता है, उतना ही सबका हित है।

विकास या ह्रास

आज मेरे सामने किसान और सरपंच—दो वर्गों के लोग हैं। कहा जाता है कि पंचों में परमेश्वर रहता है। तब तो शायद सरपंचों में परम परमेश्वर रहता होगा। किसानों के बारे में ऐसा माना जाता है कि वे सरलमना होते हैं, छल-कपट नहीं जानते, किसी को धोखा नहीं देते, पर मुझे लग रहा कि आज इन दोनों ही वर्गों की यह प्रतिष्ठा नहीं रही है। न पंचों में कथित परमेश्वर रहा है और न किसान ही सरलमना रहे हैं। भले लोग आज के युग को विकास का युग कहते हैं, पर मेरी दृष्टि में तो सर्वत्र विकास से ह्रास की ओर गति है, जो कभी काम्य नहीं हो सकती।

पृष्ठभूमि नहीं बनी

भारतवर्ष में पंचायत-व्यवस्था लागू की गई। इसका उद्देश्य रहा था—सत्ता का विकेंद्रीकरण। ग्राम की व्यवस्था/अनुशासन ग्राम के ही किसी योग्य व्यक्ति के माध्यम से हो। इसके पीछे जनतंत्र को व्यापक बनाने का चिंतन था, लेकिन इस कार्य में एक भूल हो गई। व्यवस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लागू करने से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि नहीं बनाई गई। आप जानते ही हैं कि कोई भी निर्माण पृष्ठभूमि पर खड़ा होता है। पृष्ठभूमि के अभाव में टिकता नहीं, गिर जाता है। यह व्यवस्था लागू करने से पूर्व पृष्ठभूमि निर्मित नहीं की गई, इसका परिणाम यह आया कि अधिकारों का दुरुपयोग होने लगा। पृष्ठभूमि से मेरा तात्पर्य आप समझते ही होंगे। अधिकार-प्राप्ति से पूर्व उसका उपयोग कैसे हो, कहां हो, इसका विवेक जागना बहुत आवश्यक है। यह विवेक जागे बिना जनतंत्र की कोई व्यवस्था सफल नहीं हो सकती।

भारतवर्ष आजाद हुआ। देश के नेताओं ने सत्ता अपने हाथों में संभाली। लोगों ने मान लिया कि हमें सब-कुछ प्राप्त हो गया। अब पाने के लिए कुछ भी अवशेष नहीं है। इस चिंतन के कारण लोगों की विवेक-चेतना नहीं जागी। अधिकारों की चर्चा तो सब करने लगे, पर कर्तव्य-पालन की बात विस्मृत-सी कर दी गया। अधिकारों के उपयोग में भी औचित्य की सीमा का ख्याल नहीं रहा। इसके दुष्परिणाम हम अपनी आंखों के सामने प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

कुर्सी की भूख : भस्मक रोग

जनतंत्र में चुनाव एक अनिवार्य प्रक्रिया है। जनता के मतों के आधार पर लोगों का चुनाव होता है, पर उसका जो रूप बना है, वह किसी से छिपा नहीं है। सात्त्विक वृत्तिवाला व्यक्ति सहजतया चुनाव में खड़ा होना तक नहीं चाहता। भ्रष्टाचार के रूप में राक्षसीवृत्ति दिन-पर-दिन प्रभावी होती जा रही है। कुर्सी की भूख उचित-अनुचित की सारी सीमाओं का अतिक्रमण करती चली जा रही है। मुझे तो ऐसा लगता है कि कुर्सी की भूख एक अपेक्षा से भस्मक व्याधि बन गई है। चाहे जितना भी खाओ, सब भस्म। इसके उपरांत भी भूख शांत नहीं होती।

पिछले दिनों जब मैं कुईखेड़ा गया, तब मुझे बताया गया कि यहां आज तक पंचायत का चुनाव नहीं हुआ। मुझे सुनकर प्रसन्नता हुई। मन में आया, जनतंत्र में सर्वत्र इस प्रकार का वातावरण बन जाए तो उसका रंग कुछ अलग ही हो। इससे चुनाव के इर्द-गिर्द पनपनेवाली बहुत-सी बुराइयों से सहज रूप से छुटकारा मिल सकता है।

स्वप्रशंसा : परनिंदा

चुनाव के समय एक बुराई व्यापक रूप में पनपती है—स्वप्रशंसा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परनिंदा। एक पार्टी का उम्मीदवार कहता है–'आप जानते ही हैं कि मुझे कुर्सी की जरा भी भूख नहीं है। मैं तो एकमात्र सेवा की भावना से इस चुनाव में आया हूं। इसके माध्यम से मैं मात्र समाज और राष्ट्र के प्रति अपना कर्तव्य अदा करना चाहता हूं। आप लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ तो मैं जनसेवा, राष्ट्रसेवा की अपनी भावना पूरी कर सकूंगा।.....'

प्रतिपक्षी उम्मीदवार कहता है–'मैं आपका हितैषी हूं, इसलिए एक गुप्त रहस्य की बात बताना अपना कर्तव्य समझता हूं। अमुक व्यक्ति चुनाव में उम्मीदवार के रूप में खड़ा है। उसका चरित्र एकदम गिरा हुआ है। वह जुल्मी है, शराबी है, बदमाश है..... वह एकमात्र कुर्सी प्राप्त करने की भावना से चुनाव लड़ रहा है। राष्ट्रसेवा या जनसेवा से उसका कोई सरोकार नहीं है। आप अपना बहुमूल्य वोट भले मुझे दें या न दें, पर उसे देकर जहरीले सांप को तो न पालें।.....'

इस प्रकार प्रारंभ में स्वप्रशंसा और परनिंदा के माध्यम से कुर्सी हथिया ली जाती है। कुर्सी मिल जाने के बाद एकदम तैवर बदल जाते हैं। राष्ट्र-सेवा और जन-सेवा की बात शायद याद ही नहीं आती। पिछले दिनों हम श्रीगंगानगर में थे। श्रीगंगानगर एक बड़ा शहर है। वहां म्युनिसिपल बोर्ड है। बोर्ड के चैयरमेन मेरे पास आए थे। उन्होंने बताया कि बोर्ड की आय अच्छी है, पर व्यवस्था अच्छी नहीं है। इसका कारण भी अस्पष्ट नहीं है। एक व्यक्ति अधिकार पर आता है। वह पूरा जमता नहीं कि उससे पहले दूसरे-दूसरे लोग उसे हटाकर स्वयं आने की चेष्टा करने लगते हैं। उधर अधिकारप्राप्त व्यक्ति अपनी कुर्सी की सुरक्षा का उपाय करता है। इस प्रयत्न में अत्यंत हलके तरीके काम में लिए जाते हैं। उनके कारनामे जब सामने आते हैं, तब जनता का उन पर से विश्वास उठ जाता है। इस स्थिति में उसका सहयोग प्राप्त नहीं होता; और जनता के सहयोग के अभाव में कोई अधिकारी व्यवस्थित रूप में काम नहीं कर पाता। यह श्रीगंगानगर का एक उदाहरण मैंने दिया है। पर कुछ कमोबेश यह स्थिति लगभग सभी स्थानों की है। यह स्थिति नहीं सुधारी गई तो विकेंद्रित व्यवस्था का पूरा-पूरा लाभ जनता को नहीं मिल सकेगा।

अच्छाई को प्रतिष्ठा मिले

मैं मानता हूं, किसी ग्राम या शहर के सभी लोग अच्छे नहीं होते। बावजूद इसके, इतना सुनिश्चत है कि जो अच्छे व्यक्ति होते हैं, वे हर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थिति में अपनी अच्छाई की टेक निभाते हैं। उसे छोड़ते नहीं। सचमुच विषम परिस्थितियों में भी अपना उच्च आदर्श निभाना बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। कज्जल की कोठरी में रहकर भी काला दाग न लगाने-जैसी बात है। हालांकि अच्छे और बुरे की मूल कसौटी तो व्यक्ति का स्वयं का मन ही होता है, तथापि व्यवहार की कसौटी जनता है। जनता का काम है कि वह अच्छे और बुरे की सही-सही कसौटी करे और जो लोग कसौटी पर खरे उतरें, उन्हें अपना नैतिक समर्थन दे। अच्छे व्यक्तियों को समर्थन देने का अर्थ है अच्छाइयों को समर्थन देना। इससे अच्छाइयों को पनपने और प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलता है। यह बहुत साफ-साफ बात है कि जहां अच्छे व्यक्ति आगे आएंगे, अच्छाइयां प्रतिष्ठित होंगी, वहां समाज और राष्ट्र का वातावरण भी स्वस्थ बनेगा।

उत्तरदायी कौन

कुछ लोग अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण बुराई करते हैं, पर उसकी जिम्मेदारी लेना नहीं चाहते। उसे दूसरों पर डाल देते हैं। इस क्रम में वे ईश्वर को भी नहीं बख्शते। वे कहते हैं कि हम कुछ भी करनेवाले कौन होते हैं। सब प्रभु की कृपा और इच्छा से होता है। उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता । प्रभु ने जैसा चाहा, वैसा हमारे द्वारा हो गया।.....पर जैन-दर्शन इस बात में विश्वास नहीं करता। यद्यपि वह ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार नहीं करता, तथापि किसी की अच्छी-बुरी प्रवृत्ति की जिम्मेदारी वह उस पर नहीं डालता। व्यक्ति के अच्छे-बुरे बनने के लिए वह स्वयं व्यक्ति को ही जिम्मेदार मानता है। व्यक्ति गलत पुरुषार्थ करता है तो वह बुरा हो जाता है और अच्छा पुरुषार्थ करता है तो अच्छा बन जाता है। यानी व्यक्ति स्वयं जैसा बनना चाहता है, वैसा बन सकता है। ईश्वर का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता। एक व्यक्ति ने जहर खाया। परिणाम यह आया कि वह मर गया। मैं पूछना चाहता हूं कि उसके मरने के लिए जिम्मेदार कौन है; क्या ईश्वर ने उसे मारा। नहीं, ईश्वर ने उसे बिलकुल नहीं मारा। उसे मारा उसके स्वयं के गलत पुरुषार्थ ने, उसकी स्वयं की गलत प्रवृत्ति ने। यदि वह आवेश में आकर जहर नहीं खाता तो क्यों मरता? इसलिए आप यह तत्त्व गहराई से समझें कि अच्छा और बुरा बनना व्यक्ति के स्वयं के हाथ का खेल है। वह अच्छा बनना चाहे तो अच्छा बन सकता है और बुरा बनना चाहे तो बुरा भी बन सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेक-चेतना जाग्रत हो

मूलभूत बात है विवेक की। जब तक व्यक्ति का विवेक जाग्रत नहीं होता, तब तक बुराइयां उसके जीवन में घर करती रहती हैं, उसे घेरे रहती हैं। जिस दिन विवेक जाग्रत हो जाता है, उस दिन उन्हें टिकने के लिए फिर कोई अवकाश नहीं रहता। साधु-संतों का सबसे बड़ा उपकार यही तो होता है कि वे अपने संपर्क में आनेवाले व्यक्ति-व्यक्ति की विवेक-चेतना झंकृत करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में जिसकी यह चेतना झंकृत हो जाती है, उसका जीवन स्वस्थ बन जाता है। उसके जीवन में व्याप्त सारी बुराइयां स्वतः किनारा ले लेती हैं।

संन्यासी के पास एक युवक आया और नमस्कार करके बोला—'महात्माजी! मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूं। क्या आप मुझे स्वीकार करेंगे?' संन्यासी ने कहा—'तुम्हारी यदि भावना है तो स्वीकार क्यों नहीं करूंगा? अवश्य करूंगा।' युवक बोला—'पर.....' संन्यासी ने पूछा—'पर क्या?' युवक बोला—'महात्माजी! मुझमें एक बुरी लत है कि मैं शराब पीता हूं।' संन्यासी ने कहा—'यह कोई चिंता का कारण नहीं है। सब ठीक हो जाएगा।' युवक बोला—'कभी-कभी जुआ भी खेलता हूं।' संन्यासी ने कहा—'कोई बात नहीं, सब ठीक हो जाएगा।' तीसरी बार युवक बोला—'मैं व्यभिचारी भी हूं।' संन्यासी ने फिर भी उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जताई। इस क्रम में उस युवक ने एक-एक करके अपनी लगभग सभी बुराइयों का जिक्र संन्यासी के समक्ष कर दिया। साथ-ही-साथ उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मैं इन्हें छोड़ने की स्थिति में नहीं हूं, पर संन्यासी के मन पर कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसने हर स्थिति में उसे अपना शिष्यत्व प्रदान करने की तैयारी दिखाई। युवक के लिए यह एक अजूबा था। उसने संन्यासी से कहा—'महात्माजी! मैंने अपनी सारी स्थिति इसलिए निवेदित की है, ताकि आपको किसी प्रकार का धोखा न हो।' संन्यासी ने कहा—'धोखे की कोई बात नहीं है। मैं सारी बात अच्छी तरह से समझता हूं। मुझे हर स्थिति में तुम स्वीकार हो, पर क्या मेरी एक बात तुम भी स्वीकार करोगे?' युवक बोला—'महात्माजी! जब मेरी इतनी बुराइयों से परिचित होने के बावजूद आपने मुझे शिष्य बनाना मंजूर किया है, तब मैं आपकी बात कैसे नहीं मानूंगा? अवश्य मानूंगा।'

संन्यासी ने युवक को अपना शिष्य बना लिया और प्रथम निर्देश देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए कहा–'देखो, जब तुम ये सब बुराइयां छोड़ने की स्थिति में नहीं हो, तब मैं तुम्हें छोड़ने के लिए नहीं कहता, पर जब तुमने मुझे गुरु रूप में स्वीकार कर लिया है, तब कम-से-कम मेरे सामने ये बुराइयां मत करना।' युवक शिष्य ने गुरु का यह निर्देश सहर्ष स्वीकार कर लिया।

दिन का समय बिना किसी खास कठिनाई के निकल गया, पर ज्यों ही सांझ ढली और युवा संन्यासी के शराब पीने का समय हुआ, वह बेचैन हो उठा। तत्काल शराब की बोतल उसने हाथ में उठाई, पर ज्योंही वह शराब पीने के लिए उद्यत हुआ कि गुरु की तस्वीर उसकी आंखों के सामने उतर आई। परिणामतः अपने संकल्प में दृढ़ वह युवा संन्यासी शराब नहीं पी सका। उसने बोतल वापस रख दी। इसी प्रकार जुआ खेलना, वेश्या के पास जाना आदि बुराइयों के लिए उसके मन में ज्वार उठा और वह उनमें प्रवृत्त के लिए उद्यत हो गया, पर हर बार गुरु की मोहिनी मूरत उसके सामने आ गई और वह वहीं-का-वहीं रह गया। आगे नहीं बढ़ सका। परिणाम यह आया कि पांच-दस दिनों में ही उसकी सारी बुराइयां स्वतः समाप्त हो गईं।

एक दिन संन्यासी ने अवसर देखकर शिष्य से पूछा–'क्यों बुराइयों का क्या हाल है?' छूटते ही युवा संन्यासी बोला–'कैसी बुराइयां! अब मुझे उनकी याद ही नहीं आती। गुरुदेव! सचमुच आप बहुत महान हैं! आपके एक छोटे-से मंत्र ने मुझे उबार लिया। यदि आपका सुयोग नहीं मिलता और आपकी मुझ पर कृपा नहीं होती तो बुराइयों से पिंड छूटना कभी संभव नहीं था। मैं जन्म-जन्मांतर तक भी आपके उपकार से उऋण नहीं हो सकता।' यों भावविभोर होता हुआ वह गुरु के चरणों में प्रणत हो गया।

संकल्प और गुरुसाक्षी

बंधुओ! जैसाकि मैंने कहा, साधु-संत जन-जन की विवेक-चेतना जगाने का प्रयत्न करते हैं। संकल्प विवेक-चेतना झंकृत करने की प्रक्रिया है। इसे झंकृत करके व्यक्ति अपना जीवन स्वस्थ बना सकता है। इस संदर्भ में एक बात और कह देना चाहता हूं। यों तो व्यक्ति संकल्प स्वयं भी कर सकता है, पर साधु-संतों के समक्ष संकल्प स्वीकार करने का अपना एक विशेष मूल्य है। संतों की साक्षी संकल्प को मजबूती से निभाने में बहुत योगभूत बनती है। जहां-कहीं मन में थोड़ी-बहुत दुर्बलता आती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संत स्मृतिपटल पर उतर आते हैं, आंखों में उनकी मूरत तैरने लगती है। ऐसी स्थिति में दुर्बल मन पुनः दृढ़ हो जाता है।

शराब और तंबाकू के घातक परिणाम

अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्पों की संक्षिप्त चर्चा मैंने प्रारंभ में की। ये संकल्प स्वीकार करके आप अपना जीवन बुराइयों से मुक्त बना सकते हैं। यों तो बहुत-सी बुराइयां समाज में फैली हुई हैं, पर आज मैं अधिक व्यापक दो बुराइयां छोड़ने का आह्वान कर रहा हूं। ये दो बुराइयां हैं—मद्यपान और धूम्रपान। दिखने में ये दोनों बुराइयां किसी को छोटी-छोटी लग सकती हैं, पर इनका असर बहुत ही घातक है। मद्यपान की बुराई तो अपने-आपमें बहुत-सी अन्य बुराइयों की संरक्षिका है। इस एक बुराई के कारण न जाने दूसरी-दूसरी कितनी बुराइयां अपने-आप चली आती हैं। एक अपेक्षा से इसे मानवता की नाशक कहा जा सकता है। तंबाकू भी बहुत नुकसान की चीज है। अभी *अणुव्रत* पत्र में एक शोध- निबंध प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है—'तंबाकू का नशा शराब, भांग, गांजा, अफीम, चरस तथा धतूरे के बीजों के नशे से भी अधिक घातक होता है। तंबाकू का विष शरीर में पहुंचकर धीमे-धीमे काम करता है। एक सेर तंबाकू का विष आठ सौ चूहों, एक सौ बीस खरगोशों तथा तीस मनुष्यों के प्राण ले सकता है।'

तंबाकू में *निकोटिन* नामक घातक जहर होता है। गाय, भैंस, बैल, गधा आदि पशु इसे नहीं खाते, क्योंकि उनमें प्रकृति की समझ है। वे अपने न खाने की चीज किसी हालत में नहीं खाते, पर आदमी न जाने कैसा विचित्र प्राणी है कि वह प्रकृति और अप्रकृति कुछ नहीं समझता! खाद्य-अखाद्य का विवेक नहीं करता!! इसी लिए न खाने और न पीने के पदार्थ भी बेझिझक काम में ले रहा है। शायद वह प्रकृति पर विजय पाना चाहता है! लेकिन उसे समझना चाहिए कि प्रकृति के विरुद्ध जाकर कोई प्राणी सुख से नहीं जी सकता।

शिष्टाचार के नाम पर भ्रष्टाचार

इसी संदर्भ में एक बात और—आजकल बहुत-से पढ़े-लिखे लोग शिष्टाचार के नाम पर यह जहर अपने शरीर में पहुंचाते हैं। मैं ऐसे शिष्टाचार को भ्रष्टाचार समझता हूं। पता नहीं कि उनकी बौद्धिकता पर यह दुर्बलता क्यों छा रही है। अनपढ़ लोग अज्ञानवश तंबाकू खाते-पीते हैं, यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कोई अच्छी बात नहीं है, फिर जो लोग इसे जहर के रूप में जानते हैं, इसके घातक परिणामों से सुपरिचित हैं, वे इसका उपयोग करें, इससे बड़ा चिंतन का दारिद्र्य और क्या हो सकता है? मैं चाहता हूं, सभी स्तरों पर यह बुराई मिटनी चाहिए। अणुव्रत शराब और तंबाकू से जन-जीवन को मुक्त करने के लिए व्यापक अभियान चला रहा है। आप लोग भी इस संदर्भ में गंभीरता से सोचें। सोचने का अर्थ है कि आप इनके दुष्परिणामों से परिचित होकर इनके उपयोग न करने के लिए संकल्पबद्ध हों। मैं मानता हूं, मद्यपान और धूम्रपान इन दोनों बुराइयों के छूटने से दूसरी-दूसरी अनेक बुराइयों के छूटने का मार्ग भी प्रशस्त हो जाएगा।

किसानों और सरपंचों को चुंबक रूप में मैंने कुछ बातें कही हैं। उन सबका उपसंहार करता हुआ मैं एक ही बात कहना चाहता हूं कि आप अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक बनें। जैसाकि मैंने अपने प्रवचन के बिल्कुल प्रारंभ में कहा था, साधु-संत जागरूकता का जीवन जीते हैं और जन-जन को जागरूकता का संदेश बांटते हैं। आप यह जागरूकता का सूत्र हृदयंगम करें, जीवनगत करें। निश्चय ही आपके जीवन में सुख की एक नई बहार आएगी।

श्रीकर्णपुर
२१ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५ : आकांक्षाओं का संयम

संयोग-वियोग

संयोग और वियोग दो स्थितियां हैं। जहां संयोग है, वहां वियोग की आशंका रहती है। यह आशंका दुःख का कारण है। जो लोग दुनियावी धंधों में फंसे रहते हैं, उन्हें यह महसूस नहीं हो सकता। दार्शनिकों ने जहां बंधन और मुक्ति का विवेचन किया है, वहां वियोग की आशंका को दुःख का निमित्त बताया है।

मैं जहां तक सोचता हूं, वियोग से अधिक दुःख संयोग में है। संयोग सृष्टि है और वियोग समाप्ति है। सृष्टि से दुःख का प्रारंभ होता है। पूछा जा सकता है कि दुःख से मुक्ति कैसे मिले। जो अपनी आकांक्षा, अभिप्राय या इच्छा का निरोध करता है, वही दुःख से मुक्ति पाता है।

चिंतन की दो धाराएं

सुख के दो प्रकार हैं। एक सुख है आकांक्षा-वृद्धि में। दूसरा सुख है आकांक्षाओं के अल्पीकरण में। पश्चिमी देशों में पहला प्रकार काफी बल पकड़ रहा है। वहां के लोगों की धारणा है कि आकांक्षाएं घटाना संकीर्णता है। इससे विकास नहीं होता। आकांक्षा से आवश्यकता जनमती है। आवश्यकता से आविष्कार होते हैं। आविष्कार से उत्पत्ति, उत्पत्ति से संपत्ति और संपत्ति से सुख मिलता है। वे इस भाषा में सोचते हैं कि जहां खाने को रोटी भी नहीं है, वहां सुख कैसे मिलेगा।

भारतीय चिंतन इससे भिन्न रहा। यहां के चिंतकों ने कहा कि आकांक्षाएं असीम हैं। आकांक्षाओं की वृद्धि दुःख का कारण है, इसलिए इन्हें कम करो। आकांक्षाओं की कमी से आवश्यकताएं भी असीम नहीं बनेंगी। आवश्यकताओं की सीमा होने पर प्रवृत्तियां अधिक बढ़ेंगी नहीं और प्रवृत्तियां सीमित रहेंगी तो झंझट कम होंगे। इस प्रकार सहजतया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख की उपलब्धि हो जाएगी।

आपको कौन-सी धारा इष्ट है, यह आप स्वयं सोचें। हमारा काम रास्ता बताने का है। उस पर चलने का काम आपका है। यदि कोई मुझसे पूछे कि आपकी दृष्टि में कौन-सा मार्ग अच्छा है तो मैं उसी मार्ग का निर्देश करूंगा, जिस पर मैं स्वयं चलता हूं। आपको दूसरा मार्ग बताऊं और मैं स्वयं दूसरे पर चलूं, यह बात ठीक नहीं है। इसलिए आपको वही मार्ग बताऊंगा, जिस पर चलकर मैं स्वयं आनंद का अनुभव कर रहा है।

वह रास्ता बिलकुल सही है, पर इसलिए नहीं कि उस पर मैं चल रहा हूं। वह सही इसलिए है कि उस मार्ग पर चलनेवाला हर व्यक्ति सुख और आनंद की प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुंचता है। इसलिए मैं चल रहा हूं, यह बात गौण है। इस 'मैं' का व्यामोह भी अच्छा नहीं है। इसलिए तटस्थ होकर मैं आपको मार्ग का संकेत दे रहा हूं।

सुख का मार्ग—वृत्तिसंक्षेप

वह मार्ग है—संयम का। वह मार्ग है—वृत्तिसंक्षेप का। वृत्तियां अनेक प्रकार की हैं। उनका विस्तार इतना है कि हम माप नहीं सकते। उन्हें संक्षिप्त करने से सुख मिलता है। संक्षेप कहां तक हो, इस प्रश्न के समाधान में जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं तक पहुंचना होगा। आपको भूख लगी है। ऐसी स्थिति में यदि आप भोजन नहीं करते तो आपको सारे काम बंद हो जाते हैं। इसलिए खाना जरूरी है, पर यह तो आवश्यक नहीं है कि आप दिन-भर खाते ही रहें, खाद्य-पदार्थों का अनावश्यक संग्रह करते रहें। अनावश्यक संग्रह व्यक्ति तभी करता है, जब वह अनावश्यक अपेक्षाएं पालता है। इसलिए अनावश्यक संग्रह का सीधा-सा अर्थ है—अनावश्यक अपेक्षाओं का संग्रह।

संग्रह : दुःख का कारण

मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि आप अनावश्यक अपेक्षाओं का संग्रह क्यों करते हैं; क्या इससे आपको सुख मिलता है। नहीं, इससे सुख नहीं मिल सकता। अमेरिका का उदाहरण आपके समक्ष है। वहां के लोगों के पास धन का विपुल संग्रह है, पर इसके बावजूद वे सुखी नहीं हैं, बल्कि इस संग्रह के कारण अत्यंत दुखी हैं। इतने दुखी कि आपमें से बहुत-से लोग उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। मानसिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विक्षिप्तता, आत्महत्या आदि उसी की परिणतियां हैं। इसलिए आप यह बात समझें कि संग्रह करनेवाला पैसों का नहीं, दुःखों का संग्रह करता है। मैं जिस मकान में रहता हूं, वह रात को खुला रहता है, पर मुझे चोर का भय नहीं है। भय उन्हें होता है, जिनके पास संग्रह होता है। मेरे पास संग्रह नहीं है। मैं तो असंग्रह को जीता हूं, त्याग को जीता हूं; और जब भय नहीं है, तब अशांति नहीं है, दुःख की संवेदना नहीं है। सचमुख असंग्रह या त्याग ऐसा तत्त्व है, जिसे प्राप्त करके एक चोर भी साहूकार बन जाता है।

प्रसंग प्रभव का

प्रभव स्वामी का प्रसंग इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर देता है। जंबू स्वामी भगवान महावीर के दूसरे पट्टधर के रूप में विश्रुत हैं। वे राजगृह के धनाढ्य श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर में पैदा हुए। बड़े लाड़-प्यार से बालक जंबू का लालन-पालन हुआ। अच्छी-से-अच्छी शिक्षा की व्यवस्था हुई। एक बार नगर में आचार्य सुधर्मा का पदार्पण हुआ। हजारों-हजारों लोग उन्हें सुनने के लिए उनकी सन्निधि में पहुंचने लगे। विभिन्न जिज्ञासाओं और कुतूहल से भरा कुमार जंबू भी आचार्य सुधर्मा की प्रवचन-सभा में पहुंचा। प्रवचन सुनकर वह इतना प्रभावित हुआ कि संसार से विरक्त हो गया। उसने तत्काल मानसिक संकल्प कर लिया कि मैं भी त्याग का मार्ग अपनाऊंगा।

घर पहुंचकर जंबू ने माता-पिता के समक्ष संयम ग्रहण करने की भावना व्यक्त की। सुनकर वे सहसा सन्न रह गए। दो-चार क्षण उसी स्थिति में रहने के पश्चात बोले–'पुत्र! तुम्हारे बारे में हमने कितने-कितने सपने संजोए थे। क्या वे सब यों ही समाप्त हो जाएंगे?' जंबू बोला–'सपने तो समाप्त ही होते हैं। उनके बारे में आप न सोचें। आप तो सहर्ष मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान करें। दीक्षा का मार्ग दुःख-मुक्ति का मार्ग है। मुझे दुःख प्रिय नहीं है, इसलिए मैंने यह चिंतन किया है। यदि आपको भी दुःख अप्रिय है और आप भी उससे छूटना चाहते हैं तो आप भी इस पथ पर कदम बढ़ाएं। हम साथ-साथ दीक्षा ग्रहण करेंगे।'

हालांकि जंबू के माता-पिता को पुत्र की बात तथ्यपरक नजर आई, तथापि अपनी मोहाकुलता के कारण वे उसे सहसा दीक्षा की स्वीकृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं दे पाए। उन्होंने कहा–'तुम्हारी दीक्षा ग्रहण करने की तीव्र भावना है तो हम तुम्हारे इस कार्य में बाधक नहीं बनेंगे, पर हमने तुम्हारी शादी की सारी तैयारी कर रखी है, इसलिए एक बात तो तुम्हें हमारी माननी ही होगी। एक बार तुम शादी कर लो, जिससे कि हमारा गृहांगण अनब्याहा न रहे। फिर तुम जब भी चाहो, तब दीक्षा ले लेना। हम तुम्हें नहीं रोकेंगे।'

यद्यपि जंबूकुमार सांसारिक भोगों से बिलकुल विरक्त हो चुका था, शादी के प्रति उसके मन में किंचित भी आकर्षण नहीं था, तथापि माता-पिता का आग्रह नहीं टाल सका। उसने इस शर्त के साथ शादी करना मंजूर कर लिया कि सभी को मेरे साधु बनने के निर्णय की बात पहले ही बतानी होगी, ताकि किसी के साथ धोखा न हो।

माता-पिता ने सोचा, यह तो कहने की बात है। फेरे पड़े कि उस चक्कर में फंस जाएगा और दीक्षा की बात विस्मृत हो जाएगी। उन्होंने पुत्र की शर्त मंजूर कर ली। सभी को जंबू के दीक्षा लेने की बात बता दी गई।

जंबू के माता-पिता की तरह ही अन्य लोगों ने भी यह बात गंभीरता से नहीं ली। यथाशीघ्र आठ कन्याओं के साथ कुमार की शादी कर दी गई। आठ-आठ पुत्रवधुओं की पायलों की झंकार सुन माता-पिता की प्रसन्नता का कोई पार नहीं था। बहुओं को समझाते हुए सास ने कहा–'देखो, तुम आठों के कौशल की कसौटी है। जंबू दीक्षा की बात कर रहा है। उसका यह विचार तुम सब परिवर्तित कर सकीं, तभी तुम्हारी सफलता है। मुझे विश्वास है, तुम अपने पुरुषार्थ में सफल होओगी। वैसे भी तुम आठ-आठ हो और वह है अकेला। तुम ऐसा जाल बुनना कि उसके लिए कहीं बाहर निकलने का कोई अवकाश ही न रहे।.....'

रात्रि का समय हुआ। जंबू अपने शयनकक्ष में पहुंचा। सास की सीख के अनुसार आठों पत्नियां पूरी तैयारी के साथ समुपस्थित थीं। वार्ता प्रारंभ हुई। पत्नियां जंबूकुमार को कनक-कामिनी के पाश में बांधने के लिए प्रयत्नशील थीं तो कुमार मोहमाया के भंवर में फंसी पत्नियों को उससे बाहर निकालने के लिए सचेष्ट था।

एक घटिका बीती। दूसरी घटिका बीती। तीसरी..... चौथी..... और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचवीं घटिका भी अपनी राह गुजर गई। पर वार्ता का अंत नहीं आया। प्रत्येक नवोढ़ा भौतिक सुख और सांसारिक भोग भोगने के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत कर रही थी तो जंबूकुमार हर-एक के तर्क काटता हुआ संयम और त्यागमय जीवन की सार्थकता सिद्ध कर रहा था।

जिस समय यह क्रम चल रहा था, ठीक उसी समय धन के लोभी पांच सौ चोर श्रेष्ठि ऋषभदत्त के भवन में घुसे। जंबूकुमार की शादी में कन्यापक्षवालों के वहां से निन्यानबे करोड़ सोनैयों का दहेज आया था। यह खबर चोर-गिरोह के स्वामी प्रभव को मिल चुकी थी। प्रभव अपनी चौर्यकला के लिए कुख्यात था। हालांकि वह एक राजपुत्र था, फिर भी किसी कारण वह इस घृणित धंधे से जुड़ गया था।

प्रभव के पास *अवस्वापिनी* और *तालोद्घाटिनी* नामक दो चामत्कारिक विद्याएं थीं। उसने *अवस्वापिनी* का प्रयोग किया और पहरेदारों-सहित सभी को निद्राधीन बना दिया। फिर *तालोद्घाटिनी* का प्रयोग करके सारे ताले खोल लिए। धन बटोरने में अब कोई कठिनाई नहीं थी। उसने अपने चोर अनुचरों को धन के गट्ठर बांधने का आदेश दिया। कुछ ही देर में अनुचरों ने धन के गट्ठर बांध लिए। पर ज्योंही वे उन्हें उठाकर ले जाने को उद्यत हुए कि उनके हाथ-पांव वहीं चिपक गए। उनके लिए हिलना-डुलना भी असंभव हो गया।

प्रभव को इस स्थिति की खबर नहीं थी। उसने अनुचरों को बुत की तरह खड़े देखा तो वह बोला—'खड़े-खड़े क्या देख रहे हो; गट्ठर उठाकर चलते क्यों नहीं?' अनुचरों ने कहा—'हमारे तो हाथ-पैर चिपक गए हैं। फिर चलें कैसे? पता नहीं, यह कैसी माया है, हम तो गहरे संकट में फंस गए है!'

प्रभव को अब स्थिति का आकलन करते समय नहीं लगा; और इस आकलन के साथ ही वह चिंतित हो उठा। यदि यही हालत रही तो प्रातःकालीन प्रकाश होते ही सब रंगे हाथों पकड़े जाएंगे। रहस्य जानने के लिए वह भवन में इधर-उधर घूमने लगा। घूमते-घूमते उसकी नजर एक कक्ष पर टिकी। उसके अंदर से प्रकाश-किरणें बाहर निकल रही थीं। वह उस कक्ष के पास गया तो उसे अस्पष्ट-सी आवाज सुनाई दी। उसे यह अनुमान लगाते देर नहीं लगी कि अंदर कुछ लोग हैं और वे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। इसके साथ ही उसे यह भी अनुमान हो गया कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें से कोई-न-कोई विशिष्ट शक्ति-संपन्न भी है, अन्यथा *अवस्वापिनीविद्या* से वे अप्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। वह कक्ष के कान लगाकर उनकी पारस्परिक बात सुनने लगा। उस समय कुमार जंबू अपनी परिणिताओं को संबोधित कर कह रहा था—'तुम रूप-लावण्यसंपन्न अप्सराओं-जैसी लग रही हो, पर यह कोई सार की बात नहीं है। जीवन क्षणभंगुर है। आयुष्य वायु से चंचल बनी लहरों के समान अस्थिर है। धन-वैभव अशाश्वत है, विपद्ग्रस्त है। इंद्रिय-विषय नश्वर हैं, कटुकपरिणामी हैं, भले मोहोन्माद में व्यक्ति उनके आसेवन से क्षणिक तृप्ति महसूस करे। मित्र, स्त्री आदि स्वजनों के संगम से होनेवाला सुख स्वप्न के समान है। जिस प्रकार स्वप्न में बसी बस्ती आंखों के खुलते ही उजड़ जाती है, उसी प्रकार स्वार्थ के टूटने के साथ ही यह सुख समाप्त हो जाता है। संसार में कोई ऐसी चीज नहीं है, जो प्राणी के लिए आलंबन बन सके, आश्वासन बन सके। संयम और तप का समन्वित रूप धर्म एकमात्र व्यक्ति के लिए आलंबन है, आश्वासन है और इस अनंतकालीन भवभ्रमण से छुटानेवाला है।.....'

हालांकि यह उपदेश कोई नया नहीं है, तथापि उस समय वह प्रभावकारी बन गया। फिर जंबूकुमार के विरक्त हृदय से निकलकर वह और भी अधिक प्रभावकारी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। फलतः आठों ही पत्नियों का मानस-परिवर्तन हो गया। वे भी जंबूकुमार के साथ संयम-जीवन स्वीकार करने के लिए तैयार हो गईं। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी संकल्प किया कि हम अपने-अपने माता-पिता को भी सांसारिक भोगों का दुष्परिणाम एवं निस्सारता समझाकर उन्हें संयम-जीवन स्वीकार करने के लिए तैयार करेंगी। जंबूकुमार ने भी अपने माता-पिता को उसी मार्ग पर लाने का विचार व्यक्त किया।

प्रभव ने बात सुनी और सारी स्थिति समझी तो सहसा दंग रह गया। मन-ही-मन कहा—गजब का आदमी है! इतने धन से घिरा होकर भी उससे अनासक्त है! उसे त्यागने के लिए संकल्पबद्ध है! अप्सराओं-सी सुंदर आठ-आठ पत्नियों का स्वामी होकर भी संसार से विरक्त है! और एक मैं हूं, जो धन के लोभ में चौर्यकर्म-जैसी जघन्य प्रवृत्ति में फंसा हुआ हूं! मुझे अपने कुल और परिवार की प्रतिष्ठा का भी कोई ख्याल नहीं है! धिक्कार है मुझे!.....अब वह मौन नहीं रह सका। उसके मुंह से स्वर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फूटा—'जंबूकुमार!' किसी अन्य पुरुष का शब्द सुनकर आठों ही नवोढ़ाएं एकदम चौंकीं। जंबू भी चौंका। बोला—'कौन है?' जंबू के इस प्रश्न के साथ ही प्रभव एकदम सामने आ गया। जंबू ने पूछा—'कौन हो? क्यों आए हो?' प्रभव बोला—'मैं सारी बात बताऊंगा, पहले हमें संकट से बचाएं।' जंबू ने साश्चर्य पूछा—'कैसा संकट?' प्रभव बोला—'आप तो अंतर्यामी हैं। फिर आपको मैं क्या बताऊं? मेरे चार सौ निन्यानबे अनुचरों के हाथ-पैर चिपक गए हैं। आप अनुग्रह करके हमारा संकट-मोचन करें। मैं आपको *अवस्वापिनी* और *तालोद्घाटिनी* दो विद्याएं समर्पित करता हूं। आप मुझे यह विद्या प्रदान करें।' जंबूकुमार ने कहा—'ये सब विद्याएं धोखा हैं। सच्ची विद्या एक ही है—वैराग्य। उसे प्राप्त करने के पश्चात और कुछ भी पाने की चाह समाप्त हो जाएगी, जीवन सार्थक हो जाएगा।' प्रभव ने कहा—'मैं आपकी बात पर गंभीरता से चिंतन करूंगा, पहले आप शीघ्रता से मेरे अनुचरों को संकट से छुड़ाएं।' जंबू ने कहा—'नहीं, पहले तुम यह जघन्य वृत्ति छोड़कर संयम-पथ पर अग्रसर होने के लिए संकल्पित हो।' ऐसा कहते हुए जंबूकुमार ने उसे मार्मिक उद्बोधन दिया। संसार की नश्वरता का बोध करवाया।

प्रभव जंबूकुमार के व्यक्तित्व से पहले से ही प्रभावित था, अब उसके उपदेश ने और काम किया। वह जंबू की बात मानकर दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गया।

बस, सभी चार सौ निन्यानबे चोर मुक्त हो गए। प्रभव ने उन्हें भी संयम-जीवन का मूल्य समझाया। वे भी दीक्षा के लिए अपने स्वामी के साथ तैयार हो गए। इधर जंबूकुमार ने अपने माता-पिता को समझाया तथा आठों पत्नियों ने अपने-अपने माता-पिता को। सब दीक्षा ग्रहण करने के लिए उपस्थित हो गए। इस प्रकार जंबू, प्रभव आदि पांच सौ सत्ताईस व्यक्तियों ने एक साथ संयम स्वीकार किया। संयम स्वीकार करते ही सब वंदनीय बन गए, लोगों की दृष्टि में सम्माननीय बन गए, प्रतिष्ठित बन गए। और तो क्या, प्रभव-जैसा कुख्यात चोर भी वंदनीय-सम्माननीय बन गया, साहूकार बन गया। यह संयम का चमत्कार है, त्याग और असंग्रह का चमत्कार है, अनाकांक्षा का चमत्कार है।

कहा जाता है कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष में लोग अपने-अपने मकान के ताले नहीं लगाते थे। क्यों नहीं लगाते थे? क्या चोर नहीं थे?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर चोर क्यों हों, जब कि कोई भूखा नहीं था? भूख से मेरा तात्पर्य आप समझते होंगे। कोई अति आकांक्षी नहीं था। अनावश्यक संग्रह की वृत्ति नहीं थी। बंधुओ! आप सब भी अपनी-अपनी आकांक्षाएं कम करें। अनावश्यक संग्रह की वृत्ति त्यागें। मूर्च्छा छोड़ें। यदि ऐसा होता है तो आज भी वह स्थिति असंभव नहीं है।

अनाकांक्षा ही मोक्ष है

आप यह बात हृदयंगम करें कि आकांक्षा/मूर्च्छा/आसक्ति ही संसार है और जिस-जिस सीमा तक व्यक्ति इससे छूटता जाता है, उस-उस सीमा तक उसका मोक्ष होता जाता है। यानी आकांक्षा/मूर्च्छा/आसक्ति से मुक्ति ही मोक्ष है। यदि आपको मोक्ष का सुख प्राप्त करना है तो इससे छूटना होगा। आकांक्षा/मूर्च्छा/आसक्ति से छूटने के पश्चात व्यक्ति संसार में रहता हुआ और अपने सामाजिक दायित्व निभाता हुआ भी मोक्ष-सुख का एक सीमा तक अनुभव कर सकता है।

यह कैसी विडंबना है कि भगवान महावीर ने अपरिग्रह/असंग्रह पर जितना बल दिया, उनके अनुयायी परिग्रह/संग्रह से उतने ही बंधे रहे! एक ओर आकांक्षाओं का विस्तार और दूसरी ओर मोक्षगमन की चाह–दोनों विरोधी बातें एक साथ कैसे फल सकेंगी?

एक भूखा व्यक्ति संन्यासी के पास जाकर उनका शिष्य बन गया। बाबाजी के अनुयायियों ने श्रद्धा से नए शिष्य के लिए आवश्यक चीजें भेज दीं। वह दो दिन से भूखा था। उसने पेट-भर गरम-गरम खिचड़ी खाई और लेट गया। रात-भर गहरी नींद सोया। सुबह जब बाबाजी ने उसे उठाया तो वह बोला–'बाबाजी! जिंदगी में आज के सुख-जैसा सुख कभी नहीं मिला। मैं सोचता हूं, मेरे सब दुःखों का अंत आ गया है।' एक-दो क्षण रुककर पुनः बोला–'बाबाजी! मोक्ष यही है या और कुछ?' कवि ने यही बात एक व्यंग्य के रूप में व्यक्त की है–

- **खावण मिलगी खीचड़ी, ओढ़ण मिलगी सोड़।**
  चेलो पूछै गुरुजी नै, मोक्ष आही है कै और?
- **घर मांहि मिलतो नहीं, खावण पूरो नाज।**
  भेख लियो भगवान रो, (अबै) करवा लागा राज।।

यह बात ठीक भी है। आज प्रायः लोग ऐसे मोक्ष की ही भूख रखते हैं, लेकिन यह वास्तविक मोक्ष का मार्ग नहीं है, कदापि नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि वास्तविक मुक्ति की चाह है तो आपको त्याग के पथ पर आना होगा, असंग्रह का पथ स्वीकार करना होगा, संयम को जीवन का आधार बनाना होगा। अपेक्षा है, **संयमः खलु जीवनम्**—यह घोष जन-जन तक पहुंचे, वह अनाकांक्षा की भावना से भावित हो। भगवान महावीर ने कहा है—**छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं**—इच्छाओं के निरोध से मोक्ष प्राप्त होता है।

श्रीकर्णपुर
२२ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६ : पूंजीवाद और अपरिग्रह

साधु-संतों के प्रति आकर्षण क्यों

आज का युग भौतिकताप्रधान युग है। संसार में अधिक-करके लोगों का आकर्षण सत्ता, धन-संपत्ति और वैभव के प्रति है। प्रश्न होता है कि ऐसी हालत में भारतीय जन-मानस में साधु-संतों के प्रति आकर्षण क्यों है। साधु-संतों की स्थिति आप जानते ही हैं। वे नंगे पांव चलते हैं। रोटी-पानी भिक्षा से प्राप्त करके अपना काम चलाते हैं। अपने सारे कार्य अपने हाथों से करते हैं। पूरा श्रमिक का जीवन जीते हैं। कोई जादू या चमत्कार वे जानते नहीं और कदाचित जानते भी हैं तो दिखाते नहीं।·····इसका सीधा-सा समाधान यह है कि भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान संस्कृति है; संयमप्रधान संस्कृति है। वह त्याग और संयम को सर्वोच्च मूल्य देती है, सत्ता, धन-संपत्ति और वैभव को नहीं। साधु-संत त्याग और संयम के प्रतीक होते हैं। साधु-संतों के प्रति भारतीय जन-मानस का आकर्षण उसी त्याग और संयममय संस्कृति की परंपरा का प्रतीक है। कुछ लोग इसे अंधपरंपरा भी कह सकते हैं, पर मैं इसे अंधपरंपरा नहीं मान सकता। अंधपरंपरा का निर्वाह एक अंधा व्यक्ति तो कर सकता है, पर बुद्धिवादी वर्ग कैसे कर सकता है?

धरती पर स्वर्ग उतर सकता है

साधु-संतों के प्रति भारतीय जन-मानस का यह आकर्षण और आस्था-भाव शुभ का सूचक है। मैं मानता हूं, यदि यह आकर्षण और श्रद्धाभाव शब्दों, विचारों और चिंतन तक ही सीमित न रहकर जीवन की प्रवृत्तियों में आ जाए तो **सोने में सुगंध** की बात हो सकती है, भारतवर्ष की धरती पर स्वर्ग उतर सकता है। ऐसी स्थिति में संसार के दूसरे-दूसरे देशों के लोग इसे नुमाइश की तरह देखने आएं तो कोई आश्चर्य नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोग के लिए त्याग

साधु-संतों के प्रति आकर्षण और श्रद्धाभाव को जीवन की प्रवृत्तियों में उतारने का अर्थ आप समझते ही होंगे। व्यक्ति-व्यक्ति जीवन में त्याग और संयम को स्थान दे। त्याग और संयम को जितना अधिक स्थान मिलता है, यह आकर्षण और श्रद्धाभाव उतना ही अधिक सार्थक बनता है, पर ऐसा कहने का मेरा तात्पर्य यह नहीं कि लोगों के मन में त्याग/संयम के प्रति कोई आकर्षण नहीं है, वे त्याग/संयम को जीवन में स्थान नहीं देते। त्याग और संयम को भी लोग जीवन में स्थान देते हैं, तथापि इतना सुनिश्चित है कि त्याग/संयम के भाव से त्याग/संयम करनेवाले बहुत कम हैं। अधिक व्यक्ति तो ऐसे ही मिलते हैं, जो त्याग और संयम का आचरण भी करते हैं तो उसके पीछे उनकी भोग और सुख-सुविधा प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। यह त्याग सच्चा त्याग नहीं है। यह संयम वास्तविक संयम नहीं है। इससे त्याग और संयम का वास्तविक फल व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता।

कुर्सी तो मिलनी ही चाहिए!

दिल्ली में *कांग्रेस पार्टी* का चुनाव हो रहा था। एक व्यक्ति किसी महत्त्वपूर्ण पद के लिए उम्मीदवार के रूप में खड़ा हुआ। वह बिलकुल अनपढ़ था। पद की गरिमा और उसका दायित्व देखते हुए उसका उस पद के लिए उम्मीदवार होना सर्वथा अनुपयुक्त था। अतः कुछ समझदार लोगों ने उससे कहा—'आप यह चुनाव लड़कर क्या करेंगे?' उसने प्रतिप्रश्न की भाषा में उत्तर दिया—'दूसरे-दूसरे लोग क्या करेंगे?' लोगों ने कहा—'दूसरे-दूसरे उम्मीदवार तो पढ़े-लिखे हैं, चिंतनशील हैं। अपने विचारों से लोगों को लाभान्वित करते हैं, संगठन में काम करते हैं।.....' वह बोला—'इससे क्या फर्क पड़ता है? मैं भी अब पढ़ लूंगा। भाषण देना भी धीरे-धीरे सीख लूंगा। कुर्सी तो जरूर लूंगा।' लोगों को उसके इस उत्तर से बड़ी हैरानी हुई। उन्होंने पूछा—'आखिर कुर्सी प्राप्त करने का अपका इतना आग्रह क्यों है?' छूटते ही वह बोला—'आजादी के लिए मैंने जेल नहीं काटी क्या? उसके मुआवजे के रूप में कुर्सी तो मिलनी ही चाहिए।'

इस घटना से आप समझ सकते हैं कि त्याग के पीछे लोगों की मानसिकता कैसी है। जेल तो हजारों व्यक्ति गए थे। यदि वे सभी मुआवजा मांगने लगें तो बेचारी कुर्सी का क्या हाल होगा, आप स्वयं कल्पना कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं। यद्यपि जनतंत्र की शासन-व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति पद के लिए उम्मीदवार बन सकता है, उस पर रुकावट नहीं हो सकती, तथापि ऐसी मानसिकता कदापि अच्छी नहीं मानी जा सकती। भोग और सुख-सुविधाएं बटोरने के लिए त्याग की बात अनुचित है। मेरी दृष्टि में यह वास्तविक त्याग और संयम है ही नहीं। इससे अपेक्षित लाभ की आशा करना तो भयंकर भूल है।

अमीर और गरीब

त्याग और संयम की बात जहां आती है, वहां पूंजी और संग्रह की बात आपने-आप चर्चित बन जाती है। आज लोगों में पूंजीपतियों के प्रति आक्रोश की भावना उत्पन्न हो रही है। यह स्वर बार-बार सुनाई देता है कि पूंजीपति और गरीब की विषमता जब तक नहीं मिटेगी, तब तक हम शांति से नही बैठ सकते। अभी पिछले ही दिनों जब मैं श्रीकर्णपुर में था, तब आगामी चुनाव का एक उम्मीदवार मेरे पास आया। वार्तालाप के प्रसंग में उसने कहा–'आचार्यजी! धनी और गरीब के बीच का वैषम्य हर हालत में मिटाना होगा। चंद पूंजीपति पूंजी का संग्रह कर लेते हैं और अधिक करके नागरिकों को खाने के लिए रोटी भी सुलभ नहीं होती। यह विषमता बहुत बड़े खतरे की सूचना है। जब तक यह विषमता नहीं मिटती है, हम निश्चिंतता का जीवन नहीं जी सकते।' मैंने कहा–'आज आम आदमी पूंजीपतियों से विग्रह करता है, घृणा करता है, क्योंकि उनके पास पूंजी है। पर आपसे मैं पूछना चाहता हूं कि यदि पूंजी आपके पास होती तो।' बिना उनके उत्तर की प्रतीक्षा किए मैंने आगे कहा–'शायद आप विग्रह और घृणा नहीं करते। कारण स्पष्ट है। आपका पूंजी से कोई विरोध नहीं है। उसके प्रति आपके मन में कोई घृणा नहीं है। विरोध और घृणा है व्यक्ति से।'

समझने की बात यह है कि पूंजी के प्रति गरीबों के मन में भी उतना ही आकर्षण है, जितना धनपतियों के मन में। जो लोग आज पूंजीपतियों को कोसते हैं, भला-बुरा कहते हैं, उनकी स्वयं की आकांक्षा पूंजीपति बनने की है। यही कारण है कि लंबे प्रयत्न के बावजूद पूंजीवाद खत्म नहीं हो रहा है। साम्यवादी खूनी क्रांति के माध्यम से पूंजीवाद समाप्त करने की बात कहते हैं, विषमता मिटाने की बात करते हैं, पर वे भी सफल कहां हैं? जहां तक मैं समझता हूं, भविष्य में भी वे इसमें सफल हो जाएंगे, संभव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं लगता। यों थोड़ी-बहुत सफलता तो किसी को मिल सकती है।

वैचारिक विषमता मिटे

धनी-गरीब की यह विषमता मिटाने के लिए सबसे बड़ी अपेक्षा है वैचारिक वैषम्य मिटाने की। जब तक वैचारिक स्तर पर यह विषमता बनी है, तब तक आर्थिक विषमता मिटाने का कोई भी प्रयत्न अंततः निष्फल ही रहेगा। वैचारिक विषमता मिटाने से मेरा तात्पर्य है कि व्यक्ति समत्व के सिद्धांत को जीवन का आदर्श मानकर चले। वह न तो धन-संपत्ति में मूर्च्छित बने और न गरीबी में आंसू ही बहाए; न तो धन को जीवन चलाने के साधन से अधिक महत्त्व दे और न धनाभाव के कारण किसी को हीन-दीन ही समझे। हमारे पास अमीर-गरीब सभी तरह के लोग आते हैं। उनके प्रति हमारे मन में कोई अंतर नहीं है। हम दोनों को समान दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं; दोनों को उनके हित की बात समान रूप से बताते हैं।

समत्व का आदर्श रूप

भगवान महावीर समत्व के आदर्शपुरुष थे। एक ओर स्वर्ग का अधिपति इंद्र उनके चरणों में श्रद्धाप्रणत होता है तो दूसरी ओर क्रूर चंडकौशिक सर्प उनके पैरों पर डंक मारता है। पर इन दोनों ही स्थितियों में भगवान महावीर अपने समत्व में स्थिर रहते हैं। दोनों के प्रति उनका मन करुणा से भर जाता है। इंद्र के प्रति उनके मन में विचार उभरता है कि यह कितना विलासी है! इसका कल्याण कैसे होगा!! चंडकौशिक के प्रति उनके मन की संवेदना पैदा होती है कि यह महाक्रूर है! इसकी दृष्टि में ही जहर है!! इसका कल्याण कैसे होगा!!!

साम्यवाद का जिक्र मैंने पूर्व में किया था। वह विषमता मिटाता है, पर महावीर का जो समतावाद है, उसके समक्ष वह कहीं नहीं ठहरता। हालांकि महावीर जितनी समता हर-कोई नहीं अपना सकता, कोई-कोई ही उस आदर्श तक पहुंच सकता है, तथापि एक सीमा तक तो उस समता की साधना हर-कोई स्वीकार कर ही सकता है और करना ही चाहिए।

अर्थ साध्य न बने

अर्थ के संदर्भ में मैं आप लोगों से कहना चाहता हूं कि आप उसके प्रति अपना दृष्टिकोण सम्यक बनाएं। उसे जीवन का साध्य न मानें, साधन की भूमिका तक ही सीमित रखें। ऐसा हुए बिना उसके प्रति व्यामोह टूट नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता; और जब तक यह व्यामोह नहीं टूटता, तब तक व्यक्ति शांति की जिंदगी नहीं जी सकता। मुक्ति की बात तो फिर बहुत आगे रह जाती है।

धनवान की मुक्ति

ईसा के पास एक अमीर व्यक्ति आया और उसने मुक्ति का मार्ग पूछा। ईसा ने कहा–'क्या तुम सचमुच ही मुक्ति चाहते हो? यदि हां तो अपना सारा धन गरीबों में बांट दो और अकिंचन बनकर मेरे पास आओ।'

वह व्यक्ति वहां से उठकर रवाना हुआ, पर पांच-सात कदम भी बड़ी मुश्किल से चला होगा कि लौट आया और बोला–'मैं अपना सारा धन गरीबों में बांट दूं और फिर भी मुक्ति नहीं मिली तो?'

ईसा ने सुना और बोले–'सुई की नोक से एक ऊंट का निकल जाना फिर भी संभव है, पर धनवान की मुक्ति संभव नहीं है!'

अपरिग्रह : मूर्च्छा

बंधुओ! यही बात मैं आपसे कह रहा था। अर्थ के प्रति जब तक आसक्ति नहीं टूटती, मूर्च्छा समाप्त नहीं होती, तब तक मुक्ति की पृष्ठभूमि भी तैयार नहीं होती। भगवान महावीर ने इसी लिए अपरिग्रह पर अत्यधिक बल दिया है। अपरिग्रह बहुत व्यापक शब्द है। अर्थ का संग्रह न करना उसका एक पक्ष है। उसका दूसरा पक्ष है–अर्थ के प्रति मूर्च्छा न रखना। हालांकि पूर्ण अपरिग्रह की अपेक्षा से ये दोनों ही बातें आवश्यक हैं, तथापि मूर्च्छा न रखने की बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। जब तक मूर्च्छा नहीं टूटती है, तब तक धन के बिना भी व्यक्ति परिग्रही बन जाता है। इस अर्थ में एक भिखारी भी बहुत बड़ा परिग्रही हो सकता है। लेकिन जहां मूर्च्छा टूट जाती है, वहां व्यक्ति धन से जुड़ा रहकर भी एक सीमा तक अपरिग्रह की साधना करने में सफल हो सकता है। धन गृहस्थ-जीवन की एक अनिवार्यता है। इसलिए कोई गृहस्थ अर्थ से सर्वथा असंपृक्त नहीं रह सकता, उसका साधु-साध्वियों की तरह सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता, पर जहां तक मूर्च्छा छोड़ने का प्रश्न है, वह इस दिशा में चाहे जितना आगे बढ़ सकता है। इस दिशा में बढ़ा उसका हर चरण उसके सुख और शांति का आधार बनता है, जीवन-सौभाग्य को बढ़ानेवाला सिद्ध होता है।

पद्मपुर, २४ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७ : सच्चरित्र क्यों बनें

महानता की कसौटी

चरित्र जीवन का सारभूत तत्त्व है। जिस व्यक्ति का चरित्र जितना ऊंचा/उज्ज्वल/निर्मल होता है, वह उतना ही महान होता है। किसी कुलविशेष से पैदा होने से कोई अपने-आपको भले ऊंचा माने, पर मेरी दृष्टि में उच्चता/महानता की कसौटी व्यक्ति का चरित्र ही है। नैतिकता, प्रामाणिकता, सदाचार आदि उसी चरित्र का प्रतिनिधित्व करनेवाली बातें हैं। भारतीय लोगों का चरित्र किसी समय विश्व के लिए आदर्श था। संसार के लोग उनसे चरित्र की शिक्षा लेने आते थे। पर आज स्थिति बदल गई है। नैतिकता, प्रामाणिकता, सदाचार की दृष्टि से भारतीय जनता अपनी वह प्रतिष्ठा खो चुकी है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतवर्ष से नैतिकता, प्रामाणिकता, सदाचार का नाम उठ ही गया है। आज भी ऐसे व्यक्ति देखने को मिलते हैं, जिनकी न केवल सच्चरित्र, नैतिकता, प्रामाणिकता में अटूट आस्था है, अपितु वे हजार कठिनाइयां झेलकर भी उनकी टेक नहीं छोड़ते। पर इतना स्पष्ट है कि ऐसे लोगों की संख्या कम है। बड़ी संख्या उन लोगों की है, जो चरित्र का यथार्थ मूल्यांकन नहीं करते। इनमें भी दो तरह के लोग हैं। प्रथम कोटि में वे लोग हैं, जो सच्चरित्र के प्रति अनास्थाशील तो नहीं हैं, पर कठिनाइयों से घबरा जाते हैं। इस कारण वे अपना चरित्र बेदाग नहीं रख पाते। दूसरी कोटि उन लोगों की है, जो चरित्र को जीवन के लिए कोई आवश्यक तत्त्व ही नहीं समझते। उसके प्रति उनके मन में कोई निष्ठा ही नहीं है। ऐसी स्थिति में विशेष कठिनाई न होने के बावजूद वे असदाचार का सेवन कर लेते हैं। हालांकि असदाचार का सेवन दोनों ही स्थितियों में अच्छा नहीं है, तथापि मैं दूसरी कोटि के लोगों को अधिक गलत समझता हूं।

चरित्र के प्रति अनास्था गलत आचरण से भी ज्यादा घातक तत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जिस व्यक्ति की आस्था सही है, उसके सच्चरित्र बनने की संभावना बनी रहती है, पर जो इस तत्त्व के प्रति आस्था ही नहीं रखता, उसे गलत समझता है, उसके सुधरने की संभावना क्षीणप्रायः रहती है। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि सबसे पहले चरित्र के प्रति सही आस्था का निर्माण हो। सही आस्था के निर्माण के पश्चात उसे व्यावहारिक धरातल पर लाने का कार्य सरल हो जाएगा।

सच्चरित्र बनने का अभिप्रेत

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो सच्चरित्र बनकर जीना तो पसंद करते हैं, पर साथ-ही-साथ उसका सामाजिक मूल्यांकन भी चाहते हैं, अन्यथा उन्हें अपनी सच्चरित्रता सार्थक प्रतीत नहीं होती। पिछले ही दिनों एक व्यक्ति मेरे पास आया और बोला—'आचार्यजी! आप लोगों को सच्चरित्र और नैतिक बनने का उपदेश देते हैं, लेकिन मेरी दृष्टि में आज के युग में सच्चरित्र बनना व्यर्थ है, नैतिक जीवन जीना मूर्खता है, क्योंकि सच्चरित्र और नैतिक व्यक्ति की समाज में कोई कीमत नहीं है, उसे कोई प्रतिष्ठा नहीं देता।' मैंने उस भाई को समझाते हुए कहा—'किसी व्यक्ति के सच्चरित्र या नैतिक बनने का यह अर्थ नहीं कि दुनिया उसकी कीमत आंके। दुनिया की प्रतिष्ठा/सम्मान पाने के लिए यदि सच्चरित्र या नैतिक बना जाता है तो मेरी दृष्टि में यह कोई बहुत महत्त्व की बात नहीं है, बल्कि बहुत हलकी बात है। एक दृष्टि से वह व्यर्थता की कोटि में आ जाती है। वस्तुतः व्यक्ति को सच्चरित्र बनना चाहिए अपनी आस्था के लिए, अपने आत्मतोष के लिए। *सच्चरित्र बनना जीवन की सार्थकता है*—इस आस्था के साथ जब व्यक्ति सच्चरित्र बनता है, तब उसे सहज ही एक प्रकार का अनिर्वचनीय आत्मतोष मिलता है। फिर वह इस बात की कोई चिंता ही नहीं करता कि लोग उसका उचित मूल्यांकन करते हैं या नहीं, उसे सामाजिक सम्मान/प्रतिष्ठा मिलती है या नहीं। हालांकि जो सच्चरित्र होता है, उसे देर-सवेर स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, लोग उसे आदर देते हैं, तथापि यह बहुत गौण बात है। मुख्य बात है—स्वयं की आस्था, स्वयं का आत्मसंतोष।'

जो गटका खाएगा, वही झटका खाएगा

बछड़े ने देखा, मेंढ़े को घी, हलवा आदि अच्छी-अच्छी चीजें खाने को दी जाती हैं। उसके मन में विचार आया कि रोजाना मीठा और पौष्टिक दूध देनेवाली मेरी माता को तो घास और जूठा पानी मिलता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और यह मेंढा कुछ भी नहीं देता, फिर भी इसे इतनी अच्छी-अच्छी चीजें! यह कहां का न्याय! उसका खून खौल उठा। उसने यह बात अपनी मां को बताते हुए कहा–'मां! यह अन्याय मैं सहन नहीं कर सकता।' गौ ने बछड़े को समझाते हुए कहा–'अधीर मत बन। कुछ दिन प्रतीक्षा कर। तेरी भावना के अनुरूप न्याय हो जाएगा।' पंद्रह-बीस दिन बीते होंगे कि बछड़े ने फिर इस अन्याय की चर्चा करते हुए उसके प्रतिकार की बात कही, पर गौ ने धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने की बात दुहराकर पुनः उसे शांत कर दिया।

एक-एक दिन बीतते डेढ़-दो माह का समय और बीत गया। बछड़ा मेंढे को रोज अच्छे-अच्छे पदार्थ खाते देखता और उसके भावों में उत्तेजना सुलगने लगती, पर मां की बात ध्यान में रखता हुआ वह शांत रहता।

·····और एक दिन उसने देखा, मेंढे को अच्छी-अच्छी चीजें खिलानेवाला घर का स्वामी ही एक चमचमाती तलवार लेकर उधर आया है। वह एकदम चौंका। गौ ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा–'वत्स ! तू चौंक मत! जो गटका खाएगा, वही झटका खाएगा। हमने गटका नहीं खाया है तो हमें घबराने की किंचित भी जरूरत नहीं है।·····' तभी बछड़े ने देखा, वह चमचमाती तलवार मेंढ़े की गर्दन पर पड़ी और वह *में-में*····· करता हुआ जमीन पर ढेर हो गया। गौ ने कहा–'वत्स! आज तुझे मेरी बात समझ में आ गई होगी। देर हो सकती है, पर अंधेर नहीं है। जिसने मुफ्त में माल उड़ाया, उसे उसका फल मिल गया।'

अणुव्रत की अपेक्षा और उपयोगिता

बंधुओ! मैं यह कहानी इस परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना चाहता हूं कि जो व्यक्ति अच्छा जीवन जीता है, चरित्रनिष्ठ और नैतिक रहता है, उसकी देर-सवेर स्वयं कीमत आंकी जाती है। यह सोचना भयंकर भूल है कि लोग उसका सही मूल्यांकन नहीं करते, उसे सही प्रतिष्ठा नहीं देते, पर इसके साथ ही इतना और कहना चाहता हूं कि व्यक्ति की स्वयं की आकांक्षा यह नहीं होनी चाहिए। वह तो स्वयं की आस्था के लिए ही सच्चरित्र बने, स्वयं के आत्मतोष के लिए ही नैतिक बने, स्वयं के आनंद के लिए ही सदाचारी बने। वस्तुतः सच्चरित्र, नैतिक और सदाचारी बनने में जो आत्मतोष और आत्मिक आह्लाद मिलता है, उसकी संसार के किसी पदार्थ से तुलना नहीं की जा सकती। गोस्वामीजी ने कहा है–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात ! स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरहि तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग।।

अणुव्रत जन-जन को सच्चरित्र बनाने का कार्यक्रम है, जन-जन को नैतिकता और प्रामाणिकता के सांचे में ढालने का उपक्रम है, युगधारा को सदाचार की दिशा में मोड़ने का पुरुषार्थ है। इसलिए मैं जहां भी जाता हूं, वहां अणुव्रत की चर्चा करता हूं। इसके छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार करने की प्रेरणा देता हूं। कुछ लोगों को ऐसा भी लगता है कि आचार्यजी तो रोजाना एक ही बात कहते हैं। मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि वे अघाते क्यों हैं; वे रोटी रोजाना खाते हैं या नहीं; जब शरीर की क्षुधा मिटाने के लिए रोजाना रोटी खाना आवश्यक है तो बुराइयां मिटाने के लिए अणुव्रत की बार-बार चर्चा करना अनावश्यक कैसे हो सकता है। मेरी दृष्टि से यह बहुत जरूरी है, अन्यथा समाज स्वस्थ कैसे बन सकेगा? चरित्र, नैतिकता, सदाचार आदि की पुनः प्रतिष्ठा कैसे हो सकेगी? इसलिए मैं सभी लोगों से कहना चाहता हूं कि वे चरित्र/नैतिकता/सदाचार के इस कार्यक्रम की आवश्यकता और उपयोगिता समझें। समझकर स्वयं अणुव्रती बनें और दूसरों को इस दिशा में प्रेरित करें। इससे उनका स्वयं का हित तो होगा-ही-होगा, समाज और राष्ट्र का भी भला हो सकेगा।

पद्मपुर
२४ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८ : अच्छे और बुरे का विवेक

आत्म-विकास के तीन तत्त्व हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। हालांकि तीनों में से प्रत्येक तत्त्व अपने-आपमें मूल्यवान है, तथापि आत्म-विकास के लिए तीनों का सम्यक योग होना आवश्यक है। तीनों में से कोई भी एक अभीप्सित लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता। हमारी बहिनें हलुआ बनाती हैं। हलुआ बनाने के लिए आटा, घी और चीनी—इन तीनों चीजों की जरूरत रहती है। केवल आटा, घी अथवा चीनी से हलुआ नहीं बन सकता। यही बात ज्ञान, दर्शन और चरित्र के संबंध में समझनी चाहिए। इन तीनों का सम्यक योग ही व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ पर अग्रसर कर सकता है, आत्म-विकास के शिखर पर पहुंचा सकता है।

ज्ञान-प्राप्ति के दो प्रकार

तीनों में से पहला तत्त्व है—ज्ञान। ज्ञान दो प्रकार से होता है—सुनने से और पिछले संस्कारों से। संसार में अधिकतर व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके संस्कार इतने प्रबल नहीं होते कि उन्हें स्वयं ज्ञान हो जाए। उन्हें तो ज्ञान-प्राप्ति के लिए कठिन तपस्या करनी होती है, तीव्र पुरुषार्थ करना होता है। हां कुछ लोगों को संस्कारगत ज्ञान होता है। उन्हें स्वयंबुद्ध कहते हैं। वे किसी का उपदेश नहीं सुनते, सत्संग नहीं करते, पढ़ते भी नहीं। आप पूछेंगे कि ऐसा क्यों। इसका कारण तो बहुत स्पष्ट है। उनका ज्ञान सहजतया इस ढंग से अनावृत हो जाता है कि पढ़ने की बात स्वयं कृतार्थ हो जाती है। यह संस्कारगत ज्ञान तीर्थंकर जैसे *अवतारी पुरुषों* को होता है।

क्या भगवान अवतार लेते हैं

बहुत-से लोगों की ऐसी मान्यता है कि हर युग में परमात्मा अवतार लेते हैं। कारण यह है कि संसार की दयनीय स्थिति देखकर उनकी आत्मा द्रवित हो जाती है। अतः संसार के प्राणियों का पथ-दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना अपेक्षित होता है। इस मान्यतावाले कुछ व्यक्ति कभी-कभी मुझसे प्रश्न करते हैं कि आप अवतारवाद को मानते हैं या नहीं। उन्हें मेरा बहुत स्पष्ट उत्तर होता है कि यदि कोई परमात्मा बनकर संसार में आता है तो उसका परमात्मा बनना बेकार है। जैन-दर्शन की मान्यतानुसार परमात्मपद प्राप्त कर लेने के बाद कोई व्यक्ति पुनः संसार में नहीं आ सकता, और जो संसार में जन्म ग्रहण करता है, वह परमात्मा कदापि नहीं हो सकता। वस्तुतः व्यक्ति साधना/तपस्या के द्वारा आत्मा से परमात्मा की चढ़ाई चढ़ता है, और जैसे ही वह परमात्म-पद का शिखर छूता है, उसकी संसार से सदा-सदा के लिए मुक्ति हो जाती है, उसके वापस आने की बात बिलकुल समाप्त हो जाती है। मैंने *अवतारी पुरुषों* का जो प्रयोग किया है, वह ईश्वर के संदर्भ में नहीं है। उसका तात्पर्य है—आत्मकल्याण और जनकल्याण दोनों दृष्टियों से काम करनेवाले व्यक्ति। वैसे गहराई से देखा जाए तो अवतार और जन्म—इन दोनों शब्दों में कोई अंतर नहीं है। मात्र हमारे कहने के प्रकार का अंतर है। उदाहरणार्थ, सामान्यतः जाट जाट कहलाता है, पर विशेष अपेक्षा से वह चौधरी कहलाने लगता है। इसी प्रकार सिक्ख और सरदार, बणिया और सेठसाहब आदि शब्द व्यवहृत होते हैं। *अवतारी पुरुष* कहने के पीछे भी यह विवक्षा है।

ज्ञान आलोक है

जैसाकि मैंने प्रारंभ में कहा, स्वयंबुद्ध/तीर्थंकर को ज्ञान-प्राप्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वे सत्संग भी नहीं करते, संतजनों का उपदेश भी नहीं सुनते। उन्हें सहज रूप से ज्ञान हो जाता है, पर ऐसे लोग तो अंगुलियों पर गिने जा सकें, उतने ही होते हैं। संसार के आम लोगों को तो ज्ञान-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना ही होता है। उनके लिए सत्संग करना, उपदेश सुनना आदि बातें जरूरी होती हैं। खैर, ज्ञान चाहे कैसे भी क्यों न हो, वह प्राणी के लिए जीवन का आलोक है। जीवन के पग-पग पर उसका मूल्य है, सांस-सांस में उसका उपयोग है। जहां ज्ञान नहीं होता है, वहां व्यक्ति बुराइयों के अरण्य में भटक जाता है। कवि ने अज्ञान को जीवन का सबसे बड़ा कष्ट बताया है—

अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

– अज्ञान क्रोध आदि सभी प्रकार के पापों से भी ज्यादा कष्टकर है, क्योंकि इससे घिरे रहने से व्यक्ति अपने हित और अहित का विवेक नहीं कर पाता।

·····वही पंडित है

संसार में बहुत-से प्राणी अज्ञान से अपनी जिंदगी बरबाद कर लेते हैं। यदि सत-असत का ज्ञान हो जाए तो पतन का मार्ग कौन अपनाना चाहेगा? *गीता* में कहा गया है–

यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

– जिस व्यक्ति की हर क्रिया कामनारहित है, जिसके कर्म ज्ञान रूपी अग्नि से नष्ट हो गए हैं, वह पंडित होता है।

ज्ञान सुनने के लाभ

सचमुच यह बहुत गहरी बात है। हर व्यक्ति को इसे समझना चाहिए। *दशवैकालिक* सूत्र में कहा गया है–

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं तं समायरे॥

– ज्ञान सुनने से ही व्यक्ति को अच्छे और बुरे का विवेक होता है। यह विवेक हो जाने के पश्चात ही वह बुरा मार्ग छोड़ने और अच्छे मार्ग पर चलने का संकल्प कर पाता है।

श्रवण की अरुचि क्यों

मैं देखता हूं, बहुत-से व्यक्ति ऐसे भी होते है, जो सुनने में रुचि नहीं रखते। इसका कारण? कारण हैं आंतरिक वृत्तियां। जब आंतरिक वृत्तियों में माया और लोभ दोनों छा जाते हैं, तब सन्मार्ग स्वीकार करने में बाधा पैदा हो जाती है। यही कारण है कि हम लोग अपने प्रवचन-प्रवचन में लोगों को इन आंतरिक शत्रुओं को पराजित करने का उपदेश देते हैं। इससे प्रेरित होकर बहुत-से व्यक्ति इस दिशा में प्रवृत्त होते हैं, अपने पुरुषार्थ का नियोजन करते हैं, पर जो लोग कर्म को ही प्रबल मानते हैं, वे यह युद्ध करने को तैयार नहीं होते। वे कहते हैं–

कर्मप्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करि वैसा फल चाखा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या कर्म-मोचन संभव है

यों तो मैं भी कर्म को मानता हूं और यह भी मानता हूं कि व्यक्ति को कर्म का फल भोगना पड़ता है, पर साथ ही यह भी मानता हूं कि जब कर्मों का कर्ता व्यक्ति स्वयं है तो उन्हें तोड़नेवाला भी वही है। वह कर्म-बंधन में समर्थ है तो कर्म-मोचन में भी समर्थ है। पूछा जा सकता है कि कर्मों का मोचन कैसे होता है। जैसे दवा आदि के प्रयोग से बीमारियों से छुटकारा पाया जाता है, उसी प्रकार साधना, सत्संग, तपस्या आदि से पूर्वोपार्जित कर्म समाप्त किए जा सकते हैं। यदि ऐसा न हो तो इन सब क्रियाओं की सार्थकता ही क्या रहेगी?

आसक्ति और निकाचित कर्म

इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। जिस प्रकार दवा आदि के प्रयोग के बावजूद कुछ बीमारियां मिटती नहीं, उन्हें भोगना ही होता है, उसी प्रकार कुछ कर्म साधना/तपस्या आदि के द्वारा भी नहीं टूटते। उन्हें तो भोगना ही होता है। तत्त्व की भाषा में उन्हें *निकाचित कर्म* कहते हैं। आप पूछ सकते हैं कि ऐसे कर्मों के बंधन से बचने का क्या उपाय है। एक शब्द में कहूं तो ऐसे कर्मों के बंधन से बचने का उपाय है—सजगता। कर्मों के बंधन के साथ आसक्ति और अनासक्ति का बहुत गहरा संबंध है। प्रवृत्ति में व्यक्ति की आसक्ति जितनी गहरी होती है, बंधन भी उतना ही गहरा होता है। आप एक स्थूल उदाहरण से इसे समझें। एक व्यक्ति भोजन करता है। वह सोचता है, मुझे इस शरीर से काम लेना है, स्वाध्याय, ध्यान और तपस्या करनी है, इसलिए इसे पोषण देना भी जरूरी है, किराया देना भी आवश्यक है। चूंकि भोजन के बिना शरीर को पोषण नहीं मिलता, यह चल नहीं सकता, इसलिए भोजन करता हूं। इस स्थित में उसे स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट जैसा भी भोजन प्राप्त होता है, उसे वह समभावपूर्वक खाता है। इस प्रकार अनासक्त भावना से कर्म में प्रवृत्त होने से कर्मों का प्रगाढ़ बंधन नहीं होता। उसी के साथ एक दूसरा व्यक्ति रहता है। वह स्वादवृत्ति से भोजन करता है। मनोज्ञ भोजन मिलने पर उसे खूब सराह-सराहकर खाता है और अमनोज्ञ भोजन देखकर नाक-भौं सिकोड़ता है। स्वादिष्ट भोजन मिल जाए तो भूख से दुगुना खा लेता है और अस्वादिष्ट होता है तो चखना भी नहीं चाहता। इस प्रकार खाना आसक्ति है। कहा जाता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोजन में तीव्र आसक्ति रखनेवाले व्यक्ति को अगले जन्म में जीभ नहीं मिलती।

एक व्यक्ति तीव्र आवेश में आकर किसी को गाली दे देता है, पर संभलने के बाद बहुत अनुताप करता है। इस स्थिति में उसके प्रगाढ़ बंधन नहीं होता, लेकिन जो व्यक्ति गाली देने में भी आनंद का अनुभव करता है, उसके तीव्र बंधन होता है और उस बंधन से वह मूक तक बन सकता है। इसी प्रकार हर क्रिया के साथ आसक्ति और अनासक्ति से बंधन में अंतर पड़ता है। शिथिल बंधन साधना/तपस्या से टूट जाता है और गाढ़ बंधन भोगना पड़ता है।

कृत कर्मों का फल भोगने के संदर्भ में भी एक बात ध्यान देने की है। फल भोगते समय व्यक्ति को घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि फल भोगने का अर्थ है—ऋण से मुक्त होना। इसलिए किसी ने कहा है—**मूक होहि वाचाल**। अर्थात जिस पाप से प्राणी मूक हो जाता है, उस पाप का फल भोग लेने के बाद उसे बोलना आ जाता है।

प्रसंगवश मैंने कर्म-बंधन और कर्म-भोग की बात स्पष्ट की। अब पुनः मैं ज्ञान की बात पर आता हूं। ज्ञानीजनों से सुनकर लोग ज्ञान प्राप्त करते हैं, पर बड़ी कठिनाई है कि बहुत-से व्यक्ति किसी को सुनते ही नहीं। ऐसी स्थिति में उन्हें ज्ञान भी नहीं होता; और जब ज्ञान नहीं होता, तब वे अज्ञान का दुष्परिणाम भुगतते रहते हैं। उनकी जिंदगी उनके स्वयं के लिए भारभूत बन जाती है। इसी लिए हमारे तीर्थंकरों ने श्रवण पर बहुत बल दिया है।

जरूरी है संग्रह और व्युत्सर्ग

सुनने से जब अच्छे और बुरे का विवेक हो जाए, तब अच्छे का स्वीकरण और बुरे का परिहार जरूरी है। मैं मानता हूं, यह संग्रह और व्युत्सर्ग का सूत्र न केवल अध्यात्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा से भी बहुत मूल्यवान है। जब तक हमारा शरीर है, तब तक संग्रह और व्युत्सर्ग का क्रम चलता रहता है। हम लोग खाने-पीने के रूप में जो-कुछ ग्रहण करते हैं, वह सब सारभूत ही नहीं होता। उसमें निस्सार भी होता है। उसका मल-मूत्र के रूप में उत्सर्ग करना जरूरी होता है। खाए-पिए बिना तो फिर भी एक-दो दिन आराम से काम चल सकता है, पर उत्सर्ग के बिना हालत खराब हो जाती है। इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रह के साथ व्युत्सर्ग का भी पूरा-पूरा मूल्य समझना चाहिए।

एकांगी पकड़ हितकर नहीं

कुछ लोग केवल संग्रह की बात पकड़ लेते हैं, व्युत्सर्ग की बात सर्वथा अजरअंदाज कर देते हैं। यह एकांगी पकड़ अच्छी बात नहीं है। इसका दुष्परिणाम उन्हें भोगना पड़ता है। इस परिप्रेक्ष्य में मैं तो यह भी कहना चाहता हूं कि एकांगी पकड़ किसी बात की अच्छी नहीं होती। गुरु की महिमा हमारे यहां बहुत गाई गई है। कहा जाता है कि गुरु के बिना गति नहीं होती। एक अपेक्षा से बात सही है, गलत नहीं है। नाविक के बिना नौका कौन खेए? ड्राइवर के बिना गाड़ी कौन चलाए? इसी प्रकार गुरु के बिना मोक्ष का मार्ग कौन बताए? व्यक्ति गुरु से ज्ञान रूपी प्रकाश पा अपने कल्याण का पथ आलोकित कर सकता है, पर गुरु कैसा हो, इसका विवेक भी बहुत अपेक्षित है। 'गुरु बिना गति नहीं'—इस बात के आधार पर यदि किसी अयोग्य व्यक्ति को गुरु बना लिया जाता है तो गति—सद्गति होने की बात तो कहीं रही, उलटी दुर्गति हो जाती है।

गुरु बनने का अधिकारी

आप लोग गृहस्थ हैं। आपके बाल-बच्चे हैं, परिवार है। इसलिए आप धन-संपत्ति रखते हैं, पर आपके गुरु भी यदि धन-संपत्ति से जुड़े हुए हैं तो आपमें और उनमें अंतर ही क्या है? बहुत-से संत, महंत व जगद्गुरु कहलानेवाले लोग ऐसे हैं, जो धन-संपत्ति, मठ, मंदिर पर अत्यंत आसक्त हैं। उन्हें त्यागी कैसे माना जा सकता है? वस्तुतः गुरु बनने का अधिकारी वही है, जो त्यागी है। जो स्वयं त्यागी नहीं है, वह दूसरों को कल्याण का रास्ता कैसे दिखा पाएगा? जो स्वयं मोह-माया में फंसा है, वह दूसरों को उससे बाहर कैसे निकाल सकेगा? पर हमारे कुछ भोले भाई कहते हैं कि साधु कैसा भी क्यों न हो, हमारे से तो अच्छा ही है। आचार्य भिक्षु ने इस बात का तीव्र प्रतिवाद किया। इस संदर्भ में उन्होंने एक दृष्टांत दिया है—

वे गृहस्थ उन साधुओं से अच्छे हैं!

एक व्यक्ति सुबह-सुबह तांबे का एक पैसा लेकर दुकानदार के पास गया। दुकानदार ने पैसा हाथ में लेकर उसे माथे के लगाया और बोला—'आज तो अच्छी बोहणी हुई! लाभ का द्वार खुल गया!' दूसरे दिन सुबह वही व्यक्ति चांदी का एक रुपया लेकर उसी दुकानदार के पास सौदा खरीदने के लिए पहुंचा। दुकानदार आज और भी अधिक प्रसन्न हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोला–'आज तो बहुत ही अच्छी बोहणी हुई! खूब लाभ मिलेगा! सुबह-सुबह रूपा के दर्शन हुए हैं!' तीसरे दिन सुबह वही व्यक्ति दुकानदार के पास फिर पहुंचा। आज भी उसने दुकानदार को एक रुपया दिया। पर यह क्या! खुश होने के स्थान पर आज दुकानदार एकदम नाराज-सा हो गया। रुपया दूर फेंकता हुआ बोला–'आज का दिन तो व्यर्थ हो गया। सुबह-सुबह नकली रुपया आया है।' ग्राहक रहस्य समझ नहीं पाया। उसने पूछा–'भाई! परसों मैं तांबे का पैसा लाया। उसे शुभ मान तुम खुश हुए। कल मैं चांदी का रुपया लेकर आया। तब तुम और अधिक खुश थे। फिर आज तो तुम्हें कल से भी ज्यादा खुश होना चहिए। इसमें तो तांबा और चांदी दोनों हैं।' दुकानदार को ग्राहक की इस नासमझी पर बड़ी झुंझलाहट हुई। उसी भावधारा में वह बोला–'शुद्ध तांबे का पैसा शुभ है। शुद्ध चांदी का रुपया भी शुभ है, पर ऊपर तो चांदी का झोल और अंदर तांबा–यह मिश्रण धोखा है,अशुभ है। इसलिए किसी काम का नहीं।'

दृष्टांत का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा–'तांबे के पैसे की तरह वे गृहस्थ/श्रावक हैं, जो आंशिक व्रत स्वीकार करके उन्हें अच्छे ढंग से निभाते हैं। चांदी के रुपए के समान साधु-साध्वियां हैं, जो महाव्रत शुद्ध रूप में पालते हैं। नकली सिक्के की तरह वे लोग हैं, जो ऊपर से तो साधु का वेश धारण करते हैं, साधु की पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और मन में संसार बसाए हुए हैं, मोह-माया के जाल में फंसे हुए हैं। ऐसे नामधारी/वेशधारी साधु-साध्वियां उन श्रावकों/गृहस्थों से अच्छे कदापि नहीं, जो अपने स्वीकृत व्रतों/नियमों का सम्यक पालन करते हैं।'

बंधुओ! आप भी यह तथ्य समझें। जो साधु-संन्यासी माया में फंसे हुए हैं, धन बटोरने में लगे हुए हैं, वे आपसे श्रेष्ठ नहीं हैं, बल्कि आप उनसे श्रेष्ठ हैं। कम-से-कम आप किसी के लिए धोखा तो नहीं बनते, किसी के साथ छलना तो नहीं करते। ऐसी स्थिति में वे तथाकथित साधु-संन्यासी आपके गुरु कैसे हो सकते हैं? उन्हें गुरु मानना भयंकर भूल है। जैसे नकली सिक्का रखनेवाला सरकार और कानून का गुनहगार है, वैसे ही कुगुरु को गुरु माननेवाला भगवान का गुनहगार है।

जरूरी है हंस-विवेक

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि कौन साधु त्यागी है और कौन नहीं, इसकी गहराई में हम क्यों जाएं। हम तो सबको समान ही मानते हैं। मैं उन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों से कहना चाहता हूं कि यह समानता की बात उचित नहीं है। आक, थूहर, भैंस और गाय—इन चारों का ही दूध हालांकि सफेद होता है, तथापि एक जैसा नहीं है। गुण-गुण में कितना अंतर है, यह मुझे बताने की जरूरत नहीं। यदि गाय और भैंस के दूध के स्थान पर कोई आक का दूध पी ले तो क्या परिणाम आएगा, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। बंधुओ! जब हाथ की पांचों अंगुलियां भी एक समान नहीं होतीं, तब सभी साधु-साध्वियां समान कैसे हो सकते हैं? इसलिए इस संदर्भ में विवेक जगाने की अपेक्षा है। आप सूत्र रूप में एक बात समझ लें कि साधु त्यागी होना चाहिए, फिर भले वह किसी वेश में क्यों न हो, किसी पंथ से संबद्ध क्यों न हो। जो त्यागी है; अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांचों महाव्रतों की अखंड आराधना करता है, वही गुरु बनने का अधिकारी है। वही आपको कल्याण का रास्ता दिखा सकता है। भोगी और मोह-माया में फंसे व्यक्ति से यह आशा कैसे की जा सकती है? बाप यदि शराबी है, दुर्व्यसनी है, दुराचारी है तो वह बेटे को सुसंस्कार कैसे दे सकेगा? अध्यापक यदि भ्रष्ट है तो छात्रों में सदाचार के संस्कार वपित कैसे कर सकेगा? यही बात अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु की है। गुरु यदि कंचन-कामिनी का त्यागी नहीं है तो वह लोगों को सत्पथ कैसे दिखा पाएगा? उससे वैसी आशा करना ही भूल है। इसलिए मैंने विवेक की बात कही। कहा जाता है कि हंस दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है। इसलिए हंस-विवेक बहुत प्रसिद्ध है। आपको भी यह विवेक जगाना चाहिए, जिससे कि आप अच्छाई और बुराई का भेद कर सकें, अच्छे और बुरे को अलग-अलग देख सकें।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो अच्छे-बुरे का भेद समझते तो हैं, पर व्यवहार में वह भेद नहीं करते। मैं इसे भी गलत मानता हूं। जो लोग भेद समझते ही नहीं, उनसे तो खैर यह अपेक्षा नहीं की जा सकती, पर जो इसे समझते हैं, उनसे तो यह अपेक्षा की ही जा सकती है।

जौहरी की विधवा ने अपने पुत्र से कहा—'बेटे! तुम्हारे पिताजी अच्छे जौहरी थे। हमारे रत्नों का व्यापार था। उनके समय का रत्नों की एक पोटली पड़ी है। इन दिनों अपने घर की आर्थिक व्यवस्था बहुत माली है। अतः तुम एक काम करो। पोटली लेकर अपने चाचाजी के पास जाओ और सारे रत्न बेचकर रकम कर लो। उसके ब्याज से हमारा काम चलता रहेगा।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लड़का पोटली लेकर अपने चाचा के पास पहुंचा और बोला–'मेरी मां ने यह पोटली आपके पास भेजी है। इसमें कीमती रत्न हैं। आप इन्हें बेचकर मुझे रुपए दे दें।' चाचा भी जौहरी था। वह अपने घर की और अपने बड़े भाई की स्थिति अच्छी तरह से जानता था। उसने भतीजे से वह पोटली खोलने के लिए कहा। भतीजे ने पोटली खोली। चाचा ने उस पोटली के रत्नों पर एक नजर डाली और बोला–'देखो, तुम अपनी मां से बता देना कि आजकल रत्नों का बाजार मंदा है, इसलिए अभी इन्हें बेचना ठीक नहीं है। जब बाजार तेज होगा, तब बेच देंगे।' ऐसा कहते हुए उसने पोटली वापस भिजवा दी और भतीजे को जवाहरात-विद्या का प्रशिक्षण देना शुरू कर दिया। दो वर्षों में वह अच्छा जौहरी बन गया। अब चाचा ने अवसर देखा। उसने भतीजे से कहा–'अभी रत्नों का बाजार तेज है। तुम जाओ और वह पोटली ले आओ।'

लड़का घर गया। उसने मां से पोटली मांगी। मां ने पोटली पुत्र को संभला दी। पुत्र चूंकि अब स्वयं परीक्षक था, इसलिए पोटली हाथ में आते ही उसके मन में रत्न देखने की गुदगुदाहट-सी पैदा होने लगी। वह स्वयं को रोक नहीं पाया। चाचा के पास ले जाने से पूर्व उसने वह पोटली खोली और खोलते ही सारे रत्न कूड़ादान में डाल दिए। मां सामने ही बैठी थी। उसने तेज आवाज में कहा–'अरे मूर्ख! यह क्या कर रहे हो! क्या पागल हो गए हो! क्या रत्न यों फेंके जाते हैं!' लड़का बोला–'मां! ये रत्न नहीं हैं, कांच के टुकड़े हैं।' मां ने कहा–'यह कैसे संभव है! लगता है, उस दिन तुम्हारे चाचाजी ने इन्हें बदल·····' लड़के ने मां को बीच में ही टोकते हुए कहा–'मां! तुम्हारे मुंह ऐसी बात शोभा नहीं देती। चाचाजी ने तो पोटली के हाथ तक भी नहीं लगाया था। पोटली तो मैंने ही खोली थी और वापस मैंने ही बांधी थी।'

थोड़ी देर पश्चात लड़का चाचा के पास पहुंचा। भतीजे को खाली हाथ आया देखकर उसने पूछा–'क्या पोटली नहीं लाए? रत्न बेचने नहीं हैं क्या?' छूटते ही भतीजा बोला–'चाचाजी ! कौन-से रत्न! वे रत्न तो घर के कूड़ादान की शोभा बढ़ा रहे हैं। वे रत्न नहीं, कांच के टुकड़े हैं।' चाचा ने कहा–'तब तो तुम कुशल जौहरी बन गए हो।' भतीजे ने जरा हैरानी के स्वर में पूछा–'चाचाजी! ये कांच के टुकड़े हैं, यह बात आपने उसी दिन क्यों नहीं बताई?' चाचा ने कहा–'बता तो देता, पर मेरी बात पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वास कौन करता? सबको भ्रम होता कि चाचा ने भतीजे को ठग लिया है। रत्न तो चालाकी से अपने पास रख लिए हैं और उनके स्थान पर कांच के टुकड़े रख दिए हैं। लेकिन अब चूंकि तुम स्वयं परीक्षक बन चुके हो, इसलिए मुझे कुछ भी कहने की अपेक्षा नहीं रही। सारी स्थिति स्वतः स्पष्ट हो गई।'

यह एक कहानी है, पर इसमें एक बहुत बड़ा मर्म छिपा है। असली और नकली का विवेक हो जाने के पश्चात भी नकली को पकड़े रहना दुराग्रह है, मूर्खता है। समझदारी इसी में है कि विवेक होने के साथ ही व्यक्ति नकली चीज छोड़ दे और असली ग्रहण कर ले, गलत तत्त्व छिटका दे और सही तत्त्व अपना ले।

असली और नकली, अच्छे और बुरे का यह विवेक ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान-प्राप्ति के लिए सजग रहना चाहिए। ज्ञान के पश्चात दर्शन का स्थान है और उसके बाद चरित्र का। इन तीनों की सम्यक आराधना करनेवाला मोक्ष को प्राप्त होता है। हम सबका अंतिम लक्ष्य मोक्ष ही है। इसलिए हम कदम-कदम इस दिशा में आगे बढ़ते रहें। ध्यान रहे, सही दिशा में बढ़नेवाले चरण देर-सवेर अपने लक्ष्य पर असंदिग्ध रूप में पहुंचते हैं।

पद्मपुर
२५ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९ : जाग्रति : क्यों : कैसे

जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने *सूत्रकृतांग* सूत्र में संसार को उद्‌बोध देते हुए कहा है–

संबुज्झह किण्ण बुज्झहा, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं॥

– प्राणियो! जागो। तुम क्यों नहीं जाग रहे हो? जागना अच्छा नहीं मानते या और कोई दूसरा कारण है? तुम याद रखो, जो वर्तमान में नहीं जागता, उसे अगले जन्म में भी यह आध्यात्मिक जाग्रति दुर्लभ हो जाती है। बीती हुई रातें लौटकर नहीं आतीं। जीवन-सूत्र के टूट जाने के पश्चात उसे पुनः सांधना संभव नहीं है।

भगवान महावीर का पुनर्जन्म के सिद्धांत में संपूर्ण विश्वास था, इसलिए उन्होंने कहा कि यहां नहीं जागे तो आगे भी बोधि प्राप्त नहीं हो सकेगी। कई व्यक्ति पुनर्जन्म का सिद्धांत नहीं मानते, अतः वे आगे की चिंता नहीं करते, लेकिन जिनकी इसमें आस्था है, वे अनागत के प्रति उदासीन नहीं रह सकते।

जीवन : लक्ष्य और गति

यह एक चिंतनीय प्रश्न है कि हम जो जीवन जी रहे हैं, उसका लक्ष्य क्या है; हम क्या चाहते हैं। निर्लक्ष्य तो एक मंद प्राणी भी नहीं चलता। इसलिए यदि हमारा लक्ष्य सुख-प्राप्ति और दुःख-मुक्ति है तो उसे पाने के लिए प्रयास होता है या नहीं, यह भी चिंतनीय है। लक्ष्य के निर्धारण और उसकी प्राप्ति के प्रयास के बिना कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता।

आज मनुष्य दुखी है, अशांत है। ऐसा क्यों? मेरी दृष्टि में इसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो मनुष्य का लक्ष्य सही नहीं है, स्थिर नहीं है या फिर उसकी सही और स्थिर लक्ष्य की दिशा में गति नहीं है। दोनों में से एक कारण अवश्य होना चाहिए, अन्यथा दुःख और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशांति—ये दोनों हो नहीं सकते।

विवेक-जागरण : क्यों : कैसे

आप कहेंगे, लक्ष्य तो सही और स्थिर ही है। मनुष्य सदा से ही सुख और शांति का लक्ष्य बनाकर जीता है। ठीक है, लक्ष्य सही और स्थिर है। अब उसे वहां तक पहुंचने के लिए गति करनी होगी। गति का यहां अर्थ है—जागना, पर इस जागने का अर्थ आंखों का खुलना नहीं है। जागने का अर्थ है—विवेक-जागरण। विवेक वह तत्त्व है, जो अच्छाई और बुराई में भेदरेखा खींचता है। जिस व्यक्ति में अच्छाई और बुराई का विवेक नहीं जागेगा, वह कैसे तो अच्छाई स्वीकार करेगा और कैसे बुराई छोड़ेगा? इसी लिए जैन-तीर्थंकरों ने विवेक-जागरण पर बहुत बल दिया है।

सजगता अपेक्षित है

आप पूछेंगे कि यह विवेक-जागरण कैसे होता है। यह होता है गुरु के सान्निध्य में, गुरु की उपासना से। पर इस संदर्भ में एक बात अवश्य समझने-जैसी है। यह प्राप्त उसे ही होता है, जो क्षण-क्षण सजग रहता है। गुरु-सान्निध्य में भी जो प्रमाद में रहता है, उसे रत्न प्राप्त नहीं हो सकता। मैं देखता हूं, हजारों व्यक्ति धर्मस्थानों में आते हैं, उपदेश सुनते हैं, पर जाग्रति सब नहीं पाते। क्यों? यह इसलिए कि थोड़ी-सी असावधानी से जाग्रति के बाधक तत्त्व व्यक्ति पर हावी हो जाते हैं।

प्रसंग सूफी संत हाफिज का

सूफी संत हाफिज अपने गुरु के सान्निध्य में आश्रम में साधना करता था। और भी अनेक शिष्य साधनालीन थे। एक दिन गुरु ने आदेश दिया—'शिष्यो! सब ध्यानमग्न हो जाओ और तब तक इस स्थिति में रहो, जब तक मैं आवाज न दूं।'

गुरु का आदेश पाकर सब शिष्य ध्यानमग्न हो गए। अर्ध रात्रि के बाद गुरु ने आवाज दी—'हाफिज! इधर आओ।' हाफिज तत्काल गुरु के पास पहुंचा। गुरु ने उसे ध्यान की विशेष विधि बताई। वहां से लौटकर हाफिज पुनः ध्यानलीन हो गया।

आधा घंटा बाद गुरु ने दूसरे शिष्य को नाम लेकर पुकारा, लेकिन इस बार भी हाफिज ने ही सान्निध्य साधा। सुबह तक गुरु ने दस-बारह बार दूसरे-दूसरे शिष्यों को बुलाया, लेकिन दूसरा कोई शिष्य नहीं आया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हर बार हाफिज ही वहां पहुंचा और उसने जीवन के अनावृत रहस्यों के बारे में जानकारी प्राप्त की, पर एक हाफिज ही गुरु के पास आया, इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे-दूसरे शिष्य उच्छृंखल थे अथवा वे ज्ञान प्राप्त करना नहीं चाहते थे या वे आदेश के प्रति सजग नहीं थे। मूलतः वे सब गहरी नींद में चले गए थे, इसलिए गुरु के आह्वान पर वे उनके पास नहीं पहुंच सके। जो शिष्य रात-भर जगा, उसने गुरु की सारी संपत्ति प्राप्त कर ली। बंधुओ! यही बात आप लोगों की भी है। आप लोग भी गुरु-सान्निध्य से लाभ तभी प्राप्त कर सकेंगे, जब सजग रहेंगे। जो लोग प्रमादी बनकर रहेंगे, उन्हें तत्त्व नहीं मिल सकेगा।

वर्तमान का मूल्य

बंधुओ! इस उदाहरण से आप समझें कि तत्त्व की प्राप्ति के लिए सजगता कितनी अपेक्षित है। सहज-से-सहज तत्त्व भी सजगता के अभाव में व्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाता। मैं देखता हूं, बहुत-से व्यक्ति अपना परलोक सुखी बनाने के लिए अत्यंत चिंतित हैं, पर अपने वर्तमान के प्रति सजग नहीं हैं। मैं नहीं समझता कि ऐसी स्थिति में उनका परलोक सुखमय कैसे बनेगा। भविष्य तो वर्तमान पर ही आधारित है। यदि वर्तमान शुद्ध नहीं है, स्वस्थ नहीं है तो भविष्य के शुद्ध और स्वस्थ होने का प्रश्न ही नहीं है। यदि वर्तमान शुद्ध और स्वस्थ है तो भविष्य को सुखमय बनाने की चिंता करना बेमानी है। वह तो स्वयं सुखमय बन जाएगा। इसलिए अपना भविष्य सुखमय बनाने के इच्छुक हर व्यक्ति को चाहिए कि वह उसे शुद्ध और स्वस्थ वर्तमान का आधार प्रदान करे। इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं है, रास्ता नहीं है।

संसार में ऐसे व्यक्तियों की कोई कमी नहीं है, जो इस तथ्य से परिचित होकर भी अपने वर्तमान जीवन के प्रति सजग नहीं हैं, उसका सही-सही उपयोग नहीं करते हैं। यह इसलिए कि उनका चिंतन सही नहीं है। वे इस भाषा में सोचते हैं कि अभी क्या करना है, जीवन बहुत लंबा है। अंतिम अवस्था में ऐसी साधना करेंगे, जिससे हमारा भविष्य सुधर जाएगा, पर उनका यह सोचना सोचने तक ही रह जाता है, क्रियान्वित नहीं हो पाता। कुछ को तो वह अंतिम अवस्था आती ही नहीं, जिसकी वे कल्पना करते हैं। कुछ लोगों को वह अवस्था तो प्राप्त होती है, पर उस समय उनकी शारीरिक स्थिति ऐसी बन जाती है कि वे चाहकर भी कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर नहीं पाते। इसलिए अपना भविष्य संवारने की भावना रखनेवाले व्यक्ति को अपना वर्तमान संवारने के प्रति सजग हो जाना चाहिए। जो क्षण उसके हाथ में है, उसका उसे अच्छा-से-अच्छा उपयोग करना चाहिए। अवसर चूक जाने के पश्चात तो व्यक्ति के लिए अनुताप शेष बचता है। कितनी सार्थक है यह उक्ति—**अवसर का चूका गोता खाए।**

हाथी का बच्चा क्या करता है

बादशाह अकबर का दरबार लगा था। मुसद्दी, सुल्तान, वजीर आदि सब यथास्थान बैठे थे। उसी समय एक गांधी (इत्र बेचनेवाला) वहां आया। बादशाह को इत्र का बहुत शौक था। उसने इत्र देखना प्रारंभ किया। सहसा इत्र की एक शीशी हाथ से छूटकर नीचे गिर गई और फूट गई। सारा कीमती इत्र जमीन पर बिखर गया। अकबर चौंका। झट नीचे गिरा इत्र उसने अपने वस्त्रों और मूंछ पर लगाना शुरू कर दिया। तभी सहसा उसकी दृष्टि बीरबल पर पड़ी। वह बादशाह का यह व्यवहार देखकर मुलक रहा था।

बादशाह समझ गया कि बीरबल मुझे कृपण मानकर हंस रहा है, पर बोलता भी क्या? मन-ही-मन निर्णय किया कि जैसे-तैसे यह कलंक धोना है। बस, दूसरे ही दिन बादशाह ने देश-भर के गांधियों को उत्तम-से-उत्तम इत्र लेकर उपस्थित होने का आदेश दे दिया। आदेश की देर थी। चारों तरफ से इत्र पहुंचने लगा। कुछ ही समय में बहुत-सा इत्र इकट्ठा हो गया। तब बादशाह ने एक हौज बनवाया और उसे इत्र से भरा दिया। दूसरे दिन उसने एक हाथी के बच्चे को उस हौज में छुड़ा दिया और स्वयं सामने चबुतरे पर बैठ गया। हाथी का बच्चा अपनी सूंड में इत्र भर-भरकर चारों ओर बिखेरने लगा।

थोड़ी देर बाद सभासदों के साथ बीरबल उधर आया। उसे देखते ही बादशाह बोला—'बीरबल! वह हाथी का बच्चा क्या कर रहा है?' बीरबल भी तो चूकनेवाला नहीं था। छूटते ही बोला—'जहांपनाह! अवसर का चूका गोता खा रहा है!' बीरबल का यह उत्तर सुनकर बादशाह सन्न रह गया। बीरबल यह अच्छी तरह से समझ रहा था कि उस दिन बादशाह ने कंजूसी का जो धब्बा लगा लिया था, उसे धोने के लिए यह सारा प्रपंच किया है। अतः उसने स्पष्ट जता दिया कि उस दिन आप नीचे गिरा हुआ इत्र नहीं लगाते तो यह लाखों रुपयों का धुआं क्यों उड़ता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधुओ! यह बात सुनाने का मकसद यह है कि आप भी स्वयं को संभालें और समय रहते-रहते सजग हो जाएं। सजगता का अर्थ यह नहीं है कि आप सबको हमारी तरह संन्यासी बनना होगा, अपने बाल-बच्चों को छोड़ना होगा। आप सब लोगों के लिए यह न तो संभव है और न व्यवहार्य ही। हालांकि संन्यासी होना बहुत ऊंची बात है, तथापि जो संभव और व्यवहार्य न हो, वह बात कहने से कोई फायदा नहीं। इसलिए मैं आपसे वही बात कहना चाहता हूं, जो संभव और व्यवहार्य है। आप पूछेंगे कि वह बात क्या है। वह बात बहुत सीधी-सी है। आप जिस वर्ग और पेशे में जी रहे हैं, उसमें अच्छी जिंदगी जीने का प्रयास करें। ईमानदारी, प्रामाणिकता और नैतिकता की टेक निभानेवाला आदमी अच्छा आदमी, अच्छा नागरिक कहलाता है। अच्छा नागरिक देश को उन्नति के पथ पर ले जा सकता है। हालांकि अच्छे मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान है। इसी लिए तो भर्तृहरि ने अपने *नीतिशतक* नामक ग्रंथ में लिखा है–

प्रिया न्याय्यावृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकर-
मसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधारा-व्रतमिदम्॥

– जो व्यक्ति सन्नागरिक बनकर रहना चाहता है, वह न्यायप्रिय होता है। वह प्राण जाने पर भी पापकारी काम नहीं करता, असज्जन की अभ्यर्थना नहीं करता। नाजुक हालत में भी मित्रों से याचना नहीं करता। विपत्ति में भी उसके अध्यवसाय ऊंचे रहते हैं। वह महान व्यक्तियों का अनुकरण करता है। असिधार के समान यह विषम व्रत सज्जनों के लिए किसने बताया है?

पर मैं मानता हूं कि अच्छी चीज कठिनाई से मिलती है। इसलिए कठिनाई से घबराना नहीं चाहिए। हर स्थिति में अच्छी चीज तो प्राप्त करनी ही चाहिए। सन्नागरिक बनने में भी कठिनाई आती है तो उसका दृढ़ता से मुकाबला करके आगे बढ़ना चाहिए।

आज राष्ट्र की जो दुर्दशा हो रही है, उसका प्रमुख कारण सन्नागरिकता का अभाव ही है। आप अपनी चिंता करते हैं, पर पास-पड़ोस के बारे में आंखें मूंद लेते हैं। घर की सफाई करते हैं और कूड़ा पड़ोसी के घर के बाहर डाल देते हैं। अब आप ही बताएं कि पड़ोसी के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घर के बाहर गंदगी है तो आप स्वस्थ कैसे रह सकेंगे।

अणुव्रत व्यक्ति-व्यक्ति को सन्नागरिक बनाता है। अणुव्रत कहता है, आप इन्सानियत का पाठ पढ़ें, अच्छाई का संगठन करें, अहिंसा की शक्ति केंद्रित करें, प्रामाणिकता का परिचय दें, प्रतिकूल स्थितियों में दृढ़ रहें और अपना विवेक जाग्रत रखें। मेरी दृष्टि में ये जीवन-विकास के सूत्र हैं। आप इन्हें स्वीकार करके चलें। निश्चय ही सुख और शांति प्राप्त करने के लक्ष्य तक पहुंचने में आप सफल होंगे।

गजसिंहपुर
२७ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४० : धर्म का तूफान

आज हम पहली बार रायसिंहनगर आए हैं। रायसिंहनगर राजनीतिक क्षेत्र कहलाता है। ऐसा कहा जाता है कि राजस्थान की राजनीति का प्रारंभ यहीं से हुआ था। वैसे राजनीति समाज की एक प्रमुख और आवश्यक नीति है, लेकिन आज उसका जो स्वरूप सामने है, वह निस्संदेह अच्छा नहीं है, स्वस्थ नहीं है। इसका एक कारण यह है कि राजनीति को योग्य पथदर्शक कम मिले हैं, पर मुख्य कारण यह है कि इस पर से धर्मनीति का अंकुश समाप्त हो गया है। यह निरंकुशता सचमुच इसके लिए अत्यंत घातक सिद्ध हुई है।

भारतीय संस्कृति में धर्मनीति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहा है। समाज की सभी नीतियों पर धर्मनीति का अंकुश रहा है। प्राचीनकाल में बड़े-बड़े राजा-महाराजा, धनकुबेर और समाज के अधिकारी धर्मगुरुओं के अंकुश में रहते थे। धर्मगुरु राजनीति आदि नीतियों में फंसते नहीं थे, पर उनके नियंता थे। यह बहुत ही स्वस्थ परंपरा थी। यह परंपरा जब तक बनी रही, भारतीय राजनीति का स्तर कभी गिरा नहीं, पर जैसे ही यह अंकुश समाप्त हुआ, उसका स्तर गिरना शुरू हो गया, औचित्य की सीमाओं का अतिक्रमण होने लग गया, मूल्य और मानक मात्र कहने के लिए रह गए।

यह एक स्थिति है। इस स्थिति पर सभी लोगों को गंभीरता से चिंतन करना चाहिए। यदि भारतीय राजनीति को पुनः स्वस्थ बनाना है, उसके आदर्श मूल्य और मानक पुनः प्रतिष्ठित करने हैं तो धर्म का अनुशासन पुनः स्वीकार करना होगा।

सच्चे धार्मिक की पहचान

पर अहम प्रश्न तो हमारे सामने यह है कि धर्म अपने सही स्वरूप में है या नहीं, वह समाज की दूसरी-दूसरी नीतियों पर अंकुश रखने की स्थिति में है या नहीं। लोग कहते हैं कि आज मिलावट का युग है। असली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चीज में नकली चीजों की मिलावट होती है। यदि असली धर्म में भी नकली धर्म की मिलावट हो गई है तो उसका स्वरूप शुद्ध कैसे होगा? वह आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कैसे कर सकेगा? अन्यान्य नीतियों पर अपना अंकुश रखने में सक्षम कैसे हो सकेगा? इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि इस दृष्टि से सूक्ष्मता से जांच-पड़ताल की जाए। आप पूछ सकते हैं कि जांच-पड़ताल कैसे की जाए। इसकी जांच-पड़ताल का तरीका यही है कि हम धार्मिक लोगों का जीवन देखें। हम गहराई से ध्यान दें कि वे लोग धर्म की बातें ही करते हैं या सही अर्थ में धार्मिक हैं भी। मेरी दृष्टि में सच्चा धार्मिक वह है, जिसका जीवन पवित्र है, जो अपने मन में सहज शांति और तोष का अनुभव करता है। धार्मिक कहलाता हुआ भी जो गलत आचरण करता है, अशांति और असंतोष का वेदन करता है, वह सही अर्थ में धार्मिक नहीं है। दूसरे शब्दों में धर्म उसके जीवन में संस्कारगत नहीं हुआ है।

अशांति के दो कारण

मैं सोचता हूं, यदि धार्मिक व्यक्ति अशांत रहता है तो उसके पीछे दो संभावित कारण हैं। पहला कारण यह है कि उसने धर्म का सही स्वरूप समझा नहीं है। धर्म का मार्ग छोड़कर उसने कोई दूसरा ही मार्ग पकड़ लिया है। दूसरा कारण यह है कि धर्म के द्वारा जो मिलता है, वह उसे काम्य नहीं है और जो उसे काम्य है, वह पूर्व संचित प्रबल पाप के उदय से उसे मिलता नहीं है। फलतः वह अशांत हो जाता है।

धर्म का फलित—आत्मतोष

लोग चाहते हैं कि धर्म से धन मिले, परिवार मिले, सुख-सामग्री मिले, अदालत में झूठा मुकदमें जीतें, हत्या करके भी बरी हो जाएं……पर इन चीजों से धर्म का कोई संबंध नहीं है। भौतिक आनंद धर्म का सीधा देय नहीं है। धर्म का फलित है—आत्मतोष। धार्मिक व्यक्ति संतुष्ट रहता है। उसे कोई भौतिक आकर्षण लुभा नहीं सकता।

इसलिए आप यह बात हृदयंगम करें कि धन, इज्जत, जमीन, जायदाद आदि की संपन्नता धार्मिक व्यक्ति की पहचान नहीं है। धार्मिक की पहचान है—आत्मतोष। मेरा दृढ़ विश्वास है कि संसार को कोई भी व्यक्ति अपनी सुख-समृद्धि के आधार पर मेरे आत्मतोष और आनंद की तुलना में नहीं आ सकता। यह बात मात्र मेरी नहीं है, अपितु किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिक व्यक्ति के बारे में ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए सब-कुछ मिलने पर भी जो व्यक्ति असंतुष्ट रहता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता।

धर्म जीवन-व्यवहार का तत्त्व है

धर्म का संबंध अंतरात्मा से है। अतः धर्म है तो वह जीवन-व्यवहार में आए। वह धन की तरह छिपाकर रखने की चीज नहीं है, पर आज स्थिति ऐसी नहीं है। मैंने व्यापारी, कर्मचारी, विद्यार्थी, महिला, पुरुष आदि सभी वर्गों को निकट से देखा है। मुझे लगता कि हर वर्ग के लोगों का व्यवहार धर्म से प्रतिकूल हो रहा है।

यह मेरे किस काम का!

हिसार की बात है। मेवाड़ का एक भाई मेरे सामने था। वह अपने पुत्र को दीक्षा देने की प्रार्थना कर रहा था। मैंने उससे पूछा–'यह तुम्हारा पुत्र नहीं है क्या? इसे दीक्षा क्यों दे रहे हो?' वह भाई अपनी भाषा में बोला–'ओ म्हारै कई काम रो नहीं रह्यो।' मतलब कि उस लड़के ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं जीवन में कभी झूठ नहीं बोलूंगा। जो इस प्रतिज्ञा को लेकर दुकान पर बैठता है, वह व्यापार नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि आज के व्यापारी की सोच यह बन गई है कि झूठ बोलने की कला नहीं तो सब कलाएं धूलि के समान हैं। इस स्थिति में सत्य के प्रति आस्था कैसे टिक सकती है? यही स्थिति समाज के दूसरे-दूसरे वर्गों की है। सभी वर्ग कुछ कमो-बेश बुराइयों में फंसे हैं। मैं मानता हूं, बुराई करने से भी ज्यादा चिंताजनक स्थिति यह है कि लोगों की आस्था यह हो रही है कि गलत काम किए बिना हमारा काम नहीं चल सकता।

कार्य और कारण

यह इस बात का निदर्शन है कि धार्मिक जगत की स्थिति अच्छी नहीं है। धर्म अपने मूल स्वरूप में नहीं है। उसमें विकृतियां आ गई हैं। आज समाज में जितना दुःख है, अशांति है, वह सब इसका ही परिणाम है। मैं देखता हूं, लोग दुःख नहीं चाहते, पर उसका कारण नहीं मिटाते। मैं नहीं समझता कि कारण को मिटाए बिना कार्य/परिणाम को कैसे मिटाया जा सकता है।

कल ही एक सरदार अध्यापक ने कहा–'आपने जो प्रवचन दिया, वह तो सार्वजनिक है। मैं आपसे कुछ व्यक्तिगत पूछना चाहता हूं। मैंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज तक बहुत संकल्प किए, लेकिन वे सब टूट गए। गुरुद्वारा में जाकर संकल्प किए, पर मन विचलित हो गया। संकल्प लेकर तोड़ना महापाप है, इसलिए मैं सोचता हूं कि संकल्प लेना ही नहीं चाहिए, पर आप संकल्प लेने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए?'

उसे समाहित करते हुए मैंने कहा–'आपने संकल्प आत्मसाक्षी से किए हैं और गुरुद्वारा में भी किए हैं, पर गुरु द्वारा यानी गुरु की साक्षी से नहीं किए हैं। हालांकि आत्म-साक्षी बुरी बात नहीं है, पर सबकी आत्मा मजबूत नहीं होती। अतः एक शक्ति सामने रहे तो बल मिलता रहता है। दूसरी बात यह है कि आप संकल्प करते हैं, कार्य/परिणाम समाप्त करना चाहते हैं, पर कारणों का संसर्ग नहीं छोड़ते। उदाहरणार्थ, आपका संकल्प है कि मैं शराब नहीं पीऊंगा। इसे निभाने के लिए आपको शराबियों का संसर्ग छोड़ना पड़ेगा, उनकी गोष्ठी में सम्मिलित होने से परहेज करना होगा, अन्यथा शराब न पीने का संकल्प निभना कठिन हो जाएगा।'

बंधुओ! यह कार्य और कारण की बात आपको गंभीरता से समझनी चाहिए। भगवान महावीर ने अपने शिष्यों से कहा–'संतो! ब्रह्मचारी रहना है, अब्रह्मचर्य से बचना है तो अब्रह्मचर्य के सब कारण मिटाओ। एकांत में रहो। अश्लील शब्द मत बोलो, मत सुनो। स्मृति-संयम करो। खाद्य-संयम करो। भीतरी वासना उत्तेजित मत करो।.....ऐसा करके ही तुम अब्रह्मचर्य से बच सकोगे'। विदेशी विद्वानों ने भगवान महावीर और बुद्ध का अंतर बताते हुए कहा–'बुद्ध और महावीर समकालीन थे। दोनों श्रमण संस्कृति के नेता थे। पर दोनों में एक अंतर था–महावीर वैद्य थे और बुद्ध डॉक्टर। बुद्ध रोग मिटाते थे, जबकि महावीर रोग का मूल मिटाते थे।' इस बात में सचमुच तथ्य है। महावीर समस्या के मूल पर प्रहार करके उसे मिटाने में विश्वास करते थे। मैं तो मानता हूं कि समस्या का मूल खोजना, कारण देखना और फिर उसे मिटाने का प्रयास करना महानता की पहचान है, सफलता का सूत्र है। कहा गया है–

पत्थरेणाहतो कीबो, खिप्पं डसइ पत्थरं।
मिगारी उ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं व मग्गति।।

– कुत्ता कार्य देखता है और शेर कारण। श्वान के सामने कोई पत्थर आकर गिरे तो वह पत्थर को ही चाटने लग जाता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किंतु शेर के सामने तीर आता है तो वह देखता है कि तीर कहां से आया है।

अस्तु, मानव यदि दुखी और अशांत बनना नहीं चाहता तो वह दुःख का कारण मिटाए। दुःख का कारण है—जीवन में बुराइयों की व्याप्ति। धर्म और क्या है? जीवन-परिष्कार की प्रक्रिया का नाम ही तो धर्म है। धर्म का यह रूप ही उसका वास्तविक रूप है। इस रूप में ही वह समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उससे इस अपेक्षा की पूर्ति होती रहे तो वह सभी नीतियों को अनुशासित करने में पुनः सक्षम हो सकता है।

अणुव्रत उसी धर्म का निखरा हुआ रूप है, नया संस्करण है। आज के युग के अनुरूप इसे वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि सामान्य आदमी ही नहीं, शिक्षित और प्रबुद्ध लोग भी इसके प्रति आकर्षित हो रहे हैं, इसकी उपयोगिता और उपादेयता स्वीकार कर रहे हैं। मैं चाहता हूं, धर्म का यह परिष्कृत रूप आपके जीवन का अविच्छिन्न अंग बने। निश्चय ही आप अपने जीवन में सुख और शांति का अनुभव कर सकेंगे।

धर्म का तूफान

अभी-अभी जैन साहब ने कहा कि यह तूफानों का प्रदेश है। हमने भी सुना था कि वहां तूफान बहुत आते हैं, पर तूफान और ज्वार निकम्मे ही नहीं होते, उपयोगी भी होते हैं, बशर्ते कि उनके साथ जो अच्छी चीजें आती हैं, उन्हें पकड़कर रखा जाए। आपके रायसिंहनगर में आज फिर से धर्म के नाम पर एक तूफान आया है। आप लोग इस तूफान की अच्छाइयां स्वीकार कर लें तो आपकी भूमि तवारीख में लिखने योग्य हो जाएगी।

रायसिंहनगर

२८ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१ : अनेकांत और वीतरागता

सर्वश्रेष्ठ दर्शन

संसार में वेदांत, बौद्ध, जैन, जैमिनी आदि अनेक दर्शन हैं। मनुष्य-जीवन को दिशा-दर्शन देने में दर्शन की बहुत बड़ी उपयोगिता है। आप पूछ सकते हैं कि कौन-सा दर्शन अनुकरणीय है। मैं किसे अनुकरणीय बताऊं और किसे अननुकरणीय? मेरी दृष्टि में अनुकरणीय वही है, जो सबको संतोष दे सके। संतोष वही दे सकता है, जो सब बातों का समन्वय और सामंजस्य कर सके, सभी प्रकार के विचारों को स्थान दे। इस अपेक्षा से संसार के समस्त दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एकांत दर्शन और अनेकांत दर्शन। एकांत का सीधा-सा अर्थ है—आग्रह। कोई विचार पकड़ लेने के पश्चात उसे छोड़ने की बात ही समाप्त हो जाती है, वह आग्रह है। जहां आग्रह है, वहां विग्रह है। अनेकांत समन्वय और सामंजस्य का मार्ग है। इसके द्वारा परस्पर बिलकुल विरोधी विचारों में भी बहुत अच्छा सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। इसलिए अनेकांत में कोई विग्रह नहीं है। 'मैं कहता हूं, वह बात ठीक है और दूसरा कहता है, वह भी ठीक हो सकती है'—इस प्रकार की चिंतन-शैली से विरोधी विचारों में भी समझौता हो सकता है। आचार्य हेमचंद्र ने *अयोगव्यवच्छेदिका* में कहा है—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं, न चाप्यनेकांतमृते नयस्थितिः।।

– मैं एक बात सबकी साक्षी से कहता हूं। विरोधी-अविरोधी सब मेरी बात सुनें। इस संसार में वीतराग से बढ़कर कोई इष्ट नहीं है और अनेकांत से बढ़कर कोई सिद्धांत नहीं है, दर्शन नहीं है।

अनंत सत्य की प्राप्ति का दर्शन

सचमुच अनेकांत का महान दर्शन देकर जैन-तीर्थंकरों ने संसार का बहुत बड़ा उपकार किया है। इसकी तुलना समुद्र के साथ की जा सकती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जिस प्रकार छोटी-बड़ी नदियां समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, उसी प्रकार सभी प्रकार के विचार, विभिन्न दर्शन इस एक दर्शन में समाहित हो जाते हैं। इससे आगे चलूं तो अनेकांत सत्य की यात्रा है। अनेकांत को स्वीकार किए बिना व्यक्ति सत्य को प्राप्त नहीं हो सकता। आप जानते हैं, एक वस्तु को देखने के अनेक पहलू होते हैं। जब तक व्यक्ति उसे एक दृष्टिकोण से ही देखेगा, तब तक वह उस वस्तु का एकपक्षीय ज्ञान ही प्राप्त कर सकेगा। सर्वांगीण ज्ञान तभी होगा, जब वह उसे सभी दृष्टियों से देखेगा। किसी वस्तु को सर्वांगीण दृष्टि से देखना ही वस्तुसत्य से परिचित होना है। यह मार्ग अनेकांत से प्रशस्त होता है। सौभाग्य से हमें विरासत के रूप में यह सिद्धांत प्राप्त हुआ है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस महान सिद्धांत का पूरा-पूरा मूल्य आंकें। इसका पूरा-पूरा मूल्य आंकने का तात्पर्य है—अनंत सत्य की प्राप्ति और अनंत सत्य की प्राप्ति अर्थ है—भगवान की प्राप्ति। *आगमों* में कहा गया है—**सच्चं भयवं**। यानी सत्य ही भगवान है।

वीतराग आदर्श हैं

यह तो हुई अनेकांत की बात। श्लोक की दूसरी बात भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वीतराग को सर्वश्रेष्ठ इष्ट/देव बताया गया है। वीतराग यानी राग-द्वेषविजेता। जिस व्यक्ति ने लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान आदि विभिन्न द्वंद्वों में सम रहना सीख लिया है, वह वीतराग है। सचमुच यह सांसारिक प्राणी की आदर्श स्थिति है। इस आदर्श तक पहुंचनेवाला ही सच्चा देव है। हम वीतराग को आदर्श मानकर चलें, क्योंकि आखिर हमें भी वहीं जाना है, उसी शिखर पर पहुंचना है, जिस पर वीतराग पहुंचे हैं। आज हम जिस स्थिति में हैं, वह संतोषजनक स्थिति नहीं है। एक क्षण में रोष और एक क्षण में तोष, प्रशंसा सुनकर फूल जाना और आलोचना सुनकर नाराज हो जाना—यह अधूरेपन का द्योतक है। निश्चय ही यह स्थिति उपादेय नहीं है।

आप पूछेंगे कि इस स्थिति से हमारा छुटकारा कब होगा। इसका उत्तर तो बहुत स्पष्ट है। जिस दिन वीतरागता का शिखर छू लेंगे, वीतराग बन जाएंगे, उस दिन इस स्थिति से आपका स्वतः छुटकारा हो जाएगा, पर इसका यह अर्थ नहीं कि इस शिखर तक पहुंचे बिना आप अपनी इस स्थिति में बिलकुल भी परिवर्तन नहीं कर सकते। मेरा मानना है कि पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतराग बनना दीर्घकालीन साधनासापेक्ष है, पर आंशिक वीतरागता तो हम और आप आज भी प्राप्त कर सकते हैं। बस, अपेक्षा है कि गति लक्ष्योन्मुख हो जाए। ज्यों-ज्यों चरण उस दिशा में आगे बढ़ते जाएंगे, त्यों-त्यों वीतरागता सधती जाएगी।

यह बहुत स्पष्ट है कि पूर्ण वीतरागता के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए व्यक्ति को एक लंबा मार्ग तय करना पड़ता है। इस शिखर तक पहुंचने के लिए एक ऊंची चढ़ाई चढ़नी होती है; और इस यात्रा में उसे अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं का सामना करना होता है। लेकिन जो महान होता है, वह उनकी परवाह नहीं करता। राजर्षि भर्तृहरि ने लिखा है—

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनं,
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

हमारी यह चाह नहीं है कि जीवन में केवल दुःख ही आएं, पर किसी कारण जो दुःख आ जाते हैं, उन्हें समभावपूर्वक सहना हमारा आत्म-धर्म है। ज्यों-ज्यों यह आत्म-धर्म पुष्ट होता चला जाएगा, हम अपने लक्ष्य के नजदीक पहुंचते जाएंगे।

धर्म का क्षेत्र

धर्म की चर्चा आ ही गई तो एक-दो बातें इस संदर्भ में कह देना चाहता हूं। मैं बहुत बार देखता हूं कि दो व्यक्ति अपने-अपने विचारों पर डटे रहते हैं और एक-दूसरे को असत्य साबित करने की कोशिश करते हैं। यह अच्छी बात नहीं है। **जैसे को तैसा** का सिद्धांत राजनीति में मान्य हो सकता है, पर धर्मनीति में इसका कोई महत्त्व नहीं है। धर्म-क्षेत्र में वितंडा करने से धर्म का नुकसान होता है। फिर धर्म का क्षेत्र तो मैत्री का क्षेत्र है। उसके लिए संघर्ष करना, कहां तक उचित और शोभनीय है, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। मैंने एक गीत में कहा है—

धर्म नाम से शोषण करते।
धर्म नाम से निज घर भरते।
धर्म नाम से लड़ते-भिड़ते।
ये सब धर्म कलंक विचारा॥
अमर रहेगा धर्म हमारा॥

वस्तुतः धर्म में कोई संघर्ष है ही नहीं। धर्म हर स्थिति में व्यक्ति को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेम/मैत्री की बात सिखाता है। धर्म के नाम पर लड़ाई करना उस पर कलंक लगाने के समान है।

धर्म आकाश की तरह व्यापक है

कुछ लोग अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण धर्म को भी संकीर्ण बना देते हैं, पर धर्म आकाश की तरह व्यापक तत्त्व है। उसमें जाति, वर्ण, वर्ग आदि का कोई भेद नहीं है। सभी को उससे समान रूप से लाभान्वित होने का अधिकार है। कोई संकीर्ण वृत्तिवाला व्यक्ति चूने-पत्थर के मंदिर में किसी को घुसने से रोक सकता है, पर मन-मंदिर में उपासना करने से कोई किसी को नहीं रोक सकता।

नारी और धर्माराधना

कई लोग मानते हैं कि औरत को धर्म करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह तो लुगाई है। लुगाई *लुकाई* यानी छिपाकर रखने की चीज है। इसलिए औरत को विकास का अवसर भी नहीं मिलता। एक भाई ने मुझसे कहा–'आचार्यजी! धर्म तो ठीक ही है, पर औरत को साध्वी बनने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए।'

मैं पूछना चाहता हूं कि जब एक स्त्री राष्ट्र की प्रधानमंत्री बन सकती है, तब वह अध्यात्म के क्षेत्र में आगे क्यों नहीं आ सकती; एक लड़का विरक्त हो सकता है तो एक लड़की क्यों नहीं हो सकती। हां, प्रलोभन देकर, फुसलाकर दीक्षा देना पाप है। ऐसी दीक्षा को मैं भी कतई उचित नहीं मानता, पर जो लड़की या महिला अपनी विरक्ति से साधना का पथ स्वीकार करती है, उसे सहयोग देना हमारा धर्म है। वस्तुतः धर्म-क्षेत्र में स्त्री-पुरुष, निर्धन-धनवान, हरिजन-महाजन·····की कोई भेदरेखा नहीं है। उसका द्वार सबके लिए समान रूप से खुला है। कोई व्यक्ति, भले वह किसी जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय·····से संबद्ध क्यों न हो, उसे स्वीकार कर सकता है, और मैं तो यहां तक कहता हूं कि जो धर्म सार्वजनीन नहीं है, वह वास्तव में धर्म है ही नहीं। भगवान महावीर ने सार्वजनीन धर्म का मार्ग हमें दिखाया है। अणुव्रत उसी का प्रतिनिधित्व करता है। यही कारण है कि सभी जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय के लोग उसे समान रूप से अपना रहे हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि धर्म का सार्वजनीन रूप ही सुख और शांति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। आप भी उस सार्वजनीन धर्म को जीवन का अभिन्न अंग बनाएं। आपका भाग्य-सितारा चमक उठेगा।

रायसिंहनगर, २९ अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२ : अहिंसा और अनासक्ति

हिंसा कहां से जुड़ी है

आज का हमारा विवेच्य विषय है—अहिंसा। अहिंसा की जहां बात आती है, वहां हिंसा की बात अपने-आप आ जाती है। संसार के सभी धर्मों ने अपने-अपने ढंग से हिंसा-अहिंसा का चिंतन किया है। आज भी इस बारे में विचार चलता है। अनेक नए-नए विचार इस संदर्भ में सामने आ रहे हैं। आम लोगों की ऐसी अवधारणा है कि किसी प्राणी का मरना हिंसा है और उसका जीना अहिंसा है, लेकिन जैन-तत्त्व-चिंतन के अनुसार यह समझ एकांगी और अधूरी है। वस्तुतः हिंसा और अहिंसा का संबंध किसी प्राणी के मरने और जीने से नहीं है। उसका संबंध है स्वयं के उत्थान और पतन से। उसका संबंध है स्वयं के प्रमाद और अप्रमाद से, स्वयं की सत और असत वृत्तियों से। इस अपेक्षा से किसी व्यक्ति के निमित्त से किसी प्राणी की हत्या हो जाने के पश्चात भी वह हिंसक नहीं होता, बशर्ते कि उसकी वृत्ति संयत है, वह पूर्ण जागरूकता की अवस्था में है। इसके विपरीत किसी प्राणी की हत्या न करता हुआ भी प्राणी हिंसक हो सकता है, यदि उसकी वृत्ति असंयत है, वह प्रमाद में जीता है। कहा गया है कि एक साधक यदि पूर्ण जागरूक होकर चल रहा है और उसके पैर के नीचे आकर कोई प्राणी मर भी जाता है तो भी वह हिंसा का दोषी नहीं है, पर वही साधक यदि प्रमाद में एक कदम भी धरता है तो वह छह ही कायों के जीवों का हिंसक है, भले उसके पैर के नीचे आकर किसी प्राणी की हत्या न हुई हो। इससे आप समझ सकते हैं कि हिंसा और अहिंसा के संदर्भ में जैन-तत्त्व-चिंतन कितना सूक्ष्म है।

वाचिक और मानसिक हिंसा

जैन-धर्म ने प्राण-वियोजन—कायिक हिंसा की तरह वाचिक हिंसा और मानसिक हिंसा पर भी चिंतन किया है। वाचिक हिंसा तो आप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझते ही हैं। असत्य बोलना, असत्य साक्षी देना, झूठा अभियोग लगाना, गलत आक्षेप करना, अपशब्द कहना, गाली देना आदि प्रवृत्तियां वाचिक हिंसा की कोटि में हैं। मन से किसी के बारे में अनिष्ट चिंतन करना, किसी के विचार रौंदना, जबरन अपने विचार थोपना, ईर्ष्या करना आदि प्रवृत्तियां मानसिक हिंसा कहलाती हैं। धन, परिवार आदि के प्रति आसक्ति भी मानसिक हिंसा है। कायिक हिंसा स्थूल है, इसलिए सबकी नजर में झटपट आ जाती है, लेकिन वाचिक और मानसिक हिंसा दोनों सूक्ष्म हैं, इसलिए इनकी तरफ कम ध्यान जाता है। इन दोनों में भी मानसिक हिंसा अपेक्षाकृत ज्यादा सूक्ष्म है। अतः उस पर तो ध्यान बहुत ही कम जाता है, पर मुझे लगता है कि व्यक्ति सामान्यतः कायिक और वाचिक हिंसा से भी ज्यादा मानसिक हिंसा करता है। पूर्ण अहिंसक बनने के लिए तीनों प्रकार की हिंसा से बचना जरूरी है।

गृहस्थ और अहिंसा

आप कहेंगे कि अहिंसा की संपूर्ण साधना एक गृहस्थ के लिए कैसे संभव है; क्या यह अव्यावहारिक बात नहीं है। मैं मानता हूं, जैन-तीर्थंकरों को व्यवहार का बहुत ख्याल था। गृहस्थ की अपेक्षाओं और स्थिति से वे सुपरिचित थे। इसलिए उन्होंने हिंसा के दो विभाग कर दिए—अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा। जो हिंसा निष्प्रयोजन की जाती है, वह अनर्थ हिंसा कहलाती है। सप्रयोजन हानेवाली हिंसा अर्थ हिंसा है। गृहस्थ अर्थ हिंसा से नहीं बच सकता, यह एक स्थिति है। चाहे-अनचाहे उसे बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियां करनी होती हैं, जिनमें प्रत्यक्ष हिंसा है। जैसे—खेती करना, भोजन पकाना, व्यापार करना आदि, पर अनर्थ हिंसा से वह बहुत आसानी से बच सकता है। उदाहरणार्थ—शिकार करना गृहस्थ के लिए जरूरी नहीं है। इसी प्रकार अनजान में होनेवाली हिंसा से वह नहीं बच सकता, पर संकल्पपूर्वक, इरादतन की जानेवाली हिंसा से वह आसानी से बच सकता है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों की हिंसा से वह नहीं बच सकता, पर त्रस—चलने-फिरनेवाले प्राणियों की हिंसा से वह एक सीमा तक बच सकता है।

अविवेक हिंसा है

मूलभूत बात है विवेक की। यदि व्यक्ति का विवेक जाग्रत होता है तो वह हिंसा से काफी बचाव कर लेता है। एक ही प्रवृत्ति एक व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकपूर्वक करता है और दूसरा अविवेकपूर्वक। जहां विवेकपूर्वक करनेवाला व्यक्ति हिंसा से बच जाता है, वहीं अविवेकपूर्वक करनेवाला हिंसा का पाप ओढ़ लेता है। आप उदाहरण से समझें। दो व्यक्ति भोजन करते हैं। एक व्यक्ति भोजन करता है अपने संयम के निर्वाह के लिए; स्वाध्याय, ध्यान, सेवा आदि प्रवृत्तियां सुचारु ढंग से संपादित करने के लिए और दूसरा करता है जीभ के स्वाद के लिए। तत्त्व की भाषा में पहले व्यक्ति का भोजन करना हिंसा नहीं है और दूसरे व्यक्ति का भोजन करना हिंसा है। बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं, जो भूख न होने पर भी खाते हैं, शिष्टाचार के लिए खाते हैं या भूख से अधिक खाते हैं। उपवास के पहले दिन और अगले दिन खूब डटकर खाते हैं। स्वादिष्ट भोजन मिल जाए तो चार दिनों का काम एक दिन में ही कर लेना चाहते हैं। ये सब अविवेक की बाते हैं, इसलिए हिंसा की कोटि में हैं।

खाद्य-असंयम और शारीरिक अस्वास्थ्य

भोजन के अविवेक से होनेवाली हिंसा की बात कोई समझे या न भी समझे, पर इससे होनेवाले शारीरिक स्वास्थ्य के नुकसान की बात तो कोई थोड़ा भी समझदार व्यक्ति बहुत आसानी से समझ सकता है। जो लोग खाने-पीने का अविवेक करते हैं, वे धार्मिक दृष्टि से तो अपनी आत्मा को पाप से भारी बनाते ही हैं, शारीरिक दृष्टि से भी बहुत नुकसान उठाते हैं। बहुत-सी बीमारियां खाने-पीने के अविवेक के कारण ही पैदा होती हैं। मैं कई बार सोचता हूं कि बिना भूख लोग क्यों खाते हैं। एक समाधान मिलता है—स्वाद के लिए, किंतु फिर लगता है, यह बात पूरी सही नहीं है। कोई भी पदार्थ स्वादिष्ट तभी लगता है, जब भूख हो। भूख बिना स्वादिष्ट पदार्थ भी अस्वादिष्ट हो जाता है, निकम्मा हो जाता है, पोषण के स्थान पर अस्वास्थ्य का कारण है।

मीठा भोजन करना!

बाप ने अपने अंतिम समय में पुत्र को सीख देते हुए कहा—'बेटे ! ध्यान रखना, मीठा भोजन करना।' पुत्र मूर्ख था। उसने बाप की सीख के शब्द पकड़ लिए, उनका भावार्थ नहीं समझा। दो-चार दिन पश्चात ही पिता का स्वर्गवास हो गया। पिता का शोक संपन्न होते ही पुत्र ने पिता की सीख के अनुसार नित्य मिठाई खाना शुरू कर दिया, पर दस-पंद्रह दिन मुश्किल से निकले होंगे कि वह बीमार पड़ गया। इसके बावजूद उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिठाई खाना नहीं छोड़ा। फलतः हालत बहुत बिगड़ गई। वैद्य को बुलाया गया। वैद्य ने शरीर का निरीक्षण किया, बीमारी का कारण समझा। सारी स्थिति ध्यान में आने के पश्चात वह बोला–'तुम्हारी चिकित्सा मैं क्या करूं, तुम तो जानबूझकर बीमार पड़े हो! यदि स्वस्थ होना है तो मिठाई खाना बंद करना होगा।' लड़का बोला–'वैद्यजी! मैं तो अपने पिताजी की आज्ञा का पालन कर रहा हूं। उनकी आज्ञा से परे मैं कैसे जा सकता हूं? मिठाई खाने का उनका आदेश है। यदि मैं मिठाई खाना छोड़ दूंगा तो उन्हें बहुत दुःख होगा। इसलिए मैं मिठाई तो नहीं छोड़ सकता।' वैद्य ने कहा–'तुम्हारे पिताजी का यह आदेश है तो गलत है। मिठाई खाना तुम्हारे लिए अत्यंत अहितकर है।' चेतावनी के स्वर में कहा–'अब भी यदि तुमने मिठाई नहीं छोड़ी तो जीवन से हाथ धो बैठोगे।' पर लड़के पर इस चेतावनी का भी कोई असर नहीं हुआ। मिठाई छोड़ने की बात उसे इस खतरे की कीमत पर भी मंजूर नहीं हुई। आखिर वैद्य बेचारा क्या करता? चिकित्सा-व्यवस्था किए बिना ही लौट गया।

लड़के की हालत क्रमशः अधिक चिंताजनक बनती जा रही थी। उसके पिता के एक घनिष्ठ मित्र को उसकी बीमारी की खबर लगी। वह उसे देखने आया। उसकी चिंतनीय हालत देखकर उसने पूछा–'यह हालत कैसी बनी? बात क्या है?' उसका इतना पूछना था कि लड़का फूट पड़ा–'मेरे पिताजी ने मेरे साथ न जाने किस जन्म की दुश्मनी निकाली है। वे मुझे बेमौत मारना चाहते हैं!'

पिता का वह मित्र समझदार और अनुभवी था। उसे स्वर्गीय मित्र की सीख का रहस्य समझते समय नहीं लगा। मित्र-पुत्र को समझाता हुआ वह बोला–'तुम्हारे पिताजी को मैं बहुत अच्छी तरह से जानता हूं। वे सबके हित-चिंतक थे। तुम तो खैर उनके इकलौते पुत्र हो, वे तो दुश्मन के साथ भी गलत व्यवहार नहीं करते थे, उसे अनुचित सलाह तक नहीं देते थे। तुम्हारे लिए उनके आदेश के पीछे अवश्य कोई हित-चिंतन होना चाहिए, पर संभवतः तुम उसका रहस्य पकड़ नहीं पाए हो।' एक क्षण रुककर वह बोला–'मुझे लगता है कि तुमने पिताजी के आदेश का सम्यक पालन नहीं किया। उन्होंने तुम्हें मीठा भोजन करने के लिए कहा था, मिठाई खाने के लिए नहीं। मीठे भोजन का अर्थ गुड़-शक्कर और मिष्टान्न नहीं है, बल्कि भूख लगने पर भोजन करना है। देखो, बिना भूख मीठा-से-मीठा पदार्थ भी न केवल बेस्वाद/कड़वा लगता है, बल्कि शरीर को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नुकसान भी पहुंचाता है। इसके विपरीत भूख में सूखी रोटी भी मीठी लगती है और शरीर के लिए पोषक बनती है। इसलिए तुम्हें यदि पिता की आज्ञा का पालन करना है तो तुम बिना भूख भोजन न करने का संकल्प कर लो।'

लड़के को अपने पिता के इस मित्र के ऊपर गहरी श्रद्धा थी। उसने उसकी बात मानकर बिना भूख भोजन न करने का संकल्प ग्रहण कर लिया। अब पिता-मित्र ने उसकी चिकित्सा अपने हाथ में ली। सबसे पहले उसे एक सप्ताह तक लंघन करवाया, पर इस पर भी जब उसकी भूख पूरी खुली नहीं, तब उसने विरेचन तथा कुछ औषध का प्रयोग किया। अब उसे खुलकर भूख लगी। पिता-मित्र ने उसे खाने के लिए खिचड़ी दी। वह उसे अत्यंत मीठी और स्वादिष्ट लगी। कुछ दिन तक पिता-मित्र ने बराबर संभाल रखकर उसे पुनः स्वस्थ बना दिया।

बंधुओ! इस कहानी से आप समझ सकते हैं कि खाने-पीने का विवेक शारीरिक दृष्टि से कितना आवश्यक है। अविवेक के कारण व्यक्ति अनेक तरह की समस्याओं को अनचाहे ही आमंत्रण दे देता है। धार्मिक दृष्टि से यह अविवेक हिंसा है। अहिंसा की साधना के लिए विवेक का बहुत मूल्य है। लोग कहते हैं, आज अनाज की कमी है। मैं ऐसा तो नहीं कह सकता कि अनाज की कमी नहीं है, पर इतना अवश्य कह सकता हूं कि उसका दुरुपयोग बहुत अधिक होता है। शायद इस कमी का यह एक बहुत बड़ा कारण है। यदि लोगों में खाने-पीने के संदर्भ में विवेक जाग जाए तो उसका दुरुपयोग रोका जा सकता है; और यदि दुरुपयोग रुक जाता है तो यह अभाव की समस्या काफी रूप में स्वतः समाहित हो सकती है। अनाज का दुरुपयोग करना राष्ट्रीय दृष्टि से तो अनुचित है ही, धार्मिक दृष्टि से भी हिंसा है। इसी क्रम में खाने में जूठन छोड़ना भी हिंसा है। खाद्य-संयम अहिंसा है; अनेक प्रकार की शारीरिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समुचित समाधान है।

पाप-बंधन और आसक्ति

यह खाद्य-संयम की बात विवेक से संबद्ध है। विवेकशील प्राणी खाने-पीने में ही नहीं, अपितु जीवन की हर प्रवृत्ति में अहिंसा की पुट रख सकता है। एक व्यक्ति वृक्ष काटता है। वृक्ष काटना हिंसा है, यह स्पष्ट है, पर उसका विवेक यदि जाग्रत है तो वह यह हिंसात्मक प्रवृत्ति करते समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी यह सोचता है कि मुझे आवश्यकतावश ऐसा करना पड़ रहा है। पेट पापी है।..... इसी प्रकार यदि किसी स्थिति में उसे झूठ बोलना पड़ता है तो उसके मन में ग्लानि का भाव पैदा हो जाता है।

जैसाकि मैंने प्रवचन के प्रारंभ में कहा, हिंसा-अहिंसा का संबंध जीव के मरने और जीने से नहीं है। उसका संबंध है व्यक्ति की अपनी सत-असत वृत्तियों से। अविवेक की तरह जहां वृत्तियों में आसक्ति होती है, वह भी हिंसा है। आसक्ति जितनी कम होती है, पाप का बंधन उतना ही शिथिल होता है। इसके ठीक विपरीत आसक्ति जितनी गहरी होती है, बंधन उतना ही प्रगाढ़ होता है।

आपने खंधक मुनि की घटना सुनी ही होगी। अपने पूर्वजन्म में उन्होंने छुरी से एक काचर छीलकर अत्यंत प्रसन्नता की अनुभूति की थी। इस कारण उन्होंने प्रगाढ़ कर्मों का बंधन कर लिया था। उस बंधन के परिणाम-स्वरूप उनके शरीर की सारी चमड़ी उतारी गई। राजा श्रेणिक का उदारहरण भी आप पढ़ते हैं। एक हरिणी को लक्ष्य कर उसने तीर छोड़ा। तीर हरिणी का पेट और उसके गर्भस्थ बच्चे को बींधता हुआ जमीन पर जा रुपा। अपने इस तीरदांजी कौशल पर राजा श्रेणिक अत्यंत प्रसन्न हुआ। हिंसात्मक प्रवृत्ति में इस आसक्ति के कारण ही उसे नरक प्राप्त हुआ। ऐसे और भी अनेक उदाहरण बताए जा सकते हैं। इन उदाहरणों से आप यह बात समझने का प्रयास करें कि आसक्ति का कर्मों के बंधन के साथ कितना गहरा संबंध है। यदि आपको प्रगाढ़ बंधन से बचना है, उसके कटु परिणाम से बचना है तो आप अपना विवेक जाग्रत करें, अपनी वृत्तियों में अनासक्ति का विकास करें। जितनी-जितनी अनासक्ति बढ़ती जाएगी, उतने-उतने आप प्रगाढ़ बंधन से भी बचते जांएगे।

सत्संग का मूल्य

बंधुओ! कर्म मैल की तरह है। बाहर का मैल भी अच्छा नहीं समझा जाता, फिर यह अंदर का मैल तो अच्छा हो ही कैसे सकता है? बाहर का मैल तो आप फिर भी साबुन से धोकर उतार लेते हैं, पर यह अंदर का मैल कैसे धोएंगे? अलबत्ता इसे धोने के कुछ उपाय हमारे तीर्थंकरों ने बताए हैं, उन्हें काम में लेकर आप अपना पूर्वसंचित कर्म-मैल धो सकते हैं। पर यह बाद की बात है। इससे पहले यह अपेक्षित है कि आप कर्म-बंधन के प्रति सजग बनें। जब कर्म-बंधन के रूप में मैल होगा ही नहीं तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे धोने की बात स्वतः कृतार्थ हो जाएगी, पर सावधानी रखने के बावजूद जब-तब प्रमाद होने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता; और जहां प्रमाद है, वहां बंधन अवश्यंभावी है। यह बंधन रूपी मैल धोने की दृष्टि से साधु-संतों की संगत बहुत उपयोगी है। उनके उपदेश-श्रवण से मन को अनुशासित करने की प्रेरणा जागती है, तप की दिशा में व्यक्ति की गति होती है। इससे पूर्वसंचित मैल छूटने लगता है और आत्मा क्रमशः स्वच्छ/पवित्र बनने लगती है।

आपके नगर में सत्संग की यह जो गंगा बह रही है, उसमें नहाकर आप अपनी आत्मा को निर्मल बनाएं। अणुव्रत संयम और तप की साधना का व्यावहारिक प्रारूप है। गृहस्थ की भूमिका में अपने आवश्यक कर्तव्य निभाता हुआ भी व्यक्ति इसकी साधना कर सकता है। आप भी अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार करें। निश्चय ही यह स्वीकरण आपकी आत्मा को निर्मल बनाएगा। आप अपने जीवन में सुख और शांति का अनुभव कर सकेंगे।

रायसिंहनगर

३० अप्रैल १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३ : शांति-सुख का मार्ग—त्याग*

अनुस्रोत : प्रतिस्रोत

अनुस्रोत और प्रतिस्रोत—ये दो स्थितियां हैं। अनुस्रोत का अर्थ है—प्रवाह के साथ चलना। प्रतिस्रोत का अर्थ है—प्रवाह के विपरीत गति करना। प्रवाह जिस ओर होता है, उधर चलने में नाविक और नौका को कठिनाई नहीं होती। इसके विपरीत जब प्रवाह को चीरकर चलना होता है, तब यात्रा बहुत कठिन होती है। *दशवैकालिक* सूत्र में कहा गया है—

अणुसोयसुहोलोगो, पडिसोओ आसवो सुविहियाणं।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो॥

संसार अनुस्रोत में सुख देखता है, जबकि पहुंचा हुआ व्यक्ति अनुस्रोत में दुःख देखता है। वह प्रतिस्रोत में सुख का अनुभव करता है। आप देखें, नदी के अनुस्रोत में चलता-चलता व्यक्ति जहां समुद्र में गिर पड़ता है और अपना अस्तित्व समाप्त कर देता है, वहीं प्रतिस्रोत में चलनेवाला किनारे पर पहुंच जाता है। प्रकारांतर से हम ऐसा कह सकते हैं कि अनुस्रोत अनंत जन्म-मृत्यु का घुमाव है, जबकि प्रतिस्रोत निर्वाण है, मुक्ति है।

भोग अनुस्रोत का मार्ग है और त्याग प्रतिस्रोत का। संसार के अधिकतर प्राणी अनुस्रोतगामी हैं, इसलिए उन्हें भोग अच्छा लगता है, त्याग अच्छा नहीं लगता। पर साधु-संत प्रतिस्रोतगामी होते हैं, इसलिए वे त्याग का जीवन जीते हैं और उसमें अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करते हैं। भोग उन्हें हलाहल के समान कटुकपरिणामी दिखाई देता है। इसलिए वे उससे उपरत हो जाते हैं।

धन और सुख

यह शाश्वत तथ्य है कि संसार के सभी प्राणी सुखेच्छु हैं, पर हम

*दीक्षा-समारोह में प्रदत्त प्रवचन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखते हैं कि इस चाह के बावजूद ज्यादातर प्राणियों को सुख नहीं मिलता। वे पुनः-पुनः दुःख का वेदन करते हैं। इसका कारण यही तो है कि वे मार्ग सही नहीं लेते। वे अनुस्रोत में चलते हैं, धन में सुख खोजते हैं, पर धन कभी किसी के सुख का आधार नहीं बन सकता, किसी का त्राण नहीं बन सकता। *आगम* की यह वाणी इसी सचाई को प्रकट करती है–**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।** वस्तुतः सुख उन्होंने ही पाया है, जिन्होंने अकिंचनता स्वीकार की है, संतोष का जीवन जिया है। राजर्षि भर्तृहरि की अनुभवपूरित वाणी देखें–

ये संतोषसुखप्रमोदमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो,
ये त्वन्ये धनलोभसंकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता।
इत्थं कस्य कृते कृतः सविधिना तादृक् पदं संपदां,
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते।।

– सोने का मेरु भी संतोषी व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपने संतोष में ही प्रसन्नता का अनुभव करता है। इसके विपरीत लोभी व्यक्ति उसे प्राप्त करके भी तृप्त नहीं हो सकता । इसलिए मुझे यह मेरु (धन) अच्छा नहीं लगता।

पर आश्चर्य, संतों की अनुभूत वाणी सुनकर भी सांसारिक प्राणी का दृष्टिकोण नहीं बदलता, धन के प्रति उसका आकर्षण नहीं टूटता! आप कहेंगे कि धन के बिना जीवन कैसे चल सकता है। ठीक है, धन जीवन चलाने के लिए आवश्यक है, पर वह मात्र जीवन के लिए सुविधा के साधन जुटा सकता है। सुख की अनुभूति कराना उसके वश की बात नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है। धन शरीर के स्तर पर सुविधा प्रदान करता है, जबकि सुख का संबंध हमारी आत्मा से है। आत्मा को न भोजन चाहिए, न पानी, न ऐश और न आराम ही। वह तो अपने-आपमें सुखमय ही है, आनंदमय ही है। बस, उसकी अनुभूति की अपेक्षा है। वह अनुभूति तब होती है, जब व्यक्ति त्याग–अकिंचनता का पथ स्वीकार कर लेता है। इसलिए सुखेच्छु हर भाई-बहिन को चाहिए कि वह भोग/धन के पीछे मृग की तरह दौड़े नहीं। वह चिंतनपूर्वक सही मार्ग पकड़े। सही मार्ग पर बढ़नेवाला निश्चय ही एक दिन अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। लक्ष्य भले कितना ही दूर क्यों न हो, वह उसकी सफलता में बाधक-कारण नहीं बनता। संत-जन सही मार्ग का निर्देश बार-बार करते हैं। जिन्होंने भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका निदेश/उपदेश/संदेश सुनकर सही मार्ग पकड़ा है, वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हुए हैं और उन्होंने शांति की अनुभूति की है। सही मार्ग पकड़ने का अर्थ है—आत्म-धर्म—स्वधर्म में अवस्थित होना, त्याग का जीवन स्वीकार करना।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः

गीता में लिखा है—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।** ये श्लोक के दो चरण हैं। इनका अर्थ है—अपने धर्म में मरना श्रेयस्कर है, परधर्म भयावह है। आपका प्रश्न हो सकता है कि यह स्वधर्म क्या है। श्लोक के प्रथम दो चरण सामने रखकर जब हम शेष दोनों चरण देखते हैं तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि यहां स्वधर्म का अर्थ है—अपना कर्तव्य। मूलतः यह वर्णव्यवस्था का समर्थक और पोषक श्लोक है। ग्रंथकार कहते हैं कि जो व्यक्ति जिस वर्ण में है, वह उस वर्ण के कर्म में ही रहे। उसके लिए स्ववर्ण का कर्म ही स्वधर्म है। इस स्वधर्म में रहते हुए ही मौत को प्राप्त करना उसके लिए श्रेयस्कर है। अन्य किसी वर्ण का धर्म यानी कर्म अपनाना उसके लिए भयावह है, अहितकर है। हालांकि जैन-धर्म इस वर्ण-व्यवस्था को मान्य नहीं करता और आज तो यह व्यवस्था यों भी छिन्न-भिन्न हो गई है, तथापि ग्रंथकार का अपना अभिमत है, अपना विचार है। हर-किसी को अपना स्वतंत्र विचार रखने का अधिकार है, ग्रंथकार को भी है। इसलिए असहमति के बावजूद हम श्लोक के ये दोनों चरण उनकी भावना के प्रतिकूल मनमाने ढंग से व्याख्यायित नहीं कर सकते।

परंतु जहां हम इस संदर्भ से हटकर इन दोनों चरणों को एक स्वतंत्र सूक्त के रूप में व्यवहृत करते हैं, वहां स्वधर्म का अर्थ आत्मधर्म यानी त्याग कर सकते हैं। जो प्राणी सुख-शांति का जीवन जीना चाहता है, उसके लिए यह त्याग/भोग-विरति ही श्रेयस्कर है।

स्त्री और संन्यास

कुछ लोग कहते हैं कि स्त्री को संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि लड़की को ब्रह्मचारिणी रखना धर्मशास्त्रों के विरुद्ध है, लेकिन मैं मानता हूं कि ऐसा कहनेवाले लोगों ने धर्मशास्त्रों को पूरा पढ़ा नहीं है, लोकशास्त्रों को पूरा समझा नहीं है, अन्यथा वे किसी स्थिति में ऐसा कहने का साहस नहीं करते। क्या वे नहीं जानते कि समस्त आत्माएं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखेच्छु हैं? पुरुष बंधन-मुक्ति चाहते हैं तो स्त्रियां भी बंधन नहीं चाहतीं। उन्हें भी मुक्ति प्रिय है। यदि स्त्री को बंधन-मुक्ति/स्वतंत्रता का यह अधिकार नहीं दिया जाता है तो उसके साथ अन्याय होता है। हां, किसी को बहकाकर या फुसलाकर भोगों से वंचित रखना अनुचित है, धोखा है। पर विरक्त होने के बाद किसी को विकास के मार्ग में नहीं आने देना बहुत बड़ा पाप है।

अतः त्याग के मार्ग में स्त्री और पुरुष का भेद नहीं होना चाहिए। अभी हमने रुक्मिणी बहन को सुना। ये दो बहिनें बैंगलोर से आई हैं और इन्होंने साध्वियों के जीवन से ब्रह्मचारिणी रहने की प्रेरणा पाई है। ये इसी भूमिका में रहती हुई जीवन में आगे बढ़ना चाहती हैं। खुद अणुव्रती हैं और अपने स्कूल की अस्सी फीसदी लड़कियों को अणुव्रती बनाने के लिए कृतसंकल्प हैं।

कुछ लोगों का प्रश्न है कि लड़की को क्या पता कि भोग में क्या सुख है। इसलिए दीक्षा से पूर्व संसार का अनुभव करना चाहिए, परंतु मैं सोचता हूं, ऐसा करना कोई जरूरी नहीं है। एक व्यक्ति चोरी का त्याग करता है। उसके लिए क्या यह आवश्यक है कि वह चोर बनकर ही साहूकार बने? जब नहीं, तब भोगी बनकर ही त्यागी होना क्यों जरूरी है? आपने समाचार-पत्र में पढ़ा होगा कि बारह वर्ष की एक लड़की ने एक बच्चे की निर्मम हत्या कर दी। जब एक लड़की क्रूर बन सकती है, हिंसा कर सकती है, तब अहिंसक क्यों नहीं बन सकती? संयमी क्यों नहीं बन सकती? निश्चय ही इसमें कोई बाधा नहीं है।

बंधुओ! यों तो त्याग हर युग में ही स्तुत्य, प्रशस्य, काम्य, आदरणीय और अनुमोदनीय है, पर आज के इस भौतिकताप्रधान युग में तो उसका मूल्य बहुत ही अधिक है। सचमुच ही वे लोग बधाई के पात्र हैं, जो त्याग का मार्ग सहर्ष स्वीकार करते हैं। युग की बात मैंने इसलिए कही कि काल का भी अपना एक प्रभाव होता है। सत्युग में मनुष्य सहज अच्छा होता है, जबकि कलियुग की स्थिति इसके विपरीत होती है। सत्युग में इस प्रतिज्ञा का बहुत मूल्य नहीं होता कि मैं सत्य बोलूंगा, पर आज के कलियुग में इसका बहुत मूल्य है। अस्तु, त्याग का पथ अंगीकार करने का उदाहरण आपके सामने है। इसे देखकर उन लोगों के सिर सहज श्रद्धाप्रणत हो रहे हैं, जिन्होंने त्याग और संयम का यह अभ्यास नहीं किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधुओ! अनुस्रोत और प्रतिस्रोत की बात मैंने प्रारंभ में कही थी। दीक्षा स्वीकार करना अनुस्रोत से मुड़कर प्रतिस्रोत की ओर गति करना है, क्योंकि दीक्षा का जीवन कठिनाइयों का जीवन है। लोकभाषा में दीक्षा कांटों पर चलना है। दीक्षा में भी जैन-धर्म का मार्ग ज्यादा कठिन है। फिर तेरापंथ की दीक्षा तो कठिन से भी कठिन है, महाकठिन है। संपूर्ण त्याग के साथ-साथ अपनी सारी इच्छाएं गुरु-इच्छा में विलीन कर देनी होती हैं। आज के इस सुख-सुविधाप्रधान माहौल और अनुशासनहीनता के युग में यह कितना कठिन है, इसका अंदाजा आप स्वयं कर सकते हैं, पर एक बात अवश्य है। कठिन उसे ही लगता है, जो असंयममय जीवन जीता है, जिसकी आत्मा अनुशासित नहीं है। संयम/स्वानुशासन का जिन्हें रसास्वाद मिल चुका है, उन्हें यह कठिन नहीं लग सकता, बल्कि वे तो इसमें परमानंद की अनुभूति करते हैं। इसलिए जो इसमें रच-पच जाते हैं, उन्हे संसार का कोई भौतिक प्रलोभन अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता।

मैं मानता हूं, संपूर्ण त्याग की बात श्रेयस्कर होने पर भी सबके लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती। सब साधु जीवन अंगीकार नहीं कर सकते, पर एक सीमा तक त्याग का मार्ग तो हर-कोई स्वीकार कर ही सकता है। महाव्रती तो कोई-कोई ही बन सकता है, पर अणुव्रती हर-कोई बन सकता है। अणुव्रती बनने का अर्थ है—त्याग की दिशा में प्रयाण। मैं मानता हूं, संपूर्ण त्याग को आदर्श मानकर यदि इस सीमा तक भी त्याग का पथ स्वीकार किया जाता है तो यह व्यक्ति के भविष्य को संवारनेवाला सिद्ध होता है, उसके जीवन में सुख और शांति का मार्ग प्रशस्त करनेवाला होता हैं।

रायसिंहनगर
२ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४ : मैत्री और राग

मैत्री : स्वस्थ जीवन का उदात्त घोष

आगम का एक वाक्य है—**मित्ती मे सव्वभूएसु**। अर्थात मेरी सब प्राणियों के साथ मैत्री है। स्वस्थ जीवन के लिए यह उदात्त घोष आवश्यक है। एक अस्वस्थ व्यक्ति इसे स्वीकार नहीं कर सकता, पर यह शारीरिक अस्वास्थ्य की बात नहीं है। यह बात है मानसिक स्वास्थ्य की। जिसका मन अस्वस्थ है, वह संसार के समस्त प्राणियों के साथ मैत्री की बात नहीं कर सकता।

मैत्री और राग

मैत्री को राग भी कहा जाता है, पर व्यापक मैत्री का समावेश राग में नहीं होता। राग यानी प्रेम। यह द्वेष की तरह ही बंधन है। द्वेष दावानल है, जबकि राग हिमपात है। दावानल से वृक्षों को हानि होती है तो हिमपात से भी कम नहीं होती। अग्नि जलाती है तो बर्फ भी दाह पैदा कर देती है। अंतर इतना है कि एक गरम है और एक ठंडी। द्वेष से व्यक्ति जलता है तो राग भी व्यक्ति को जला देता है। द्वेषी को देखने से खून उबलने लगता है तो रागी के विरह में हृदय जलता है। चूंकि राग और द्वेष दोनों ही आत्म-विकास में बाधक हैं, अतः त्याज्य हैं।

राग और मैत्री में अंतर है। राग संबंधी के प्रति होता है, स्वार्थ के लिए होता है, इसलिए बंधन है। मैत्री उनके प्रति होती है, जिनके साथ कोई संबंध नहीं होता। दुश्मन के साथ राग नहीं होता, पर मैत्री हो सकती है। मैत्री का अर्थ है—वैर-त्याग। मैत्री का पर्यायवाची शब्द है—अहिंसा। अंतर इतना ही है कि मैत्री विधेयात्मक है और अहिंसा निषेधात्मक। 'मैं किसी को नहीं मारूंगा'—यह अहिंसा है। 'मैं सबके साथ ऊंचा प्रेम रखूंगा'—यह मैत्री है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्री का व्यापक क्षेत्र

मैत्री बहुत व्यापक तत्त्व है। इसकी व्यापकता समझना बहुत जरूरी है। किसी के साथ परिचय बढ़ाकर मित्र बनाना बहुत छोटी बात है। अपरिचित/अजनबी के प्रति भी बुरा चिंतन नहीं करना मैत्री है। फिर यह मैत्री मुनष्यों तक ही सीमित नहीं रहती। पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों और पेड़-पौधों के साथ भी मैत्री होती है। अतः हमें मानना होगा कि मैत्री का संबंध मात्र अपनों से नहीं, अपितु प्राणिमात्र से है।

मैत्री और स्वधर्म

मैत्री के पीछे स्वार्थ-भावना न हो, लेने-देने का सौदा न हो, स्वस्थ विचारों का विकास होता रहे, यह अत्यंत आवश्यक है। मैं व्याख्यान देता हूं, यह मेरा धर्म है। मैं आपके लिए नहीं, किंतु अपने लिए व्याख्यान देता हूं। इससे मेरा स्वयं का विकास होता है। इस वृत्ति से मुझे कोई स्वार्थी भले कहे, पर स्व-विकास का यह स्वार्थ बुरा नहीं होता, बल्कि अध्यात्म-साधना का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यदि अध्यात्म के साधक के समक्ष यह सूत्र न हो तो वह साधना कर ही नहीं सकता। मैं आपके लिए प्रयास करूं, इसका अर्थ यह हुआ कि आप मेरा उपदेश सुनकर कुछ स्वीकार नहीं करेंगे तो मेरा प्रयास व्यर्थ हो जाएगा। लेकिन जब मैं स्वयं के लिए प्रयास करता हूं, स्वयं की साधना कि लिए उपदेश देता हूं, तब कोई व्यक्ति कुछ स्वीकार करे या न करे, इससे मुझे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। मुझे तो अपना लाभ मिल ही जाता है।

आप देखें, वृक्ष सबके लिए छाया करता है। अब कोई छाया ले, कोई न ले, यह पथिकों पर निर्भर है। साधक अपना कर्म करता है। कोई उससे लाभ लेता है या नहीं लेता है, इसे वह अपनी साधना का आधार और उसकी सफलता की कसौटी नहीं मानता। उसकी साधना का आधार और सफलता की कसौटी तो निष्ठापूर्वक अपना कर्म करना है। *गीता* में लिखा है कि व्यक्ति फल की आशा छोड़कर कर्म करे। कर्म के पीछे फल की आशंसा नहीं होनी चाहिए। यदि फलासक्ति से कर्म किया जाता है तो उसका वास्तविक फल नहीं मिलता।

हम देखते हैं कि नदी बहती है। नहर चलती है। बादल बरसता है। हवा बहती है। सूरज चमकता है।.....यह उनका स्वधर्म है। स्वधर्म निभाने में आनंद मिलता है। स्वधर्म निभानेवाले के समक्ष कभी निराशा की स्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैदा नहीं हो सकती। मैं देखता हूं, बहुत-से व्यक्ति कोई नया कार्य शुरू करते हैं और दो-चार वर्षों में निराश हो जाते हैं। इसका कारण? कारण यही है कि वे अपनी कल्पना के अनुरूप जन-समर्थन प्राप्त नहीं करते। उन्हें अपेक्षित परिणाम दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत स्वधर्म मानकर कार्य करनेवाला हर स्थिति में प्रसन्न रहता है, संतुष्ट रहता है। इसलिए हम स्वधर्म मानकर काम करें, यही श्रेय-पथ है, यही साधना है।

वैर : भयंकर बीमारी

मैत्री भी हमारी विशेष साधना है। मैत्री में सबसे पहली बात है—वैरत्याग। वैर-विरोध नहीं मिटता है तो हजार तरह की तपस्या करने के बावजूद कल्याण नहीं होता। साधु साधक है। साधना-काल में उससे गलती हो सकती है। कदाचित दो साधकों में बोलचाल हो जाए तो तत्काल खमतखामणा करने का विधान है। खमतखामणा किए बिना भोजन और उत्सर्ग करने की भी आज्ञा नहीं है। क्यों? यह इसीलिए की कलह/वैर एक भयंकर बीमारी है। इसका उपचार न होने से बहुत बड़ा नुकसान हो जाता है।

मैत्री समता की निष्पत्ति है

आगमों में लिखा है—**उवसमसारं खु सामण्णं**। यानी साधना का सार उपशम है। उपशम भाव न हो तो साधना निष्फल हो जाती है। इसलिए समता का विकास करना आवश्यक है। समता की निष्पत्ति है—मैत्री। साधक को अपने स्व की सीमा इतनी विस्तृत बना लेनी चाहिए कि उसमें जगत के समस्त प्राणी समा जाएं। कोई उस क्षेत्र से बाहर न रहे।

बंधुओ! यदि गहराई से देखा जाए तो मैत्री आत्मोदय का एकमात्र मार्ग है। इसका विकास करने के लिए दूसरों की भूलें भूलना आवश्यक है, स्वयं की भूलों का परिमार्जन करना जरूरी है। यह वैर का गट्ठर जिसके सिर पर रहता है, वह रात-दिन इसके भार से दबा रहता है। इसे उतारने से ही दिमाग हलका होता है, मन स्वस्थ होता है। इसलिए राग और मैत्री का अंतर समझकर मैत्री का विकास करना जरूरी है। ध्यान रहे, मैत्री का विकास ही शांति का वास्तविक आधार है।

रायसिंहनगर

२ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५ : आचार और विचार से पवित्र बनें

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान संस्कृति रही है। इस संस्कृति में अनेक महान-महान व्यक्ति हुए हैं। प्रखर वक्ता, लेखक, सम्राट, धनकुबेर और महाजन पैदा हुए हैं। देश के लिए बलिदान होनेवाले वीरों ने जन्म लिया है। हालांकि उन सबको भारत ने सम्मान दिया है, फिर भी अंतर्वृत्ति में सदा अकिंचनों के प्रति ही अनुराग रहा है। वर्तमान में यह दृष्टिकोण कुछ बदल-सा रहा है। परिमाणतः त्याग, अहिंसा और सत्य के प्रति आस्था कम हो रही है। लोग भौतिक प्रवाह में बह रहे हैं, पर इसके बावजूद संतों के प्रति उनकी जो श्रद्धा है, भक्ति है, वह संस्कारगत है।

संतों की प्रतिष्ठा—त्याग

संत लोग विद्वान होते हैं, कवि होते हैं, लेखक होते हैं, चिंतक होते हैं, वक्ता होते हैं..... पर इन सब बातों से उनकी वास्तविक महत्ता प्रकट नहीं होती। उनकी वास्तविक महत्ता है—त्याग। इसी त्याग के कारण साधारण लोगों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े धनपति और राजे-महाराजे भी उनकी चरण-धूलि अपने मस्तक पर लगाकर धन्यता की अनुभूति करते हैं। वस्तुतः त्याग ही उन्हें संत की प्रतिष्ठा प्रदान करता है। यदि उनके जीवन में त्याग न हो तो ऊपर की अन्य सारी विशेषताएं धरी-की-धरी रह जाती हैं। संतों के बारे में राजर्षि भर्तृहरि ने कहा है—

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः,
स्वार्थान् संपादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैनाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्जनान् दूषयन्तः,
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः॥

— संत स्वयं विनम्र होते हैं, जनता उन्हें उन्नत मान लेती है। वे दूसरे के गुणों की व्याख्या करते हैं, जिससे उनके गुण स्वयं

आगे की सुधि लेइ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्त हो जाते हैं। वे जनकल्याण के लिए काम करते हैं, इससे उनका स्वार्थ स्वतः संपादित हो जाता है। दुर्जनों के प्रति वे तितिक्षु रहते हैं, फलतः दुर्जन स्वयं दूषित हो जाते हैं। ऐसी आश्चर्यकारी चर्यावाले ये संत किसके लिए पूज्य नहीं हैं?

प्रसंग अब्राहम लिंकन का

गृहत्यागी संतों की बात हम दो क्षण के लिए छोड़ें। गृहस्थ अवस्था में भी जो महान व्यक्ति होते हैं, उनकी चिंतनशैली और व्यवहारशैली कुछ विशिष्ट ही होती है। अमेरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अपने दुश्मनों को भी प्यार करते थे। एक बार उनके एक मित्र ने कहा—'तुम अपने शत्रुओं के प्रति इतने उदार क्यों हो? उन्हें तो तुम्हें खत्म कर देना चाहिए।' अब्राहम लिंकन ने उत्तर दिया—'मैं तो अपने दुश्मनों को खत्म ही कर रहा हूं, पर तुम यह बात समझ नहीं पा रहे हो। हां, खत्म करने का मेरा अपना एक तरीका है। लोग दुश्मनों को मारकर खत्म करते हैं, पर मैं उनसे प्यार कर उन्हें खत्म कर रहा हूं। प्यार करने से सारे दुश्मन दोस्त हो रहे हैं और मैं दुश्मनों की संख्या शून्य रखना चाहता हूं।'

नवीनता में आकर्षण होता है

अभी कहा गया कि आचार्यजी ने संसार को जो मार्ग दिखाया है, वह जन-जन के लिए आदरणीय है। मैं सोचता हूं, मैंने कोई नई बात नहीं बताई है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का दर्शन आज से हजारों वर्षों पहले ऋषियों ने दिया। महाव्रत, अणुव्रत, शील और यम के रूप में उन्होंने जो मार्ग बताया, उसी को आधार मानकर हम काम कर रहे हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो बात ठीक है। मैंने अनुभव किया कि संसार को नवीनता में आकर्षण है। जनता को सही रास्ते पर लाना है तो उस मार्ग को नए रूप में रखकर आकर्षण भी पैदा करना होगा। यह एक शाश्वत तथ्य है कि शांति की प्यास सबको है और शांति का एकमात्र मार्ग धर्म है, संयम है। धर्म के बिना शांति मिल नहीं सकती, संयम के बिना शांति सध नहीं सकती, पर सीधे धर्म की बात बताएं तो काम नहीं होगा। यह इसलिए कि जनता को धर्म से प्रेम नहीं है। एक पढ़ा-लिखा आदमी धर्म को ढर्रा मानता है। इसलिए इसमें परिष्कार की अपेक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस चिंतन के आधार पर मैंने जनता का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया और एक नया मार्ग निकाला। यह नया मार्ग अणुव्रत के नाम से जन-जन के आकर्षण का केंद्र बन रहा है। अणुव्रत व्यक्ति से नहीं पूछता कि वह मंदिर, मस्जिद या अन्य किसी धर्मस्थान में जाता है या नहीं, भगवान का जाप करता है या नहीं, साधु-संतों की उपासना साधता है या नहीं, दान करता है या नहीं। इससे भी आगे अणुव्रत तो किसी को यह भी नहीं पूछता कि वह ईश्वर में विश्वास करता है या नहीं, स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म आदि में उसकी आस्था है या नहीं। अणुव्रत तो एक ही बात कहता है कि व्यक्ति जहां है, जिस धंधे में है, जिस-किसी धर्म-संप्रदाय से संबद्ध है अथवा नहीं भी है, उस स्थिति में रहता हुआ अपने आचार और विचार से पवित्र रहे; अपनी हर प्रवृत्ति पर संयम और विवेक का नियंत्रण रखे; अनैतिक, अप्रामाणिक और दुराचारी न बने। एक वाक्य में कहूं तो अणुव्रत कहता है कि व्यक्ति अच्छा इंसान बनकर जिए। यदि व्यक्ति इतना कर लेता है तो मानना चाहिए कि धर्म बिना बुलाए ही उसके जीवन में आ गया है। मैं आपसे ही पूछता हूं कि धर्म क्या है। मनुष्य को अच्छा मुनष्य बनाने की प्रक्रिया का नाम ही तो धर्म है। जीवन को पवित्र बनाने का मार्ग ही तो धर्म है। अणुव्रत का यही फलित है। इसलिए अणुव्रत को अपनाने से व्यक्ति सहज रूप से धार्मिक बन जाता है। आप सब भी अणुव्रत को समझें। उसका दर्शन हृदयंगम करें और उसके छोटे-छोटे संकल्प अंगीकार करें। निश्चय ही आप अच्छे इंसान बन सकेंगे। पवित्रता की आभा से आपका जीवन प्रभासित हो उठेगा।

सूरतगढ़
८ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४६ : आस्तिक : नास्तिक

आस्तिक कौन : नास्तिक कौन

संसार में दो प्रकार के लोग हैं—आस्तिक और नास्तिक। दूसरे शब्दों में धार्मिक और अधार्मिक। यह एक तथ्य है कि बहुप्रतिशत लोग स्वयं को धार्मिक/आस्तिक कहलाना पसंद करते हैं, परंतु आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म आदि को मानने मात्र से कोई आस्तिक या धार्मिक नहीं बन जाता। क्रियाकांड करने और धर्मस्थान में जाने से भी आस्तिकता/धार्मिकता का कोई सीधा संबंध नहीं है। फिर आस्तिक/धार्मिक कौन होता है? अधार्मिक/नास्तिक कौन होता है?

मेरी दृष्टि में जिसके मन में पाप के प्रति ग्लानि नहीं होती, वह नास्तिक या अधार्मिक होता है। इसके ठीक विपरीत जिसके मन में पाप का भय रहता है, वह आस्तिक या धार्मिक होता है। इस प्रसंग में मैं एक कहानी सुनाया करता हूं—

स्वर्गगामी : नरकगामी

नारद, पर्वत और वसु—ये तीन छात्र गुरु के पास अध्ययन करते थे। एक दिन एक मुनि उधर से गुजरे। उन्होंने अपने साथ रहे मुनि को बताया कि इन तीन छात्रों में से एक तो स्वर्गगामी है और दो नरकगामी। गुरु के कानों में ये शब्द पड़े। वे चिंतित हो गए। उनके मन में विचार आया—मेरे शिष्य नरकगामी बनें, यह मेरी बहुत बड़ी विफलता है। मेरे लिए शर्म की बात है।

गुरु अनुभवी थे। उन्होंने परीक्षा करके तीनों शिष्यों की स्थिति आकलित करने का निर्णय किया। इस दृष्टि से एक दिन उन्होंने आटे के तीन मुर्गे बनाए और तीनों शिष्यों को बुलाकर आदेश की भाषा में कहा—'जाओ, तीनों एक-एक मुर्गा ले जाओ और जहां कोई न देखे, वहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने-अपने मुर्गे की गर्दन काटकर ले आओ।'

गुरु का आदेश पालने के लिए राजपुत्र वसु अपने महल में गया और एक कक्ष का दरवाजा बंद करके उसने मुर्गे की गर्दन तोड़ दी। गुरुपुत्र पर्वत अपने घर गया और उसने भी छत पर जाकर मुर्गे की गर्दन काट ली।

नारद मुर्गा हाथ में लेकर जंगल की ओर चल पड़ा। उसे गुरु के इस आदेश पर आश्चर्य हो रहा था। बावजूद इसके, आदेश तो आदेश ही था, इसलिए वह चलता रहा। मनुष्य की दुनिया पार हो गई, पर पशु इधर-उधर घूम रहे थे। पशुओं का संसार भी पीछे छूट गया लेकिन पक्षी अपने नीड़ों से नीचे देख रहे थे। आखिर वह एक अंधेरी गुफा में गया, पर जैसे ही उसने मुर्गे की गर्दन पर हाथ रखा कि उसे याद आया कि गुरु के आदेश का भंग हो रहा है। यहां और कोई नहीं तो क्या हुआ, मेरी आंखें तो देख ही रही हैं। उसने झट अपनी आंखों पर पट्टी बांधी, लेकिन फिर उसे ख्याल आया, पट्टी बांधना भी बेकार है, क्योंकि भगवान तो सब जगह देखते हैं। मैं कहीं क्यों न चला जाऊं, फिर भी ऐसा कोई स्थान नहीं मिलेगा, जहां भगवान न देखते हों।

सांय तीनों शिष्य गुरुचरणों में पहुंचे। गुरु ने आदेश की पालना के बारे में पूछा। पूछने के साथ ही वसु और पर्वत ने गर्दनकटे मुर्गे गुरु के समक्ष रख दिए, पर नारद चुपचाप बैठा रहा। गुरु ने उससे भी मुर्गा दिखलाने के लिए कहा तो उसने बिना गर्दनकटा मुर्गा सामने रख दिया। गुरु ने आदेश की पालना न करने का कारण पूछा तो उसने सारी बात बता दी। यद्यपि गुरु ने शिष्यों से कुछ भी नहीं कहा, तथापि वे खुद समझ गए कि स्वर्गगामी कौन है और नरकगामी कौन हैं।

आप स्वयं निर्णय करें

हमारी इस परिषद में इतने व्यक्ति बैठे हुए हैं। इनमें से आस्तिक कौन-कौन हैं, इस बात का निर्णय मैं आप पर ही छोड़ देता हूं। जिस व्यक्ति के मन में पाप के प्रति ग्लानि है, पाप हो जाने पर जिसकी अंतर आत्मा में टीस पैदा होती है और जो अनुभव करता है कि मैंने कुछ खो दिया है, वह आस्तिक है। जहां पाप के प्रति ग्लानि नहीं है, आत्मा में टीस नहीं है, खोने का अनुभव नहीं है, वहां नास्तिकता प्रकट होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है

बहुत-से व्यक्ति कहते हैं कि आज के युग में सत्य पर चलना मुमकिन नहीं हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए मैं कहता हूं कि उनका आस्तिक होना भी नामुमकिन है। युग का बहाना लेकर असत्य का पोषण/समर्थन करना मिथ्यात्व है। मैं मानता हूं, इस युग में सत्य पर चलना कठिन तो जरूर है, पर असंभव नहीं है। वे व्यक्ति घोर नास्तिक हैं, जो सत्याचरण को असंभव मान बैठे हैं।

शिष्य ने भगवान महावीर से पूछा कि पाप कितने हैं। इसके उत्तर में भगवान ने अठारह नाम गिनाए। वे हैं–१. प्राणातिपात २. मृषावाद ३. अदत्तादान ४. मैथुन ५. परिग्रह ६. क्रोध ७. मान ८. माया ९. लोभ १०. राग ११. द्वेष १२. कलह १३. अभ्याख्यान १४. पैशुन्य १५. पर-परिवाद १६. रति-अरति १७. माया-मृषा १८. मिथ्यादर्शनशल्य।

भगवान ने कहा–'इन अठारह पापों में से सतरह पाप एक तरफ हैं और मिथ्यादर्शनशल्य पाप एक तरफ है।'

यह मिथ्यात्व का पाप बड़ा पाप है। एक शराबी शराब पीता है, पर वह पीने को बुरा मानता है। तत्त्व की भाषा में वह व्यक्ति पापी तो है, पर उससे भी बड़ा पापी वह है, जो स्वयं शराब पीता तो नहीं है, लेकिन कहता है कि शराब पीना कोई बुराई नहीं है। वह तर्क देता है कि यदि शराब बुरी है तो सरकार इसका करोड़ों का ठेका क्यों देती है।.....चूंकि उस व्यक्ति का दृष्टिकोण ही गलत है, इसलिए बुराई को प्रोत्साहन देता है, हजारों लोगों को बुराई में प्रविष्ट कराता है। इस दृष्टि से उसका पाप शराब पीने से भी ज्यादा बड़ा हो जाता है।

सम्यक दृष्टिकोण का मूल्य

बंधुओ! आप बुराई को बुराई समझें। समझ सही होने के बाद आज नहीं तो कल, बुराई छूटकर रहेगी। अभी मनफूलजी ने कहा कि मैं अणुव्रत को अच्छा मानता हूं, इसलिए आज नहीं तो कल, मुझे अणुव्रती बनना होगा। मैं भी यही कहता हूं कि आप अपना दृष्टिकोण सम्यक बनाएं। शास्त्रों में हमने पढ़ा है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन कत्ल करते थे, पांच-सात कत्ल किए बिना जिन्हें खाना और सोना अच्छा नहीं लगता था, उनका भी भविष्य में सुधार हो गया, क्योंकि उनका दृष्टिकोण सम्यक था, लेकिन उनका सुधार कैसे हो, जो पाप करते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उसे अच्छा समझते हैं?

सच्चे धार्मिक बनें

हमारा धर्म जाग्रत धर्म है। अंध परंपराओं में हमारा विश्वास नहीं है। हम धार्मिक उन्हें मानते हैं, जो पाप करने में संकोच करते हैं, जिनकी आत्मा को पाप हो जाने की स्थिति में प्रायश्चित्त न कर लेने तक चैन नहीं मिलता। ऐसे धार्मिक ही धर्म की आराधना कर सकते हैं। बंधुओ! आप भी इस अर्हता प्राप्त करें, सच्चे धार्मिक और आस्तिक बनें। पग-पग पर आपका मंगल निश्चित है।

सूरतगढ़

९ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४७ : आगे की सुधि लेइ

जीवन क्षणभंगुर है

हमारा जीवन असंस्कृत है। डोर छूट गई तो फिर हाथ में नहीं आएगी। रज्जु टूट गई तो फिर संधान नहीं होगा। हवा निकल गई तो वापस आने की नहीं। हालांकि आज के वैज्ञानिक इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं। डॉक्टर दूसरा हार्ट लगाकर व्यक्ति को जिलाने की कोशिश करते हैं, पर मैं सोचता हूं कि वे वहीं पर सफल हो सकते हैं, जहां जीवनी शक्ति पूर्णतः समाप्त न हो। जीवनी शक्ति समाप्त हो जाने के बाद जीना असंभव है। किसी यंत्र के सहारे भी व्यक्ति जीता है तो उसकी भी एक अवधि है। आखिर तो सबको मरना ही है। इसलिए हमें मानना होगा कि जीवन क्षणभंगुर है। इस क्षणभंगुर जीवन को सफल बनाने के उपाय शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं। *उत्तराध्ययन* सूत्र में कहा गया है–

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्सु हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते,
कण्णू विहिंसा अजया गहिंति॥

जीना बहुत कम है, इसलिए प्रमाद से बचना चाहिए। जागरूक व्यक्ति दो दिन में जो काम कर सकता है, वही काम एक प्रमादी व्यक्ति दो वर्षों में भी नहीं कर सकता। एक अप्रमादी और विशिष्ट ज्ञानी अपनी साधना से कुछ क्षणों में ही इतने कर्म क्षीण कर देता है, जितने कर्म एक प्रमादी और अज्ञानी व्यक्ति हजार वर्षों में भी खत्म नहीं कर सकता। इसलिए जागरूकता लाने की अत्यंत आवश्यकता है, प्रमाद मिटाने की नितांत अपेक्षा है।

बुराई-मात्र भाव निद्रा है। चूंकि भाव निद्रा प्रमाद है, इसलिए प्रमाद को सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। अप्रमत्त रहने के लिए सबसे पहले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुराइयों का प्रतिकार करना होगा। एक व्यक्ति पापकारी कामों में रस लेता है। निद्रा, विकथा, आलोचना, गुस्सा·····में रचा-पचा रहता है। यह प्रमाद का ही परिणाम है। आप निश्चित मानें, प्रमादी व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकता।

सोना अच्छा है या जागना

भगवान महावीर के सामने एक प्रश्न आया कि मनुष्य का सोना अच्छा है कि जागना। भगवान ने उत्तर दिया कि कुछ व्यक्तियों का सोना अच्छा है और कुछ का जागना। जो घोर पापी और क्रूरकर्मी हैं, उन व्यक्तियों का सोना अच्छा है। क्यों? यह इसलिए कि वे जगते रहेंगे तो रात-दिन पाप करेंगे। इसी के समानांतर जो व्यक्ति शांत हैं, संयत जीवन जीते हैं, उनका जगना अच्छा है। उनका सोना संसार का दुर्भाग्य है। उनके जगने से लाखों-करोड़ों भटके हुए पथिकों को राह मिलती है।

प्रसंग आचार्य भिक्षु का

भिक्षु स्वामी खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते थे। उनकी वृद्धावस्था को देखते हुए किसी ने निवेदन किया–'आप बैठे-बैठे प्रतिक्रमण किया करें।' भिक्षु स्वामी ने कहा–'मैं खड़ा-खड़ा प्रतिक्रमण करता हूं तो आनेवाले युग के साधु बैठे-बैठे तो करेंगे। यदि मैं बैठे-बैठे करूं तो वे संभवतः लेटे-लेटे करेंगे।'

जनता अनुकरणप्रधान होती है

श्रीकृष्ण *गीता* में अर्जुन से कहते हैं–

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तद् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते, लोकश्तदनुवर्तते॥

मैं खड़ा हूं। मुझे काम करने की कोई जरूरत नहीं है, पर मैं काम न करूं तो जनता पर गलत असर पड़ेगा। लोग सत्काम करना भी छोड़ देंगे। जनता अनुकरणप्रधान है। अच्छे काम करनेवाले मिल जाएं तो जनता संपूर्ण आस्था से उनका अनुकरण करने के लिए तत्पर रहती है।

आत्म-विकास का सूत्र–अप्रमत्तता

अच्छा काम करनेवालों से तात्पर्य है–अप्रमाद का जीवन जीनेवाले। जो भी व्यक्ति अप्रमाद का जीवन जीते हैं, वे जन-जन के लिए आदरास्पद और श्रद्धेय बन जाते हैं। वस्तुतः अप्रमत्तता महानता का लक्षण और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसके ठीक विपरीत प्रमाद संसार के परिभ्रमण का बहुत बड़ा हेतु है। जिस-किसी के मन में इस परिभ्रमण से मुक्त होने की प्रेरणा जग जाती है, वह फिर प्रमाद से छूटने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, अपने जीवन का चालू प्रवाह मोड़ देता है; और यह प्रेरणा किसी को किसी निमित्त मिल सकती है।

क्या मैं भी बूढ़ा बनूंगा

गौतम बुद्ध ने जब पहली बार वृद्ध व्यक्ति को देखा तो उनके मन में बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने उसी भावधारा में उससे पूछा–'तुम कौन हो?' वृद्ध ने कहा–'मैं एक मनुष्य हूं।' बुद्ध ने कहा–'मनुष्य की ऐसी हालत!' वृद्ध बोला–'मैं एक बूढ़ा मनुष्य हूं।' बुद्ध ने जिज्ञासा की–'क्या तुम सदा ऐसे ही थे?' वृद्ध ने बताया–'नहीं, पहले तो मैं जवान था, सशक्त था, पर इन वर्षों में बुढ़ापे ने आ घेरा है।' बुद्ध ने कहा–'यह बुढ़ापा क्या बला है?' वृद्ध बोला–'प्राणी की एक अवस्था ही बुढ़ापा है।' बुद्ध ने पूछा–'क्या इसका प्रभाव सब पर होता है?' वृद्ध ने उत्तर दिया–'इस प्राकृतिक नियम से कोई नहीं बच सकता। मात्र वे लोग यह अभिशाप नहीं झेलते, जो युवावस्था में ही अपनी जीवन-यात्रा संपन्न कर देते हैं।' सुनकर बुद्ध स्वयं के प्रति आशंकित हो उठे। उन्होंने पूछा–'क्या मैं भी बूढ़ा बनूंगा?' वृद्ध ने कहा–'मैंने स्थिति स्पष्ट कर दी है।'

बस, इसी प्रसंग ने बुद्ध के अंतःकरण को कचोट डाला और वे संसार से विरक्त होकर संन्यासी बन गए।

प्रसंग थावच्चापुत्र का

जैनागमों में थावच्चापुत्र का उदाहरण भी इसी चिंतन का प्रतीक है। थावच्चापुत्र छोटा बच्चा ही था। उसने मकान की छत पर खड़े-खड़े मधुर-मधुर संगीत सुना। वह तत्काल दौड़ा-दौड़ा माता थावच्चा के पास आया और बोला–'मां! यह आवाज कहां से आ रही है? मुझे बहुत अच्छी लगती है।' माता थावच्चा ने कहा–'पुत्र! अपने पड़ौसी के अब तक कोई संतान नहीं थी। आज वर्षों की प्रतीक्षा के बाद उसके घर में लड़के का जन्म हुआ है। अतः परिवार के लोग मंगल गीत गा-गाकर खुशियां मना रहे हैं।' मां के इस उत्तर से बच्चे की जिज्ञासा और बढ़ गई। उसने पूछा–'क्या सभी बच्चों के जन्म के समय मंगल गीत गाए जाते हैं?' थावच्चा ने कहा–'हां, बच्चों के जन्म से आंगन खिल जाता है, अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खुशियों को अभिव्यक्ति देने के लिए मंगल गीत गाए जाते हैं।' थावच्चापुत्र ने अगली जिज्ञासा की–'मां! जब मैं जन्मा था, तब भी क्या ऐसे ही गीत गाए गए थे?' मां ने कहा–'पुत्र! कहां पर्वत और कहां राई! कहां अपना घर और कहां पड़ौसी का घर! जब तेरा जन्म हुआ था, तब तो जाने कितने दिनों तक ऐसे सुहावने गीत गाए गए थे।'

थावच्चापुत्र के मन में उन गीतों का इतना आकर्षण हो गया कि उनका रसास्वादन करने के लिए वह पुनः छत पर चला आया, पर इस बार उसे आनंद नहीं मिला। गीतों में सरसता की जगह विषाद था। स्वर और लय में अंतर था। वह उन्हीं पैरों वापस माता थावच्चा के पास आकर बोला–'मां! अब तो गीत पहले जैसे नहीं हैं। वे कानों को अच्छे नहीं लगते। वह मीठी-मीठी आवाज कहां गायब हो गई?' थावच्चा ने कहा–'जिस बच्चे को पाकर पड़ौसी के घरवाले खुश हो रहे थे, वह बच्चा अब मर गया है। उस बच्चे के विरह में वे लोग व्याकुल हो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं।' थावच्चापुत्र ने पूछा–'मां! क्या सभी लोग मरते हैं?' थावच्चा ने एक अप्रिय सचाई प्रकट करते हुए कहा–'हां, **जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः** यानी जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है।' थावच्चापुत्र के चेहरे पर भय-व्यापने लगा। उसने माता थावच्चा से पूछा–'क्या तुम भी मरोगी?' थावच्चा बोली–'बेटे! मैं क्या, संसार का कोई भी प्राणी मौत का अपवाद नहीं हो सकता। तीर्थंकर भी नहीं।' थावच्चापुत्र आशंकित स्वर में बोला–'फिर क्या मुझे भी मरना होगा?' थावच्चा ने जरा नाराजगी व्यक्त करते हुए कहा–'ऐसी बात मुंह पर मत ला। ऐसी बात फिर मुंह पर लाया तो मैं तेरे से बोलना छोड़ दूंगी।' थावच्चापुत्र बोला–'अच्छा मां! यदि तुम्हें बुरा लगता है तो मैं इस संदर्भ में कुछ भी नहीं पूछूंगा, पर एक बात तो बताओ कि मौत से बचने का कोई उपाय भी है क्या?' थावच्चा बोली–'बेटे! और तो कोई उपाय नहीं है। बस, एक उपाय है और वह है अर्हत अरिष्टनेमि की शरण। उनकी शरण स्वीकार करनेवाला जन्म-मौत की अनंतकालीन शृंखला से छूट सकता है।'

जन्म और मृत्यु के इस भयावह भंवर की बात सुन बच्चे का दिल दहल उठा। वह संसार से विरक्त हो गया और प्रभु अरिष्टनेमि के चरणों में पहुंचकर प्रव्रजित हो गया।

बंधुओ! ऐसे प्रसंगों की परिचर्चा से पापभीरु लोगों की आत्मा जग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती है। फिर वे पाप करने में प्रवृत्त नहीं होते, संसार की मोह-माया में फंसे नहीं रहते। धर्म व्यक्ति-व्यक्ति को जागरण का संदेश देता है।

आगे की सुध लें

बंधुओ! आप भी अपनी आत्मा को जगाएं, प्रमाद से उपरत बनें। हालांकि जब तक प्राणी को बोध नहीं हो जाता, वह जागरण की कीमत नहीं आंक लेता, तब तक उसका प्रमाद से छूटना असंभव है, तथापि जिस दिन, जिस क्षण वह बोध को प्राप्त हो जाता है, जागरण का संदेश सुन लेता है, उसे प्रमाद से उपरत हो जाना चाहिए। यह बहुत प्रसिद्ध कहावत है—**जब जागे तभी सवेरा।** जागरण ही जीवन का सूर्योदय है, प्रभात है। थावच्चापुत्र-जैसे न जाने कितने-कितने प्राणियों ने आज तक अवबोध प्राप्त कर अपने जीवन में सवेरा किया है, सूरज उगाया है; और इस सूर्योदय ने उनके अनंत काल तक प्रमाद में सोने का अवसाद धोया है। संत-जन स्वयं जागरण का जीवन जीते हैं और जन-जन को जागरण का संदेश सुनाते हैं। उनका संदेश सुनकर आप भी संभलें, अपने जीवन का चालू प्रवाह मोड़ें, आगे की सुध लें। यह सुध आपके जीवन में सौभाग्य-सूरज उगाएगी। आपके जीवन का कण-कण आलोकित हो उठेगा।

सूरतगढ़
१० मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४८ : महाव्रत से पूर्व अणुव्रत

अहिंसा परमो धर्मः

अहिंसा परमो धर्मः। अहिंसा को परम धर्म माना गया है। क्यों? यह इसलिए कि यह जीवन की पवित्रता का मौलिक आधार है। जो व्यक्ति अहिंसा की साधना करता है, उसका जीवन निस्संदेह पवित्र बनता है। न केवल वर्तमान जीवन, अपितु अतीत और अनागत भी। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो अहिंसा सबसे बड़ा मंगल है, भव-बंधन से मुक्ति का मार्ग है। मैंने एक पद्य में कहा है–

सब जग क्षेमंकरी अहिंसा, भव समुद्र बिच तरी अहिंसा।
भ्रातृभाव की दरी अहिंसा, अपना हृदय रमाना॥
मानव अपनाना॥
अपनाना एक तत्त्व अहिंसा अपनाना।
सब धर्मों का सत्त्व अहिंसा अपनाना॥

इस पद्य में कहा गया है कि अहिंसा सारे जग के लिए कल्याण का पथ है, संसार-समुद्र को पार करने के लिए नौका है, भ्रातृत्व की दरी है। ऐसी दरी है कि जिस पर हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध ..... हरिजन-महाजन, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष ..... सभी प्रेम से बैठ सकते हैं। इसी लिए सभी धर्मों ने इसे महत्त्व दिया है। जैन-धर्म की तो यह शान ही है, पहचान ही है। जो भी व्यक्ति इसकी महत्ता से परिचित होना चाहता है, लाभान्वित होना चाहता है, वह इसे जीवन में उतारकर देखे।

संतजनों की महत्ता क्यों

संतजन अहिंसा के प्रतीक होते हैं, प्रेरणा होते हैं। उनका संपूर्ण जीवन ही अहिंसामय होता है, पर अहिंसा का अर्थ मात्र किसी जीव को न मारना नहीं है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। असत्प्रवृत्तिमात्र से बचना इसके अंतर्गत आ जाता है। इसलिए पूर्ण अहिंसक बनने के लिए सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार की असत्प्रवृत्तियों से उपरत होना आवश्यक है। साधु-साध्वियां असत्प्रवृत्तिमात्र से उपरत होते हैं। यानी वे हिंसा की तरह ही झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से संबद्ध सारी प्रवृत्तियों का सर्वथा परिहार करते हैं।

आप देखते हैं, बड़े-बड़े धनपति साधु-संतों की चरण-धूलि अपने मस्तिष्क पर लगाते हुए धन्यता की अनुभूति करते हैं। ऐसा क्यों? साधु-संतों के पास ऐसा क्या है, जो उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता है? वह तत्त्व है—शील यानी आचार। इस धन से संपन्न व्यक्ति संसार के बड़े-से-बड़े अर्थसंपन्न व्यक्ति से बहुत बड़ा होता है। इसी आचार-धन की संपन्नता के कारण वह वंदनीय और पूजनीय बनता है। भर्तृहरि ने शील को सर्वश्रेष्ठ भूषण माना है—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः कुलस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

— ऐश्वर्य का भूषण सौजन्य है। वीरता का भूषण वचन-संयम है। ज्ञान का भूषण उपशम है। कुल का भूषण विनय है। धन का भूषण पात्रदान है। तपस्या का भूषण क्षमा है। प्रभावशाली का भूषण सहिष्णुता है। धर्म का भूषण निर्व्याजता यानी निश्छलता है। ये भूषण एक-एक गुण को लक्षित करके बताए गए हैं, लेकिन सबसे बड़ा भूषण शील यानी आचार है।

संन्यास की सिद्धि कब

यह शील/आचार अहिंसा का ही फलित है। जो अहिंसक होता है, वही शीलसंपन्न हो सकता है, आचारनिष्ठ बन सकता है। अहिंसा की संपूर्ण साधना संन्यास मार्ग में ही संभव है। इसलिए संन्यास जीवन-शुद्धि या जीवन-विकास का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। लेकिन आप लोगों में से अधिकतर अभी यह मार्ग स्वीकार नहीं कर सकते। क्यों? यह इसलिए कि अभी तक इसके अधिकारी नहीं हैं। अधिकारी व्यक्ति ही इसे अंगीकार कर सकता है। अधिकारी से मेरा तात्पर्य है—योग्यतासंपन्न। जिस व्यक्ति में संन्यास के पथ पर चलने की योग्यता नहीं, वह यदि यह पथ स्वीकार करता है तो उसका कोई अर्थ नहीं है। एक कृषक कृषि करने की बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छी योग्यता रखता है, पर व्यापार करने की क्षमता उसमें नहीं के बराबर है। ऐसी स्थिति में वह व्यापार नहीं कर सकता; और किसी स्थिति में करता भी है तो वह सफल नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक व्यापारी व्यापार करने की अर्हता से संपन्न है, पर कृषि करने की दृष्टि से बिलकुल अयोग्य है। अब यदि वह अपना व्यापार बंद कर कृषि करना शुरू करता है तो उसका परिणाम क्या होगा, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। वह उसमें सफल नहीं हो सकता। यह मात्र कृषिकार और व्यापारी की ही बात नहीं है, अपितु सर्वमान्य सिद्धांत है कि योग्यता के अभाव में कार्य में सफलता नहीं मिलती।

व्यापारी के एक बड़ा बगीचा था। एक कुशल माली उसकी संभाल करता था। एक बार ऐसा प्रसंग आया कि माली छुट्टी पर चला गया। वैकल्पिक व्यवस्था हो नहीं सकी। इस स्थिति में उस व्यापारी ने स्वयं ही बगीचे की संभाल करने का निर्णय किया। संध्या के समय पौधों को पानी देना था। उसने सोचा–किस पौधे को कितना पानी देना है, यह उसकी गहराई पर निर्भर है। इसलिए पानी देने से पूर्व मुझे प्रत्येक पौधा उखाड़कर देखना चाहिए कि वह कितना गहरा है। बस, इसी चिंतन के साथ उसने हर-एक पौधा उखाड़कर उसकी गहराई देखी और उसके अनुपात में पानी दिया। इसका परिणाम यह आया कि सारे पौधे नष्ट हो गए।

इस उदाहरण से आप समझ सकते हैं कि किसी कार्य की सिद्धि में उसे करने की योग्यता का कितना मूल्य है। जब तक योग्यता हासिल नहीं हो जाती, तब तक व्यक्ति उसे करने का अधिकारी नहीं बनता; और अधिकारी बने बिना वह उसमें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसी अपेक्षा से मैंने कहा, अभी आप लोग संन्यास के अधिकारी नहीं हैं। *गीता* में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को संबोधित करके कहा है कि अभी तक तुम सांख्ययोग के अधिकारी नहीं हो, इसलिए कर्मक्षेत्र में जाओ और युद्ध करो।

अणुव्रत : मनुष्यता का पथ

मैं आपसे युद्ध करने की बात नहीं कहता। मैं तो यह कहना चाहता हूं कि जब तक आप लोग अपेक्षित योग्यता हासिल करके संन्यास स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त न कर लें, तब तक अणुव्रत का पथ स्वीकार करें। इसके आप पूरे अधिकारी हैं। अणुव्रत का पथ सन्नागरिकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का पथ है, मनुष्यता का पथ है। इसे स्वीकार करके आप सच्चे अर्थ में मनुष्य बन सकते हैं।

आज चारों ओर अनैतिकता, भ्रष्टाचार, रिश्वत, धोखाधड़ी, हिंसा, बलात्कार, अनुशासनहीनता-जैसी अनेक बुराइयों का बोलबाला है। फिर इस समस्या का बहुत संवेदनशील बिंदु यह है कि ये बुराइयां दिन-प्रतिदिन अपना शिकंजा कसती ही जा रही हैं। इसका कारण यही तो है कि मनुष्य का सही निर्माण नहीं हो रहा है। यह सुनिश्चित बात है कि जहां मनुष्य मनुष्यता की राह से भटक जाता है, वहां इस प्रकार की स्थिति का बनना बहुत स्वाभाविक है। जहां मूल में ही कड़वाहट है, जहर है, वहां पत्तों, फूलों और फलों में कड़वाहट और जहर कैसे नहीं होगा?

फल मीठा कैसे होगा!

बाबा घूमता-फिरता पहली बार राजस्थान आया। एक दिन वह किसी गांव जा रहा था। मार्ग में उसे कड़ाके की भूख लग गई। उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, पर उसे खाने लायक फल का कोई वृक्ष नजर नहीं आया। आता भी कैसे? राजस्थान के थली क्षेत्र में वृक्षों का अभाव है। फिर फलवाले वृक्षों का तो अति अभाव है। बाबा को चलने में कठिनाई होने लगी, पर कोई उपाय नहीं था, इसलिए जैसे-तैसे चलता रहा। कुछ दूरी तय करने के पश्चात उसे एक खेत में लता के लगा एक फल दिखाई दिया। उसे बड़ा आश्वासन मिला। उसके पैरों में नई गति का-सा संचार हो गया। वह शीघ्र खेत में पहुंचा और उसने बेल के लगा फल तोड़ा। फल देखने में बड़ा सुंदर था। वह कड़वा तुंबा था। बाबा ने वह फल पहले कभी देखा नहीं था, इसलिए उसके स्वाद से अपरिचित था। उसने उसे काटा और खाना शुरू किया। पर यह क्या! मुंह में रखते ही उसका सारा मुंह कड़वाहट से भर गया। बाबा ने ऐसा कड़वा फल कभी नहीं खाया था। उसने उस बेल का फूल तोड़कर चखा। वह भी कड़वा। पत्ती तोड़कर चखी तो वह भी कड़वी। लता भी कड़वी। बाबा चिंतन में पड़ गया कि यह क्या; सभी कड़वे क्यों। समाहित होने के लिए उसने लता उखाड़कर उसकी जड़ चखी और सचमुच उसे समाधान मिल गया। जड़ तो कड़वी ही नहीं, महाकड़वी थी, मानो हलाहल जहर थी। बाबा मन-ही-मन बोल उठा कि जिसके मूल में ही जहर है, उसके फल, फूल, पत्तियां आदि मीठे कैसे होंगे। वे तो कड़वे ही होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज-निर्माण का आधार

बंधुओ! आप भी यह तथ्य समझें। समाज का मूल है--व्यक्ति। जहां व्यक्ति के जीवन का सही ढंग से निर्माण नहीं होगा, वहां समाज का निर्माण कैसे होगा? जहां व्यक्ति ही अस्वस्थ होगा, वहां समाज अस्वस्थ कैसे नहीं होगा? वह तो होगा ही। इसलिए समाज को यदि स्वस्थ बनाना है तो व्यक्ति को स्वस्थ बनाना होगा। उसे मनुष्यता के सांचे में ढालना होगा। जैसाकि मैंने कहा, अणुव्रत मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने का कार्यक्रम है, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन-निर्माण के द्वारा स्वस्थ समाज और स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण का उपक्रम है। हालांकि इसके व्रत दिखने में बहुत छोटे-छोटे लगते हैं, पर इनका असर बहुत गहरा है। इनमें व्यक्ति के जीवन में रूपांतरण घटित करने की अद्‌भुत क्षमता है। न जाने कितने-कितने व्यक्तियों को आज तक इसने हृदय-परिवर्तन की भूमिका पर बुराइयों/दुर्व्यसनों से मुक्त किया है, असंयम से संयम की ओर मोड़ा है। उन्हें मनुष्य की सही प्रतिष्ठा प्रदान की है। आप भी अपनी संकल्प-चेतना जगाकर इस पथ पर आएं और मानव की सही प्रतिष्ठा प्राप्त करें। इस पथ पर बढ़ते-बढ़ते एक दिन ऐसा भी आ सकेगा, जिस दिन आप आत्म-शुद्धि का सर्वोत्कृष्ट पथ--संन्यास स्वीकार करने की अर्हता भी प्राप्त कर सकेंगे।

पीलीबंगा
१२ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४९ : दुःख-मुक्ति का आवाहन—अणुव्रत

संसार सुखकामी है

यह संसार सुख का कामी है। दुःख किसी को काम्य नहीं है, पर चाह मात्र से कोई सुखी नहीं हो जाता। यदि ऐसा संभव हो जाता तो संसार में कोई दुखी प्राणी खोजने से भी नहीं मिलता, लेकिन हम देखते हैं कि संसार में अधिकतर प्राणी दुःख का वेदन करते हैं, अशांत हैं। वस्तुतः सुख-शांति चाह से नहीं, राह से मिलती है। राह के बिना चाह मात्र कल्पना है, सपना है। सपने में कोई व्यक्ति भरपेट भोजन कर सकता है, स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट पकवान खा सकता है, पर उससे उसका कोई मतलब सिद्ध नहीं होता, उसकी उदरपूर्ति नहीं होती। उदरपूर्ति तो जाग्रत अवस्था में भोजन करने से ही हो सकती है। यही बात सुख-प्राप्ति की है। सही मार्ग स्वीकार करके ही व्यक्ति सुख और शांति प्राप्त कर सकता है।

सुख क्यों नहीं

धर्म सुख और शांति का मार्ग है। उस पर चलकर हर व्यक्ति सुखी हो सकता है, शांति का अनुभव कर सकता है, पर संसार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है, जो रास्ता सामने होने पर भी आंखें मूंदकर सो रहे हैं। तब उन्हें सुख कैसे मिल सकता है? शांति कैसे मिल सकती है?

एक गरीब परिवार रास्ते से गुजर रहा था। परिवार में कुल तीन व्यक्ति थे—लड़की और उसके माता-पिता। लड़की ने प्रस्ताव रखा—'हम अपने परिवार में तीन ही व्यक्ति हैं। यदि संयोग से तीनों ही अंधे हो गए तो चलेंगे कैसे? इसलिए हमें पहले ही अभ्यास कर लेना चाहिए।'

माता-पिता ने प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। तीनों सदस्यों ने अपने-अपने हाथ में लकड़ी ले ली और वे आंखें बंद करके चले। मार्ग में अस्थपुट भूमि आई, लेकिन उन्होंने यह नहीं सोचा कि सड़क पर ये ढेर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्यों हैं। अस्थपुट भूमि पार हुई और लड़की बोली–'मैं समझती हूं कि हमारा अभ्यास पूरा हो गया है, इसलिए अब आंखें खोल लेनी चाहिए।' और तीनों ने आंखें खोल लीं।

मार्ग में जो ढेर आए थे, वे मिट्टी के नहीं, बल्कि सोने-चांदी के थे। उनकी गरीबी पर तरस खाकर किसी देवता ने ऐसा किया था, लेकिन संपत्ति पाकर भी चूंकि उन्होंने आंखें मूंद लीं, इसलिए उनका दारिद्र्य नहीं मिट सका। बंधुओ! यही बात सुख और शांति की प्राप्ति के संदर्भ में है। जो लोग मार्ग प्राप्त करके भी प्रमाद में जीते हैं, वे सुख और शांति नहीं पा सकते।

एक बूंद और

इसी प्रकार सुख और शांति का पैगाम सुनकर भी जो व्यक्ति उसे सुना-अनसुना कर देते हैं, वे सुखी नहीं हो सकते, शांति नहीं प्राप्त कर सकते। इस संबंध में मधुबिंदु का उदाहरण प्रसिद्ध है–

एक व्यक्ति रास्ता भूलकर भयंकर जंगल में भटक गया। फिर योग ऐसा मिला कि तेज तूफान आ गया। आकाश में काले-कजरारे बादल छा गए। तेज कड़क के साथ बिजली चमकने लगी। वह राहगीर गहरी मुसीबत में फंस गया। तभी उसने देखा, एक हाथी उसकी तरफ दौड़ा आ रहा है। उससे बचने के लिए वह तेजी से भागा और थोड़ी दूर पर स्थित एक वृक्ष पर चढ़ गया।

उसे वृक्ष पर चढ़ा देखकर हाथी अत्यधिक उत्तेजित हो उठा। उसने अपनी सूंड से वृक्ष पकड़कर उसे पूरी शक्ति के साथ झकझोरा। इस झकझोर से उस व्यक्ति के हाथ से शाखा छूट गई। पर संयोग से गिरते-गिरते वह एक दूसरी शाखा से टकराया। उसने उसे पकड़ लिया। उस शाखा के नीचे एक कुआं था। कुएं के आस-पास सांप और अजगर फुफकार रहे थे। जिस शाखा को उसने पकड़ रखा था, उसे दो चूहे काटने में व्यस्त थे। वृक्ष के ऊपरी भाग में मधुमक्खियों का एक छाता था। वृक्ष की झकझोर से मधुमक्खियां उड़ीं और वे क्रुद्ध होकर उस व्यक्ति को काटने लगीं। ये सारी बातें देखकर उसे लगा कि मैं मौत के द्वार पर खड़ा हूं। किसी क्षण मौत को प्राप्त हो सकता हूं। तभी सहसा ऊपर के छाते से मधु की एक बूंद टपकी और उसके मुंह में पड़ी। उसे वह मधु अत्यंत मधुर लगा। वह आतुरता से अगली बूंद की प्रतीक्षा करने लगा। दूसरी बूंद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके मुंह में पड़ी और तीसरी बूंद की प्रतीक्षा शुरू हो गई। इस क्रम से वह आगे से आगे मधु-बूंद के लिए प्रतीक्षा करने लगा। उसकी आसक्ति इस सीमा तक जग गई कि वह मौत का साक्षात करानेवाली वे परिस्थितियां भी भूल-सा गया।

उसी समय आकाश-मार्ग से जाते हुए एक विद्याधर ने उसे देखा। उसकी स्थिति पर तरस खाकर वह अपना विमान लेकर उसके पास आया और बोला—'भैया! तुम्हें अनेकानेक मुसीबतों से घिरा देखकर दया आ रही है। आओ, इस विमान में बैठो, मैं तुम्हें सकुशल तुम्हारे घर पहुंचा देता हूं।' वह विपद्ग्रस्त व्यक्ति बोला—'आप निस्वार्थ उपकारी हैं। मुझ पर आपकी बड़ी कृपा हुई, पर दो-चार क्षण रुकिए।' विद्याधर ने पूछा—'क्यों, क्या बात है? रुकने का प्रयोजन?' वह व्यक्ति बोला—'प्रयोजन विशेष नहीं है। बात इतनी-सी है कि मधुमक्खियों के छत्ते से शहद की बूंद नीचे गिरनेवाली है। उसमें बड़ा मिठास है। उसका स्वाद लेकर मैं आपके साथ चलूंगा।'

चारों तरफ मौत का भय और एक बूंद के लिए इतनी आसक्ति! देखकर विद्याधर चकित रह गया। बावजूद इसके, दयार्द्र बनकर वह रुक गया। अगले क्षण ही शहद की बूंद टपककर उस व्यक्ति के मुंह में गिर पड़ी। विद्याधर ने अब उसे चलने के लिए पुनः कहा, पर वह व्यक्ति तब तक अगली बूंद के लिए लालायित हो चुका था। उसने फिर प्रतीक्षा करने की बात कही। विद्याधर ने फिर प्रतीक्षा की। इस क्रम से विद्याधर उसे चलने के लिए कहता रहा और वह अगली मधु-बूंद की लालसा व्यक्त करके रुकने के लिए निवेदन करता रहा। आखिर विद्याधर को झुंझलाहट आ गई। उसने कहा—'मूर्ख, आते हो या नहीं? मैंने आज तक तुम-जैसा कर्महीन और बुद्धिहीन व्यक्ति नहीं देखा। एक मधु-बूंद के लिए मारणांतिक मुसीबतें भूल रहे हो!.....'

पर विद्याधर के इन शब्दों का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वह अगली मधु-बूंद की अपनी लालसा छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ। विद्याधर को यह स्पष्ट समझ में आ गया कि इसका मरना अब सुनिश्चित है। जब यह स्वयं मौत से बचना नहीं चाहता, तब मैं क्या, कोई इसे नहीं बचा सकता। बस, इस चिंतन के साथ वह तत्काल वहां से रवाना हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-निरीक्षण करें

बंधुओ! आप उस व्यक्ति की नासमझी पर तरस खा सकते हैं, पर आप अपना आत्म-निरीक्षण तो करें। कहीं ऐसी ही नासमझी आप स्वयं तो नहीं कर रहे हैं? क्षणिक भौतिक सुखों और नश्वर धन-वैभव की आसक्ति में कहीं दुःख-मुक्ति का आवाहन सुना-अनसुना तो नहीं कर रहे हैं? जैसाकि प्रारंभ में मैंने कहा, धर्म सुख और शांति का मार्ग है। वैसे, सुख-प्राप्ति और दुःख-मुक्ति दो बातें नहीं हैं। अणुव्रत धर्म का ही सरल संस्करण है। वह दुःख-मुक्ति का आवाहन है, शांति का पैगाम है। संतजन विद्याधर की तरह दुःख-मुक्ति के पथ पर आने का आह्वान कर रहे हैं, शांति का पैगाम सुना रहे हैं। उसे सुनकर भी यदि आप उसे स्वीकार नहीं करते हैं तो संतजन चाहकर भी आपको दुःख-मुक्त नहीं कर सकेंगे, शांति का अनुभव नहीं करा सकेंगे। मैं समझता हूं, आपमें से एक भी व्यक्ति उस राहगीर की तरह स्वयं को नासमझ कहलाना पसंद नहीं करता। इसलिए दुःख-मुक्ति और शांति के पैगाम—अणुव्रत को स्वीकार करें।

अणुव्रत व्यक्ति को आत्मानुशासी बनाता है, उसके जीवन में संयम के बीज बोता है। यह एक त्रैकालिक तथ्य है कि संयम सुख का मौलिक आधार है, शांति का वाचक है। जैसे-जैसे जीवन में संयम का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे व्यक्ति गहरे-से-गहरे सुख और शांति की अनुभूति करने लगता है। आप भी यह बात समझें और संयममय जीवन की ओर मुड़ें, अणुव्रत के राजपथ पर आएं। आपके जीवन का क्षण-क्षण सुख और शांति की अनुभूति से गुजरने लगेगा।

पीलीबंगा
१४ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५० : आचार और मर्यादा

साधु कौन

भारतीय संस्कृति में साधु को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। साधु कौन होता है? जो साधना करता है, उसे साधु कहा जाता है। पूछा जा सकता है कि साधना का स्वरूप क्या है। साधना का स्वरूप स्पष्ट है। पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां—इन तेरह नियमों का पालन करना साधु की साधना है। जो इन तेरह नियमों की अखंड आराधना करते हैं, वे ही सच्चे साधु हैं। जो इनकी आराधना नहीं करते, वे वेशधारण करने से व्यवहार में भले साधु कहलाएं, पर निश्चय में साधु नहीं हैं।

पांच महाव्रत

पांच महाव्रत निम्नांकित हैं—

१. अहिंसा—प्राणिमात्र के प्रति संयम और समत्व की साधना।

२. सत्य—जीवन के हर स्तर पर मृषा का असेवन।

३. अचौर्य—अदत्त का अग्रहण।

४. ब्रह्मचर्य—आत्मरमण। मन और इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण।

५. अपरिग्रह—किसी प्रकार का संग्रह नहीं करना। आवश्यक धर्मोपकरणों पर मूर्च्छा का परित्याग।

पांच समितियां

पांच समितियां निम्नोक्त हैं—

१. ईर्यासमिति—एक-एक कदम सावधानीपूर्वक देखकर चलना।

२. भाषासमिति—निरवद्य, संयत और परिमित भाषा का विवेकपूर्वक प्रयोग करना।

३. एषणासमिति—बयालीस प्रकार के भिक्षा-दोषों का वर्जन करते हुए भिक्षा ग्रहण करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. आदाननिक्षेपसमिति–वस्त्र-पात्र आदि संयमपूर्वक लेना और रखना।

५. उत्सर्गसमिति–मल-मूत्र आदि का विवेकपूर्वक उत्सर्ग करना।

तीन गुप्तियां

तीन गुप्तियां निम्नलिखित हैं–

१. मनगुप्ति–सावद्य प्रवृत्तियों से मन का निवर्तन और मनोनिग्रह करना।

२. वचनगुप्ति–सावद्य प्रवृत्तियों से वचन का निवर्तन तथा वचन-निग्रह करना।

३. कायगुप्ति–सावद्य प्रवृत्तियों से काया का निवर्तन तथा काय-निग्रह करना।

महाव्रतों को एक तंबू से उपमित किया गया है। इसे तानने के लिए समितियां और गुप्तियां रस्सियों का काम करती हैं। जो साधक समिति-गुप्तियों की साधना में जागरूक नहीं रहता, वह महाव्रतों की अखंड आराधना नहीं कर सकता। इसलिए महाव्रतों के साथ इनकी साधना पर बल दिया गया है। इन तेरह नियमों के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाए तो वह है–आचार। आचारसंपन्न साधक ही साधु नाम को सार्थक करता है।

संघीय मर्यादाएं

तेरापंथ के प्रणेता आचार्य भिक्षु इस युग के प्रभावक आचार्य थे। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में महान क्रांति की। उनकी वह क्रांति ही *तेरापंथ* के रूप में प्रसिद्ध हुई। उन्होंने आचार की शुद्ध पालना और धर्मसंघ की सुव्यवस्था के लिए अनेक प्रकार की मर्यादाओं का निर्माण किया। उन मर्यादाओं का पालन करना भी महाव्रतों और समिति-गुप्तियों की तरह साधु-साध्वियों के लिए आवश्यक है। तेरापंथ धर्मसंघ के आचारसंपन्न, अनुशासनसंपन्न और सुव्यवस्थासंपन्न होने में उन मर्यादाओं की अहम भूमिका है। यों तो आचार्य भिक्षु ने आवश्यकतानुसार उन मर्यादाओं में परिवर्तन का संपूर्ण अधिकार उत्तरवर्ती आचार्यों को दिया है, पर वे मर्यादाएं धर्मसंघ के अस्तित्व एवं उसके विकास के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि आज तक भी मौलिक मर्यादाओं में परिवर्तन की कोई अपेक्षा महसूस नहीं हुई, बल्कि ज्यों-ज्यों समय गुजर रहा है, उनकी मूल्यवत्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अधिक बढ़ती जा रही है। एक दृष्टि से वे मर्यादाएं धर्मसंघ के लिए लक्ष्मण-रेखाएं हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि उन मर्यादाओं के संरक्षण में यह धर्मसंघ सदा फलता-फूलता रहेगा। धर्मसंघ के प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य है कि वह उन मर्यादाओं का सजगतापूर्वक पालन करे। वे मौलिक मर्यादाएं हैं–

१. संघ के सभी साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।

२. कोई साधु-साध्वी अपना शिष्य-शिष्या न बनाए।

३. आचार्य भी योग्य व्यक्ति को दीक्षा दें। दीक्षा देने के पश्चात भी कोई अयोग्य मालूम पड़े तो उसे गण से पृथक कर दें।

४. आचार्य अपने गुरुभाई या शिष्य को उत्तराधिकारी बनाएं तो सब साधु-साध्वियां उस निर्णय को सहर्ष स्वीकार करें।

५. कोई साधु-साध्वी पद के लिए उम्मीदवार न बने।

६. सिद्धांत, मर्यादा और परंपरा के किसी विवादस्पद विषय पर कोई साधु-साध्वी उलझे नहीं। आचार्य जो निर्णय दें, उसे स्वीकार कर ले। यदि उस निर्णय पर श्रद्धा न हो तो उसे केवलगम्य कर दे। पर दूसरे-दूसरे साधु-साध्वियों से उसकी चर्चा करके उन्हें शंकाशील बनाने का प्रयास न करे।

७. संघ का कोई सदस्य संघ से बहिष्कृत और बहिर्भूत साधु-साध्वियों को किसी प्रकार का प्रश्रय न दे।

हालांकि इनमें से अधिकतर मर्यादाएं साधु-साध्वियों के लिए हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि ये मर्यादाएं श्रावक-श्राविकाओं के लिए उपयोगी नहीं हैं। श्रावक-श्राविकाओं को भी इन मर्यादाओं के प्रति सजगता बरतनी चाहिए। जहां-कहीं इन मर्यादाओं की पालना में प्रमाद नजर आए, उसे मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए। उनकी यह सजगता धर्मसंघ के उज्ज्वल भविष्य का एक सुदृढ़ आधार है।

हम आचार्य भिक्षु के अत्यंत ऋणी हैं, जिन्होंने हमें एक मर्यादित, अनुशासित एंव सुव्यवस्थित संघ दिया। हालांकि संख्या की दृष्टि से बड़े-बड़े धर्मसंघ आज हमारे सामने हैं, तथापि जहां भी शुद्धाचार, मर्यादा, अनुशासन और सुव्यवस्था का प्रश्न आता है, वहां तेरापंथ का नाम शीर्षस्थ रहता है। यह हमारे लिए अत्यंत गौरव की बात है। हर कीमत पर हमें यह गौरव सुरक्षित रखना है। इसी में हम सबका हित निहित है।

पीलीबंगा, १५ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१ : स्वस्थ समाज रचना

आज हम श्रीगंगानगर जिले की यात्रा संपन्न कर सरदारशहर पहुंचे हैं। यात्रा का सामान्य अर्थ है—एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच की दूरी तय करना। पर शास्त्रों में यात्रा शब्द विशेष अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ दर्शनों में यात्रा का अर्थ तीर्थस्थान या देवमिलन बताया गया है। जैन-दर्शन में जीवन-चर्या के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इस अर्थ में हमारी यह यात्रा सतत चालू ही रहती है। हमारी सतत साधना की जीवनचर्या ही हमारी यात्रा है।

यों तो मैं अकेला भी साधना कर सकता हूं, लेकिन मैं अकेला ही नहीं हूं, एक बहुत बड़े संघ के उत्तरदायित्व से भी जुड़ा हुआ हूं। ऐसी स्थिति में सैकड़ों साधु-साध्वियां की साधना का पथ-दर्शन करना भी मेरी साधना का एक हिस्सा है। लाखों-लाखों श्रावक-श्राविकाओं को जीवन-निर्माण की दिशा दिखाना भी मेरी जीवनचर्या के साथ जुड़ा हुआ है। इससे भी आगे, स्वस्थ समाज संरचना के लिए कार्य करना भी मेरी जीवनचर्या का एक अंग है। इसलिए जब तक वैयक्तिक साधना के साथ-साथ ये सारी बातें नहीं होतीं, तब तक मेरी यात्रा संपन्न कैसे हो सकती है?

प्रश्न होता है कि स्वस्थ समाज का स्वरूप क्या है। मेरी दृष्टि में वह समाज स्वस्थ है, जिसमें व्यसन न हों, जिसकी जीवनशैली सात्त्विकता, सादगी और श्रमप्रधान हो। दूसरे शब्दों में ज्ञान, दर्शन व चारित्र की त्रिवेणी से आप्लावित समाज स्वस्थ समाज है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का प्रतिनिधि शब्द है—धर्म या अध्यात्म। जहां धर्म विकसित होता है, वहां जीवन का निर्माण होता है और समाज स्वस्थ रहता है। इसके विपरीत जहां धर्म को सिंचन नहीं मिलता, उसे उपेक्षित कर दिया जाता है, वहां जीवन का निर्माण नहीं होता और समाज रुग्ण बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल एक युवक ने मुझसे प्रश्न किया कि उपासना और चरित्र–धर्म के इन दो अंगों में से किसे महत्त्व देना चाहिए। जीवन-विकास की दृष्टि से मैं उपासना और चरित्र दोनों को ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक मानता हूं, पर इस संदर्भ में यह बात अवश्य समझ लेने की है कि चरित्र जीवन का अभिन्न साथी है, जबकि उपासना उसमें प्रेरक है। जो उपासना व्यक्ति के लिए अपना चरित्र उज्ज्वल रखने की प्रेरणा न बने, उस उपासना का कोई महत्त्व नहीं है। दूसरे शब्दों में वह धर्म का अंग नहीं है, धर्म नहीं है। मैं जाग्रत उपासना को धर्म का अंग मानता हूं। इस दृष्टि से स्वाध्याय, ध्यान, सत्संग आदि बातें उपासना के अंतर्गत आती हैं। इन्हें जीवन के साथ जोड़ने से जीवन निर्मित होता है, पवित्रता सधती है, चरित्र निर्मल बनता है।

मैं देख रहा हूं, आजकल स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रवृत्तियों के प्रति लोगों के मन में अभिरुचि बहुत कम है। सत्संग का भी अभाव है। इसका परिणाम हमारे सामने है। समाज के लोगों का जीवन-निर्माण सही ढंग से नहीं हो रहा है। यदि ये तत्त्व जीवन का एक हिस्सा होते तो यह स्थिति पैदा नहीं होती।

स्वाध्याय, ध्यान आदि की बात मैं एक बार छोड़ता हूं, एक सत्संग की बात ही लेता हूं। साधु-संतों की संगत व्यक्ति का जीवन रूपांतरित करने की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। उनके साधनामय जीवन का व्यक्ति के हृदय पर वह चामत्कारिक प्रभाव होता है कि सामान्य व्यक्ति उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। श्रीगंगानगर जिले के यात्रा के ऐसे अनेक प्रसंग मेरे सामने हैं, जो इस बात को सत्यापित करते हैं। एक व्यक्ति है–सरदार बलसिंह। उसने शराब-शराब में तीन लाख रुपए बर्बाद कर दिए। एक दूसरे सरदार ने इसी शराब में पचीस मुरब्बा (पचीस बीघा का एक मुरब्बा) जमीन पूरी कर दी। किंतु सत्संग का उनके जीवन पर जादुई असर हुआ और उन्होंने इस बुराई से मुक्ति पा ली।

एक तरफ सत्संग से जीवन का रूपांतरण और दूसरी तरफ उसके प्रति उपेक्षा! यह उपेक्षा कहां तक उचित है, आप स्वयं समझ सकते हैं। सत्संग के प्रति यह उपेक्षा की बात केवल सरदारशहर के लिए नहीं है, अपितु लगभग पूरे थली संभाग की यही स्थिति है। इस उदासीनता को तोड़ना अत्यंत आवश्यक है। यह उदासीनता टूटेगी, तभी सुसंस्कारों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन में वपन हो सकेगा, जीवन-निर्माण की दिशा उद्घाटित हो सकेगी। फिर यह आम शिकायत शायद सुनने को नहीं मिलेगी कि आज की नई पीढ़ी संस्कार-विहीन हो रही है।

उपासक दीक्षा : एक प्रयोग

नई पीढ़ी में सुसंस्कारों के जागरण की दृष्टि से मेरे दिमाग में एक परिकल्पना है। बौद्ध धर्म प्रत्येक व्यक्ति को सावधिक संन्यासी बनने की बात कहता है, क्योंकि इससे धर्म के संस्कार मिलते हैं। हालांकि जैन-धर्म में ऐसी कोई परंपरा नहीं है, तथापि मुझे लगता है कि यह एक उपयोगी बात है। मैं चाहता हूं, इस दिशा में हमें भी चिंतन करना चाहिए। प्रारंभिक रूप में परिवार-परिवार से एक-एक व्यक्ति एक वर्ष के लिए उपासक की दीक्षा स्वीकार करे। इस अवधि में उसका घर से लगभग संबंध विच्छिन्न-सा रहे। पूरे साल-भर उसका प्रशिक्षण चले। इस प्रशिक्षण-काल में उसे कर्म के साथ धर्म को जोड़ने की कला सिखाई जाए। मैं मानता हूं, जीवन की हर प्रवृत्ति में धर्म की पुट रखने की कला आ जाती है तो जीवन स्वतः निर्मित हो जाता है। मैंने इस संदर्भ में संकेत दिया है, पर इसकी क्रियान्विति समाज के लोगों की तैयारी पर निर्भर है। मैं चाहता हूं, इस बिंदु पर सभी गंभीरता से चिंतन करें। स्वस्थ समाज के निर्माण की दृष्टि से यह प्रवृत्ति अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

सरदारशहर
२५ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२ : अणुव्रत : जाग्रत धर्म

धर्म आकाश की तरह व्यापक है

धर्म एक अखंड सत्य है। यह उतना ही व्यापक है, जितना आकाश। संप्रदाय धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उपयोगी होते हैं, पर वे धर्म को अपनी सीमा में नहीं समेट सकते। संप्रदायों को हम छोटे-बड़े घरों की तरह समझ सकते हैं। हर छोटे-बड़े घर में आकाश रहता है, पर कोई भी घर संपूर्ण आकाश नहीं घेर सकता। उसकी सीमा के बाहर भी निस्सीम आकाश रहता है, पर लोगों ने अपनी संकीर्ण वृत्ति के कारण धर्म-जैसे व्यापक तत्त्व को संप्रदायों की सीमित चारदीवारी में कैद करने की कोशिश की है।

इसी प्रकार धर्म को वर्गविशेष में बांधने का प्रयास हुआ है। यह भी लोगों की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिणाम है। हालांकि किसी वर्ग में धर्म रह सकता है, तथापि यह बहुत स्पष्ट है कि वर्ग और धर्म का परस्पर कोई संबंध नहीं है। वर्गविशेष में उसे बांधने का प्रयास करना उसकी उपयोगिता कम करना है।

यद्यपि ऐसे प्रयत्नों से धर्म की व्यापकता में कहीं कोई अंतर नहीं आया, तथापि धर्म से जो लाभ लोगों को मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल सका। यही कारण है कि धर्म शब्द का अपकर्ष हो गया है। लोगों में उसके प्रति जो आदर की भावना होनी चाहिए, वह नहीं है। कुछ लोग तो उससे घृणा तक करते हैं। हालांकि धर्म के मौलिक स्वरूप से कोई घृणा कर नहीं सकता, तथापि जहां वह संकीर्णता के साथ जुड़ जाता है, वैमनस्य फैलाता है, वहां वह घृणा का पात्र बन ही जाता है। अणुव्रत ने धर्म को संप्रदाय, वर्ग आदि की संकीर्ण सीमाओं से बाहर निकालकर उसे पुनः व्यापक स्वरूप प्रदान करने का गौरव प्राप्त किया है। उसके प्रयत्न से धर्म के प्रति लोगों के मन में जमी गलत अवधारणा समाप्त हो रही है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घृणा का भाव कम हो रहा है। वे उसे सुख-शांतिमय जीवन के आधार के रूप में जानने-पहचानने लगे हैं। वस्तुतः धर्म तो जीने की कला का नाम ही है। जो व्यक्ति यह कला सीख लेता है, वह उत्कृष्ट जीवन जीने की कला सीख लेता है।

नव-नवोन्मेष अपेक्षित हैं

बंधुओ! धर्म को जन-आकर्षण का केंद्र बनाए रखने के लिए यह नितांत अपेक्षित है कि उसमें नए-नए उन्मेष आते रहें। वह तत्त्व रूढ़ हो जाता है, जिसमें समयानुसार परिवर्तन/संशोधन न हो। आप देखें, जिस मकान की साल-दो साल से लिपाई-पुताई होती रहती है, वह नया-सा लगता है। उसके प्रति अनाकर्षण पैदा नहीं होता। पर उसी मकान की यदि चालीस-पचास वर्ष तक संभाल न हो तो वह खंडहर में बदल सकता है। उसके प्रति आकर्षण नहीं रहता। इसलिए मैंने कहा कि यदि धर्म को जन-आकर्षण का केंद्र बनाए रखना है तो उसे बार-बार संवारना जरूरी है, उसमें नए-नए उन्मेष लाना जरूरी है। अणुव्रत इसी दिशा में एक प्रयत्न है, धर्म का मौलिक स्वरूप सुरक्षित रखते हुए उसे युगीन अपेक्षाओं और परिस्थितियों के अनुरूप ढालने का प्रयास है। आज के युग की समस्याओं का वह समुचित समाधान प्रस्तुत करता है। मैं मानता हूं, जो धर्म युगीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत न कर सके, उसे जनता अस्वीकार कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं। इसलिए उसकी प्रासंगिकता बनाए रखना नितांत अपेक्षित है। जो धर्म अपनी प्रासंगिकता बनाए रखता है, वह जीवित धर्म है। उसे कभी कोई नकार नहीं सकता। सौभाग्य से विरासत के रूप में हमें यह दृष्टिकोण प्राप्त हुआ है। उसका ही यह सुफल है कि हम अणुव्रत का कार्यक्रम प्रस्तुत कर सके। अपेक्षा है, इस कार्यक्रम का यथार्थता के धरातल पर मूल्यांकन हो और जन-जन धर्म के इस जाग्रत रूप को अपने जीवन का अंग बनाए।

सरदारशहर
२८ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५३ : समता का दर्शन

सिद्धांत और व्यवहार

जैन-दर्शन समता का दर्शन है। इस दर्शन ने समता की जो व्यापक बात कही है, वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। साम्यवाद मनुष्य-मनुष्य के बीच समता की बात करता है, जबकि जैन-दर्शन प्राणिमात्र के प्रति समता की बात करता है। आप कह सकते हैं कि जब मनुष्य-मनुष्य की समता की बात भी संभव नहीं हो रही है, समता रखनेवालों के प्रति समता रखना भी कठिन हो रहा है, तब प्राणिमात्र के प्रति समता का सिद्धांत व्यवहार्य कैसे हो सकता है। मैं मानता हूं, समता के सिद्धांत का पठन, वाचन, उच्चारण, स्पष्टीकरण या विवेचन ही सुगम है, उसे व्यवहार में लाना सुगम नहीं है। वह तो कठिन ही है। यदि वह सुगम हो तो व्यवहार्य बनने में कोई समस्या ही न रहे; और जहां यह सिद्धांत व्यवहार्य बन जाए, फिर किसी प्रकार की उलझन शेष नहीं बचती।

सिद्धांत को व्यवहार्य बनाने के संदर्भ में एक बात गहराई से समझने की है। हर-एक सिद्धांत सबके लिए समान रूप से होता है, पर व्यवहार्य सबके लिए समान रूप से नहीं होता। व्यापार अर्थार्जन का मार्ग है, पर सबके लिए वह व्यवहार्य कहां है? यदि सबके लिए वह व्यवहार्य होता तो क्या सभी व्यापारी नहीं बन जाते? फिर यदि सारे व्यापारी बन भी जाते तो सभी अर्थार्जन कर पाते, यह क्या जरूरी है? यही बात समता के सिद्धांत के संबंध में है। समता का सिद्धांत सबके लिए है। जो भी इसे व्यवहार्य बनाए, उसे यह शांति देनेवाला है, लेकिन सब इसे व्यवहार्य नहीं बना पाते हैं। कुछ लोग ही इसे व्यवहार्य बना पाते हैं। हां, जो व्यवहार्य बनाते हैं, उनके लिए यह वरदान साबित होता है। उनका जीवन प्रकाश से भर जाता है, किंतु जो इसे व्यवहार्य नहीं बना पाते, उनके लिए यह वरदान नहीं बन पाता। उनके जीवन में वह प्रकाश नहीं कर पाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक रुपए से कमरा भरना है

पिता ने अपने दोनों पुत्रों को एक-एक रुपया संभलाते हुए निर्देश दिया कि अपना-अपना कमरा कोई चीज खरीदकर उससे भर दो। बड़े बेटे ने बहुत सोचा, पर उसे ऐसी कोई चीज ध्यान में नहीं आई, जिसे एक रुपए में खरीदकर उससे पूरा कमरा भरा जा सके। अंततः उसे एक बात सूझी। उसने एक रुपए की एक गाड़ी मिट्टी मंगाई और उसे सारे कमरे में बिछा दी। छोटे बेटे ने चिंतन किया कि पिताजी ने जब एक रुपए में पूरा कमरा भरने की बात कही है तो निश्चय ही इसमें कोई रहस्य होना चाहिए। भाई साहब ने तो खैर, अपना कमरा मिट्टी से भर दिया है, पर इतना सुंदर कमरा मिट्टी से भरने के लिए तो नहीं है। मुझे तो अपना कमरा किसी अच्छी चीज से भरना चाहिए। वह एकाग्र बनकर सोचने लगा कि एक रुपए में कमरा भरा जा सके, इतनी पर्याप्त अच्छी चीज क्या आ सकती है। कुछ देर चिंतन-धारा में बहते-बहते वह किनारे पहुंच गया। वह तत्काल उठकर बाजार गया और उसने एक रुपए की कुछ मोमबत्तियां और एक माचिश की पेटी खरीदी। घर आकर उसने अपने कमरे के चारों कोनों में चार मोमबत्तियां जला दीं। सारा कमरा प्रकाश से जगमगा उठा।

बंधुओ! आप देखें मोमबत्ती कमरे को प्रकाशित कर सकती है, किसी का भी कमरा प्रकाशित कर सकती है। उसके सामने कोई भेदरेखा नहीं है, पर करती है उसी का कमरा, जो उसे जलाता है। जो मोमबत्ती जलाता ही नहीं, रेत ही डालता है, उसका कमरा कैसे प्रकाशित हो सकता है? यही बात समता के सिद्धांत के संदर्भ में है। समता का दर्शन निस्संदेह जीवन को शांति और सुख के प्रकाश से आलोकित करनेवाला है, पर करता उन्हीं के जीवन को है, जो इसे व्यवहार्य बना पाते हैं। संसार में ऐसे नासमझ और अभागे लोगों की कोई कमी नहीं है, जो इस महान सिद्धांत का भी लाभ नहीं उठा पाते।

समता स्वयं की वृत्तियों से संबद्ध है

समता के बारे में एक बात और समझने की है। समता या अहिंसा का संबंध मूलतः व्यक्ति की अपनी वृत्तियों से है। दूसरा उसकी प्रवृत्ति के निमित्त से सुखी बनता है या दुखी, यह बहुत गौण बात है। यह उसके समत्व की कसौटी नहीं है। उसके समत्व की कसौटी उसकी स्वयं की आत्मा ही है। इसका कारण भी है। व्यक्ति चाहकर भी किसी को सुखी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और दुखी नहीं बना सकता। वह मात्र उसका निमित्त बन सकता है। सुखी और दुखी होने में उपादान कारण व्यक्ति स्वयं होता है।

पाप किसे होता है

पिछले दिनों हमने श्रीगंगानगर जिले की मंडियों की यात्रा की। वहां धूम्रपान-निरोध के लिए तीव्र प्रयत्न किया। हमारे इस अभियान को लक्ष्य करके एक व्यक्ति ने कहा–'आपके इस कार्यक्रम से हजारों दुकानदारों को नुकसान होता है। बताइए कि इसका पाप किसे होता है।' मैंने उसे समझाया–'हम तो जन-जीवन को धूम्रपान की बुराई से मुक्त करवाने के पवित्र उद्देश्य से कार्य करते हैं। दुकानदारों को नुकसान पहुंचाना हमारे उपदेश/कार्यक्रम का कोई उद्देश्य नहीं है। उनके प्रति हमारे मन में किंचित भी द्वेष की भावना नहीं है। जब हम समत्वबुद्धि से अपना कार्य करते हैं, तब पाप लगने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वे दुकानदार यदि दुखी होते हैं तो अपने गलत धंधे के कारण। उससे हमारा कोई संबंध नहीं है।'

शराब और सरकारी नीति

मैं एक मंडी में गया। वहां के कुछ सात्त्विक वृत्तिवाले किसान मिलकर मेरे पास आए और बोले–'आचार्यजी! मिनिस्टर लोग हम सामान्य लोगों की बात तो सुनते नहीं हैं, पर आपकी बात सब सुनते हैं, क्योंकि आपका सब पर अच्छा प्रभाव है। कृपया हमारी ओर से आप उन तक दो बातें अवश्य पहुंचा दें। पहली बात है–शराब कानूनन बंद कर दी जाए। दूसरी बात है–जनता को हथियारों की सप्लाई न की जाए। आचार्यजी! इस एरिया के लोग शराब पीकर पागल हो जाते हैं और हथियारों के द्वारा बड़ी आसानी से कत्ल करते रहते हैं। इस कठिन परिस्थिति से आप ही हमें उबार सकते हैं।'

मैंने वहां की स्थिति का अध्ययन किया तो मुझे उनकी बात तथ्यपरक लगी। श्रीगंगानगर शहर में सरकार ने दो करोड़ रुपयों का शराब का ठेका दे रखा है। आस-पास की मंडियों में कहीं पांच लाख का, कहीं दस लाख का, कहीं बीस लाख का……ठेका है। ठेका देने के बाद शराब बिके या न बिके, इसकी जिम्मेदारी सरकार की नहीं रहती। सारी जिम्मेदारी ठेकेदारों की रहती है। ठेकेदार शराब बेचने के लिए येन केन प्रकारेण उसके प्रति जनता में आकर्षण पैदा करते हैं, प्रलोभन देते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुफ्त में भी पिलाते हैं। इन सब बातों से शराब पीने की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है; और शराब के नशे में धुत होकर जरा-जरा-सी बात में हत्या करना तो सामान्य-सी बात है। इसमें हथियारों का भी पूरा योग मिलता है। पर जड़ में है–शराब। मैंने सरकारी अफसरों से बातचीत की। उन्होंने बताया कि शराब के इन ठेकों से राजस्थान सरकार को आठ करोड़ रुपयों की आय होती है। ऐसी स्थिति में इसे बंद नहीं किया जा सकता।

'आठ करोड़ रुपयों की आय होती है'–इस तर्क के आधार पर शराब को चालू रखने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। मैं नहीं समझता कि ऐसी आय किस काम की, जो जनता का चरित्र गिराए, अनेक प्रकार की बुराइयों को प्रोत्साहित करे। खैर, इस संबंध में सोचना और निर्णय करना सरकार का काम है। मैं उस पर दबाव नहीं डाल सकता, मात्र उसे अपने दृष्टिकोण से परिचित ही करा सकता हूं, बुराई को प्रोत्साहन न देने की प्रेरणा ही दे सकता हूं।

जरूरी है जन-चेतना का जागरण

जहां तक कानूनन शराबबंदी की बात है, इस संदर्भ में मेरे विचार बहुत स्पष्ट हैं। कानून से शराब की प्रवृत्ति पर एक सीमा तक अंकुश तो लग सकता है और इस दृष्टि से उसका सामाजिक उपयोग भी है, पर इस दुर्व्यसन को समाप्तप्रायः करने के लिए तो जन-चेतना जगाना आवश्यक है। एक तरफ समुचित और प्रभावी व्यवस्था और दूसरी तरफ हृदय-परिवर्तन के स्तर पर जन-चेतना-जागरण का कार्य–ये दोनों बातें साथ-साथ चलें तो इस दुष्प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है।

जैसाकि मैंने कहा, सरकार को इस संदर्भ में कुछ करने की बात उसे ही सोचनी होगी। वह कदाचित सोच भी सकती है और नहीं भी सोच सकती। इसलिए उसकी बात हम उस पर ही छोड़ते हैं। हम अपनी बात सोचें। इस बुराई के दुष्परिणामों के प्रति जन-चेतना जगाने का काम हम साधु-संतों का है। यह काम हम अनवरत कर रहे हैं। इस कार्य से यदि किसी ठेकेदार का ठेका बंद होता है या उसे नुकसान होता है तो उसके लिए हम किंचित भी जिम्मेदार नहीं हैं। किसी की रोजी-रोटी की व्यवस्था समाप्त करना हमारा उद्देश्य कदापि नहीं है। हमारा उद्देश्य तो बुराई समाप्त करना है। बुराई के प्रतिकार का यह काम साधु-संत सदा से करते आए हैं। यह कर्तव्य निभाने में उनकी समता की साधना किंचित भी खंडित नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती, बल्कि मैं तो ऐसा मानता हूं कि इस दिशा में प्रयत्न न करना, अपने कर्तव्य से विमुख होना है। इसलिए हम अणुव्रत के माध्यम से समाज में व्याप्त प्रत्येक बुराई के विरोध में तटस्थ भाव से आवाज उठाते हैं।

चुनाव और अणुव्रत

कल ही जैनेंद्रजी ने कहा—'इलेक्शन का समय निकट आ रहा है। इस कारण अंधाधुंध की स्थिति चल रही है। जैसे-तैसे अमुक पार्टी या अमुक व्यक्ति की विजय के लिए प्रयत्न हो रहा है। इसमें औचित्य-अनौचित्य का बिलकुल ध्यान नहीं रहता। इस अनैतिक वातावरण को मिटाने में अणुव्रत ही सक्षम है, क्योंकि इसका किसी पार्टी, वर्ग या व्यक्तिविशेष से लगाव नहीं है। तटस्थ भाव से यह कड़ी चेतावनी दे सकता है। यह काम सामयिक है और करणीय है। अतः अणुव्रत को यह काम करना चाहिए।'

मैं जैनेंद्रजी के इस विचार से सहमत हूं कि अणुव्रत चुनाव का अनैतिक वातावरण मिटाने में सक्षम है। वह सभी संबद्ध व्यक्तियों को समान रूप में उचित बात कह सकता है, चेतावनी दे सकता है। इसलिए अणुव्रती कार्यकर्ताओं को इस दृष्टि से व्यवस्थित अभियान शुरू करना चाहिए।

समता निषेधात्मक भी है

कुछ व्यक्ति अहिंसा यानी समता को केवल विधेयात्मक मानते हैं, लेकिन यह मानना भूल है। अहिंसा के विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों रूप हमारे सामने हैं। 'अच्छाई करो' और 'बुराई मत करो'—इन दोनों वाक्यों का अभिधेय एक ही है। 'सबके साथ मैत्री रखो' और 'किसी के साथ वैर मत रखो'—इन दोनों बातों का फलित एक ही है। इसलिए समता को केवल विधेयात्मक नहीं माना जा सकता। उसे दोनों रूपों में स्वीकार करना होगा।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि समता की साधना व्यक्ति को निष्क्रिय बना देती है। वह प्रवृत्ति करने में उदासीन-सा हो जाता है, पर मेरा चिंतन इससे भिन्न है। मैं मानता हूं कि समता सक्रियता का फलित है। वह तो एक क्रांति है। निष्क्रिय जीवन में वह फलित नहीं हो सकती। हां, इतना अवश्य है कि यह सक्रियता आंतरिक होती है। इस स्थिति में बाह्य सक्रियता स्वयं कम हो जाती है। वैसे समता की साधना आंतरिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना ही है। आंतरिक सक्रियता यानी जागरूकता। यह जितनी अधिक बढ़ती है, साधना उतना ही अधिक रंग लाती है। इसलिए प्रत्येक साधक को अधिक-से-अधिक जागरूक बनना चाहिए, अप्रमत्त होकर विहरण करना चाहिए।

सरदारशहर
२९ मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५४ : संघ का गौरव

मैंने एक पद्य कहा है—

सचमुच हम कितने सौभागी सदा त्रिवेणी नहाएं।
मानव जीवन, जैन-धर्म और भैक्षव शासन पाएं।
हम वह आदर्श दिखाएं।।

इस पद्य का एक इतिहास है। यह पद्य मैंने तब कहा था, जब हमारे तेरापंथ धर्मसंघ में एक जबरदस्त संघर्ष का वातावरण निर्मित हो गया था। उस समय हजारों-हजारों लोगों के मन सशंकित हो उठे थे कि अब क्या होगा, लेकिन संघ की अक्षुण्णता के प्रति मेरी आश्वस्ति में कहीं कोई कमी नहीं आई। इसका मेरे पास एक आधार था। मैं जानता था कि हमारे धर्मसंघ की नींव मजबूत है, हमारी निष्ठा दृढ़ है, चिंतन स्वस्थ है, कार्यक्रमों का उद्देश्य सही है और पूर्वाचार्यों की नीति-रीति के आधार पर जो कार्य किया जाता है, वह कभी निष्फल नहीं होता। सचमुच मेरे मन के इस बल ने ही मुझे उस भूचाल में दृढ़ रखा। मैंने कहा—'लोग त्रिवेणी में स्नान करने के लिए जाते हैं और हमें घर बैठे त्रिवेणी मिली है—मनुष्य जीवन, सत्य धर्म और उदितोदित तेरापंथ संघ। यह त्रिवेणी पाकर कौन अपने-आपको गौरवशाली महसूस नहीं करता होगा?' मैं सदा से अपने-आपको गौरवशाली महसूस करता रहा हूं। उस दिन भी किया था और आज भी कर रहा हूं। आप भी इस त्रिवेणी को पाकर अपने-आपको गौरवशाली महसूस करते होंगे, करना ही चाहिए।

साधना के दो पक्ष

तेरापंथ धर्मसंघ एक सततविकासी धर्मसंघ है। मैं मानता हूं, किसी संघ के विकास के लिए आचार और प्रचार—दो आवश्यक तत्त्व हैं। आचार आत्मशुद्धि का साधन है, पर जहां जनकल्याण का कार्य करना है, वहां प्रचार भी आवश्यक हो जाता है। इसलिए दोनों ही पक्ष मजबूत करने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा है। हम महाव्रतों की साधना करते हैं, यह आचार है। उपदेश देते हैं, व्याख्यान करते हैं……यह प्रचार है। प्रचार से जनता को प्रेरणा मिलती है। हमारा काम है कि हम स्वयं साधना करें और जनता को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा दें।

तीर्थंकर प्रवचन क्यों करते हैं

सूत्रकृतांग सूत्र में तीर्थंकर महावीर के प्रवचन करने के संदर्भ में एक सुंदर प्रसंग आया है। वहां बताया गया है—**सकामकिच्चेणिह आरियाणं।** यानी स्वयं की निर्जरा तथा आर्य लोगों के मार्गदर्शन के लिए तीर्थंकर प्रवचन करते हैं। यह बहुत गहरी बात है। गोशालक और आर्द्रकुमार के चर्चा-प्रसंग में यह बात कही गई है।

आर्द्रकुमार ने कभी साधु-संतों की संगत नहीं की, उनका उपदेश नहीं सुना, पर जाति-स्मृति ज्ञान होने से वह अनायास विरक्त हो गया। विरक्त होकर वह साधु बना और भगवान महावीर के दर्शन करने के लिए चल पड़ा। रास्ते में गोशालक की उससे भेंट हो गई। गोशालक ने पूछा—'कहां जा रहे हो?' आर्द्रकुमार बोला—'भगवान महावीर के पास।' गोशालक ने प्रश्न किया—'क्यों?' आर्द्रकुमार ने कहा—'मैं उनका शिष्य हूं।' गोशालक बोला—'मैं जाने के लिए तुम्हें मना तो नहीं करता, पर एक रहस्य की बात अवश्य बताना चाहता हूं। महावीर के बारे में मैं जितना जानता हूं, उतना कोई नहीं जानता, क्योंकि मैं उनका शिष्य रह चुका हूं।' आर्द्रकुमार ने पूछा—'रहस्य क्या है?' गोशालक बोला—'महावीरजी दुरंगे व्यक्ति हैं। वे भीतर और बाहर से एक नहीं हैं। जब वे मेरे गुरु थे, तब तपस्या करते थे, मौन रहते थे, लेकिन आजकल वे दिन-भर बोलते हैं, भोजन करते हैं और लाखों व्यक्तियों से घिरे रहते हैं।' आर्द्रकुमार बोला—'भगवान पहले नहीं बोलते थे, यह भी उनकी साधना थी और आज बोलते हैं, यह भी उनकी साधना है। पहले वे नहीं बोलते थे साध्य पाने के लिए और अब वे बोलते हैं आत्म-निर्जरा तथा जनता को प्रतिबोध देने के लिए।……'

हम यह बात समझें कि तीर्थंकर के भी चार अघाती कर्म मौजूद रहते हैं। उनका क्षय करना उनके लिए भी शेष रहता है। इसके साथ-साथ ही जो आर्य लोग सही मार्ग पर चलना चाहते हैं, उनका पथ-दर्शन करना भी उनके लिए आवश्यक है।

इस प्रसंग से यह बहुत स्पष्ट है कि जन-उद्‌बोधन भी साधु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वियों के साधना-जीवन का एक अनिवार्य अंग है। इसे हम उपेक्षित नहीं कर सकते।

संप्रदाय व्यापकता में बाधक नहीं

साधना के संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। हालांकि साधना किसी संप्रदायविशेष में बांधी नहीं जा सकती, वह हर-किसी संप्रदाय में की जा सकती है, हर-किसी वेशभूषा और देश में हो सकती है, तथापि अति व्यापकता भी कोई काम का तत्त्व नहीं है। व्यक्ति को किसी-न-किसी वेश में तो रहना ही होगा। कहीं-न-कहीं तो अपने पैर जमाने ही होंगे। हां, उसका दृष्टिकोण संकीर्ण न हो।

श्रीगंगानगर में प्रिंसिपल रमा कोचर ने मेरे सामने एक प्रश्न रखा—'आप अणुव्रत का कार्यक्रम चलाते हैं, मानवधर्म की बात करते हैं, फिर यह जैन-मुनि की वेशभूषा क्यों रखते हैं?' मैंने कहा—'एक भारतीय विश्वहित की कामना से काम करता है। वह विदेशों में जाता है, लेकिन उसकी भाषा और वेश-भूषा यदि भारतीय है तो क्या वे उसके काम में बाधक बन सकेंगी? मैं मानव-धर्म की बात करता हूं, पर जैन-धर्म के सिद्धांतों के प्रति मेरा आकर्षण है। यह आकर्षण मानव-धर्म के खिलाफ नहीं है। फिर क्या आवश्यक है कि मैं जैन-संस्कार छोड़ दूं?'

वस्तुतः संप्रदाय अपने-आपमें कोई अनुपयोगी तत्त्व नहीं है, बल्कि साधना में बहुत सहयोगी है। खुले आकाश में व्यक्ति कैसे रहेगा? रहने के लिए कहीं-न-कहीं तो उसे छत बनानी ही होगी। साधना करना है तो उसे किसी-न-किसी परंपरा से जुड़ना ही होगा। इसलिए संप्रदाय बुरा नहीं है, बुरी है सांप्रदायिकता। जहां व्यक्ति का दृष्टिकोण सांप्रदायिक बन जाता है, वहां वह सारी साधना को अपने संप्रदाय की सीमा में कैद करना चाहता है। उससे बाहर वह उसे देखता ही नहीं। यह संकीर्ण मनोवृत्ति ही संप्रदाय-संप्रदाय में वैमनस्य और संघर्ष का कारण बनती है। जहां व्यक्ति यह मानता है कि मेरे घर में आकाश है, पड़ोसी के घर में भी आकाश है, वहां कोई कठिनाई की बात नहीं है, पर जहां व्यक्ति यह मान लेता है कि सारा आकाश मेरे ही घर में समा गया है, वहां अनेक प्रकार की कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। साधना या धर्म आकाश की तरह व्यापक तत्त्व है। उसे किसी संप्रदायविशेष की चारदीवारी में चाहकर भी बांधा नहीं जा सकता। इसलिए कहीं भी रहकर व्यक्ति साधना कर सकता है। एक संप्रदायविशेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से संबद्ध रहकर भी वह समूची मानवजाति और प्राणिमात्र का हित-चिंतन कर सकता है। आंखें बहुत छोटे-से स्थान पर होती हैं, पर वे पूरी दुनिया को देखने के लिए सावकाश होती हैं। इसी प्रकार एक संप्रदायविशेष से संबद्ध होकर व्यापक कार्य करने में हमारे सामने कोई कठिनाई नहीं है। तेरापंथ धर्मसंघ यही व्यापक दृष्टिकोण सामने रखकर आगे बढ़ रहा है। इसके कार्यक्रम एक संप्रदाय से संबद्ध होकर भी असांप्रदायिक हैं, व्यापक हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम इसके विकास का अहर्निश प्रयास करें। इसके विकास के साथ हमारा स्वयं का, पूरे धार्मिक जगत का और संपूर्ण मानव-जाति का हित जुड़ा है।

सरदारशहर

३० मई १९६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

संकेताक्षर

प्र. प्रकरण

१.	विषयानुक्रम	३१९
२.	नामानुक्रम	३२२
३.	पद्यानुक्रम	३२७
४.	कथाओं/घटनाओं/दृष्टांतों की सांकेतिका	३३०
५.	पारिभाषिक कोश	३३२
६.	प्रेरक वचन	३४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

अ

अणुव्रत (अणुव्रत आंदोलन) ११प्र., १४, प्र., २४,४० प्र., ६० प्र., ६९ प्र., ७६,१२१,१३४ प्र., १९५,१९८प्र. २१०,२१२, २१९,२३७,२५८,२६२,२८०, २९२ प्र., २९४ प्र., ३०५

अणुव्रत (श्रावक के बारह व्रत)१८४

अध्यात्म १३,१४,११७ प्र.

अनशन ७९

अनेकांत १७,२१,४३,११३प्र., १८३,२५९ प्र.

अपरिग्रह, असंग्रह ८३,१२२ प्र., २२१ प्र., २३३ देखें–परिग्रह, संग्रह

अमीरी-गरीबी २०४ प्र., २३१ प्र.
–और पुण्य-पाप २०४ प्र.

अवतारवाद २३८ प्र.

अहिंसा १६ प्र., ७१ प्र.,१०५ प्र., ११८ प्र., १२९ प्र., १३२ प्र., १६०,१८२,१९६प्र., २०९प्र., २६३ प्र., २९०
–और अपरिग्रह १२२ प्र.

आ

आकांक्षा-अनाकांक्षा ६प्र., २२०प्र. प्र., देखें–संतोष

आत्मदर्शन २०७ प्र.

आत्मविकास की प्रक्रिया ४८ प्र.

आत्महत्या २३

आत्मा १३९ प्र.
–और पुद्गल १३९ प्र.

आदर्श और व्यवहार ७२ प्र., ७९

आस्तिक-नास्तिक २८१ प्र.

उ

उपासक दीक्षा ३०४

उपासना २ प्र., ४९ प्र., ५४ प्र., ८१ प्र., ११९ प्र., १८४,३०२
–स्थल (धर्मस्थान) ५० प्र.

क

कर्म-बंधन और कर्म-मोचन २४१

कर्म बंधन और आसक्ति २६७ प्र.

कषाय, कषाय-मुक्ति २७

क्रोध १७१, देखें–क्षांति

क्षांति १६९ प्र., देखें–क्रोध

ज

जनतंत्र और धर्म १३५ प्र.

जागरूकता/अप्रत्तता २८५ प्र.

जैन-दर्शन १७,४२ प्र., १०५ प्र., १६१ प्र.

जैन-धर्म ३१ प्र., ४३ प्र., ७१ प्र.,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०५ प्र., १२४ प्र., १३३ प्र., १६० प्र., १८२
—और अहिंसा १८प्र.,१०५ प्र.
ज्ञान-अज्ञान ९० प्र., २३८ प्र.

त

तपस्या ४४ प्र., १८३
तर्क २८
तृष्णा देखें—आकांक्षा-अनाकांक्षा
तेरापंथ ३०० प्र., ३१३ प्र.

द

दीक्षा २०२ प्र., २६२,२७२ प्र.
देहे दुक्खं महाफलं ४४

ध

धर्म १प्र., १४,१६प्र., २४, ३०प्र., ४२,५४प्र., ८२प्र., १०५प्र., ११९प्र., १२९प्र., १३१प्र., १६०प्र., १६७, २०२प्र.,२०७, २०९प्र.,२५४प्र.,२६१प्र., २८४,३०५प्र.
—और धन ८३ प्र.
—और संप्रदाय १४,६२ प्र., ८५प्र.,१३७

न

नियति ४३ प्र.
—और पुरुषार्थ ४३ प्र.

प

परिग्रह, संग्रह १२४ प्र., २२० प्र., २३१ प्र.
पुद्गल १३९,१४४ प्र.
पुरुषार्थ ४२ प्र., ५६ प्र.,९६
पूंजीवाद और परिग्रह २२९ प्र.

भ

भय-अभय १३१ प्र.
भारतीय संस्कृति ७७,२०७,२२९

म

मनुष्य-जीवन १, २६, ११७ प्र., २४८,२८५ प्र.
महावीर और जैन-धर्म १७९प्र.
महाव्रत और अणुव्रत २९०
मैत्री २७५ प्र.
मोक्ष, मोक्ष का मार्ग ८८प्र., ९९प्र., १७७ प्र.,२२७ प्र.

ल

लौकिक धर्म, लोकोत्तर धर्म ७२ प्र.

व

विद्यार्थी ६४,७०,१८६ प्र., देखें—शिक्षा, शिक्षा का उद्देश्य
विवेक २० प्र., २१६ प्र., २३८ प्र.
व्यापार, व्यापारी ३१ प्र., २५६

श

शराब, मद्यपान ८३, १४९ प्र., २१८ प्र., ३०९ प्र.
—बंदी और सरकारी नीति ३०९ प्र.
शांति-सुख का मार्ग ६प्र., १३,५४ प्र., ८८ प्र., ९९,१०३ प्र., ११७ प्र., १२२ प्र., १९६ प्र., २०५ प्र., २०७ प्र., २२० प्र., २४८ प्र., २५४ प्र., २७० प्र., २९५ प्र.
शिक्षा, शिक्षा का उद्देश्य २५, १८७प्र. देखें—विद्यार्थी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स

संत-दर्शन, सत्संगत का माहात्म्य १२८ प्र., १७३ प्र., २६८ प्र.
संतोष ६ प्र., १०३ प्र. देखें–आकांक्षा-अनाकांक्षा
संप्रदाय १४,१७ प्र., ६२ प्र., ३०५,३१५ प्र.
–और सांप्रदायिकता ६२ प्र., ३१५ प्र., देखें–धर्म और संप्रदाय
सदाचार (नैतिकता, ईमानदारी, प्रामाणिकता) ३० प्र.
समता ३०७
समाज सुधार/समाज निर्माण १७६, २९४
सम्यक दृष्टिकोण, मिथ्या दृष्टिकोण २०८ प्र., २८१ प्र.
साधक, साधना-पथ, साधु, सिद्धि १६प्र., २५प्र., ४८प्र., ७५प्र., १६६प्र., २९९प्र., ३१४प्र.
सामायिक ५०
साम्यवाद, साम्यवादी ७६,२३१प्र.
स्वस्थ समाज रचना ३०२ प्र., देखें–समाज - सुधार / समाज निर्माण
स्याद्वाद–देखें अनेकांत

ह

हिंदू कौन ८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामानुक्रम

● **व्यक्ति**

अ

अकबर, बादशाह २५१
अरिष्टनेमि, तीर्थंकर २८८
अर्जुन २८६,२९२

आ

आईंस्टीन, प्रोफेसर अलबर्ट ४३, १२२
आर्द्रकुमार, मुनि ३१४

इ

इंद्र, देवराज १६६,१७२,१९९, २३२
इंद्रदत्त ७

ई

ईसा—देखें क्राइस्ट

ऋ

ऋषभदत्त २२२ प्र.

क

कणाद, आचार्य ४२
कपिल, मुनि ६ प्र.
कबीर २९,४३,८२,१२८
कर्जन, लार्ड
कश्यप, राजपुरोहित ६
कालसौकरिक १५६
कृष्ण २४,१३१,२८६,२९२
केनेडी, राष्ट्रपति, अमेरिका १०८
कोचर, रमा, प्रिंसिपल ३१५
क्राइस्ट, महाप्रभु २३,७९,९७, १६४,१८१,२०५,२३३

ख

खंधक, मुनि २६८

ग

गर्दभाली, मुनि १३२ प्र.
गांधी, इंदिरा ११२
गांधी, महात्मा १८, ८२, १०८, १२३,१२७,१५२
गौतम, गणधर २११
गोशालक, मक्खलिपुत्र ३१४

ज

जंबू, आचार्य २२२ प्र.
जगन्नाथ, पंडित ४
जयप्रकाशनारायण, लोकनायक ९६
जॉनसन, राष्ट्रपति, अमेरिका ११९
जैन, श्री प्रकाश ३४
जैनेंद्रकुमार ४९,३११

ट

टॉलस्टाय २०५

त

तुलसीदास, गोस्वामी १९०,१३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थ
थावच्चा, श्राविका २८७ प्र.
थावच्चापुत्र, मुनि २८७ प्र.
द
दुर्वासा, ऋषि १६९
द्रोणाचार्य १९२ प्र.
ध
धन, श्रेष्ठि ८
धरम्मसी, कवि १६८
धर्मराज (यमराज) १४५
न
नानक, गुरु ९५,१९४
नारद, छात्र २८१ प्र.
नेहरू, पंडित जवाहरलाल २१,२२, ३४,४९
प
पर्वत, छात्र २८१ प्र.
पार्श्व, तीर्थंकर १६०
पीर (मुसलमानों के धार्मिक गुरु)
पुतली बाई १५२
प्रभव, आचार्य २२२ प्र.
प्रभुदान, बारठ
ब
बलसिंह, सरदार ३०३
बीरबल २५१
बुद्ध, गौतम १०१, १८१, २५७, २८७
भ
भर्तृहरि, राजर्षि ३७, ११३, १३२, १३८,२५२,२६१,२७१,२७८, २९१
भिक्षु स्वामी, आचार्य ५० प्र., ६३, ७२प्र., १०८, १५८, १६७, २४३प्र., २८६, ३००प्र.
भैरू, देव ५९
म
मनफूल, लाला २८३
मनु २०
महावीर, भगवान १७,२३,२८,३२, ४३,७१,७८-८०,१०१,११४, १२२,१२५,१३१,१३५,१४८, १६०,१६१,१७४,१७९प्र., १९९,२११,२२७,२२८,२३२, २३३,२४८,२५७,२६२,२८३, २८६,३१४
माणकगणी ४६
मुसद्दीलाल, लाला १७३
मोदी, वैद्य २७
य
यशा ६ प्र.
यशोविजय, उपाध्याय १४१
यीशु–देखें क्राइस्ट
युधिष्ठिर, धर्मपुत्र १९२ प्र.
र
राम, मर्यादापुरुषोत्तम ८६,११२, १६९ प्र.
रामकृष्ण परमहंस ९१
रामप्रताप १२८
रामदेव, देव ५९
रावण ८६,११२
रुक्मिणी बहन, अध्यापिका २७३
ल
लक्ष्मण ११२,१६९ प्र.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिंकन, अब्राहम २७९
व
वसु, छात्र २८१ प्र.
वाल्मीकि, आदिकवि ११२
श
शंकराचार्य, आदि ५६
शालिभद्र ७
श्रेणिक (बिंबिसार), सम्राट २६८
स
संजय, राजा १३२ प्र.
सुंदरदास, कवि ६
सीता, महासती ८६,१६९ प्र.
सुधर्मा, आचार्य २२२
सुलस १५६ प्र.
सोमप्रभ, आचार्य १५४
ह
हरिराम, चौधरी १५८
हाफिज, सूफी संत २४९ प्र.
हेमचंद्र, आचार्य २५९

● **स्थान**

अ
अमेरिका ८६,१०७,११९,२०४, २२१
अयोध्या ११२
इ
इंद्रपुरा १२८
उ
उत्तर प्रदेश १५०
क
कलकत्ता देखें—कोलकाता
कलरखेड़ा १५४
कुईखेड़ा २१३
कोलकाता २२,४२
कौशांबी ६
ग
गोगामेड़ी ३५
च
चीन १८,२२
ज
जोधपुर ५२
ड
डाबड़ी २,४,१८,९६
थ
थली (बीकानेर संभाग) २९३,३०३
द
दिल्ली १८,३४,१९१,२३०
देवगढ़ १४२
न
नेपाल ४
नोहर ३०,३४,८५
प
पंजाब १
पाकिस्तान १८,२२
ब
बंगाल १६,१७९
बिहार १६,१७९
बैंगलोर २७३
भ
भटिंडा १११
भादरा १४,२७,३३
भारत १८,६८,७१,८४-८६,९६, ११३,१२३,१९७,२०४,२१२, २१३,२२६,२२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतवर्ष–देखें–भारत

म

माधोसिंघाना ८५
मेवाड़ १४२,२५६

य

यूरोप ६८

र

राजगृह २२२
राजस्थान १,१६,२५४,२९३
रायसिंहनगर २५४,२५८
रूस ७७,८६,१०७

ल

लंका ११२

श

शेरगढ़ १३०
श्रावस्ती ७
श्री कर्णपुर २१२,२३१
श्री गंगानगर ११७,२१४,३०९, ३१५
श्री गंगानगर जिला १७३,३०२, ३०३,३०९

स

सरदारशहर ३०२,३०३
सिरसा ८१,८८,१११

ह

हिंदुस्तान देखें–भारतवर्ष
हनुमानगढ़ ११७
हिसार १५८,१५९,२५६

● ग्रंथ

अ

अध्यात्मोपनिषद् १४१
अयोगव्यवच्छेदिका २५९

आ

आगम ६४,७५,८४,११८,१३२, २६०,२७१,२७५,२७७,२८७
आचारांग ४८

उ

उत्तराध्ययन ७९,१२९,१५४,१७४, १८८,२८५
उपनिषद् ११८

क

कुरान ४०

ग

गीता १४,२४,२६,२८,४८,७९, ८४,८५,१३१,१७४,२०९, २४०,२७२,२७६,२८६,२९२
गुरुग्रंथसाहिब ११८,२०९

ज

जैन-रामायण (रामजशोरसायण) ६५,१६९

द

दशवैकालिक ९४,१५०,१७४, १८७,२४०,२७०

ध

धम्मपद ८४

न

नीतिशतक २५२

प

पिटक ४०,११८
पुराण ८४,८५,११८

ब

बाइबिल ७९,११८,२०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ
भगवती १७४
भागवत १७४
भृगु संहिता ४६
म
महाभारत २६
र
रामायण (वाल्मीकिरचित) ११२
व
विदुरनीति १
वेद ४०,८४,११८
श
शंकरभाष्य ५६
स
सूत्रकृतांग २४८,३१४

● **विविध**

अ
अणुव्रत गीत १२७
अणुव्रत, पाक्षिक २१८
अणुव्रत विहार १९१,१९३
अस्वापिनी, विद्या २२४-२२६
क
कांग्रेस पार्टी २३०
ग
गंगा, नदी ६०,६१
गायत्री, मंत्र ८५
च
चंडकौशिक, सर्प २३२
चंद्रलोक १३,१०१,१०७
त
तालोद्घाटिनी, विद्या २२४,२२६
भ
भारत सरकार २६
र
राजस्थान सरकार ३१०,३११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्यानुक्रम

पद्य	पृ. सं.
(संस्कृत)	
अज्ञानं खलु कष्टं	२३९
अपि स्वर्णमयी लंका	११२
अयं निजः परोवेति	९३
आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण	३७
इमा समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणाम्	२५९
ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता	२९१
करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनं	१५४
क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनं	२६१
त्वयि वर्षति पर्जन्य	१०४
दिललीश्वरो वा जगदीश्वरो वा	४
नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः	१७८
पंच शूना गृहस्थस्य	२०
प्रमदा मदिरा लक्ष्मीः	८३
प्रिया न्याय्यावृत्तिर्मलिनसुभंगेऽप्यसुकरं	२५२
बालसखित्वमकारणहास्यं	१००
भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं	१३२
यः परमात्मा स एवाहं	८१
यदा यदा हि धर्मस्य	१३१
यद् यदाचरति श्रेष्ठः	२८६
यस्य सर्वे समारम्भा	२४०
येषां न विद्या न तपो न दानं	११३
ये सन्तोषसुखप्रमोदमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो	२७१
शैले शैले न माणिक्यं	१५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभा जिता वस्त्रवता १
सर्वे भवन्तु सुखिनः ९४
सूचिमुखि! दुराचारिणि! १७७
स्वागमं रागमात्रेण ११४
(प्राकृत)
अणुसोय सुहोलोगो २००
अट्ठो ते अज्जवं साहु १६६
असंख्यं जीवियं मा पमायए २८५
तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा ९९
धम्मज्जियं च ववहारं १२९
निच्चुव्विगो जहा तेणो १५०
पत्थरेणाहतो कीबो २५७
वड्ढई सोंडिया तस्स १५०
संबुज्झह किण्ण बुज्झहा २४८
सवणे नाणे विन्नाणे १७४
सोच्चा जाणइ कल्लाणं २४०
(हिंदी)
अड़ते से टलता रहे ४३
अब तो घबराकर कहते हैं मर जाएंगे २३
'कबीरा' दर्शन साधु का १२८
कर्मप्रधान विश्व करि राखा २४०
काक सी कोयल श्याम १६८
गुरु लोभी शिष्य लालची १२६
गोधन गजधन वाजिधन १०३
जिन खोजा तिन पाइया २९
जो दस बीस पचास भए ६
ज्यों तिल मांहि तैल है ८२
तात! स्वर्ग अपवर्ग सुख २३७
तुम आओ डग एक तो ३३
हाथ तेरे पांव तेरे १७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(राजस्थानी)

एक कंचन दूजी कामिनी ८३
एक कंचन दूजी कामिनी ८३
एकण नै दे रे चपेटी ७२
खाटो खारो खोपरो ६७
खावण मिलगी खिचड़ी २२७
घर मांहि मिलतो नहीं २२७
जिन मारग में देख लो ३१
देखूं खाती जीमतो ८९
दया सुखां री बेलड़ी १२९
बातां साटै हर मिलै ८४
हिंसा दुखां री बेलड़ी १२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथाओं/घटनाओं/दृष्टांतों की सांकेतिका

पंडित जगन्नाथजी	४
दो मासा सोना (कपिल मुनि)	६
भोजन भट्ट	२१
एक कुआं ही काफी था	२८
साढ़े तीन हाथ जमीन	३४
मनाही क्यों करूं	५२
अवसर के मंहगे मोती	५६
डाम नहीं तो घोड़े नहीं	६१
भूल का प्रायश्चित्त	६५
घटकुट्यां प्रभातम्	७७
खाती और डूम	८९
आत्म-दर्शन ही परमात्मदर्शन है (रामकृष्ण)	९१
मेरे पैर उधर कर दो....(नानक)	९५
हुकूमत की सेवा चाहिए!	९७
रुपया बिछुड़ना नहीं चाहता (कंजूसवृत्ति)	१०९
दूध का तालाब	११४
कड़वी दवा	११८
गर्दन कट तो भी त्याग नहीं तोड़ूंगा	१२८
अभय और अहिंसा (राजा संजय)	१३२
हाथी कैसा है	१४०
रावजी के मूर्ख स्वामिभक्त	१४२
पुत्र-हत्यारे को भोजन	१४६
अच्छे बाबा बने!	१५०
सुलस	१५६
निर्लोभता की निष्ठा	१५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यीशु को शूली की सजा क्यों हुई १६४
ब्राह्मण और ब्राह्मणी १६९
सीख वांही को दीजिए १७७
असली पारस १८०
क्रोधं मा कुरु (युधिष्ठिर) १९२
आबाद हो जाओ : उजड़ जाओ (नानक) १९४
लंगर से बंधी नौका २०८
सारी बुराइयां छूट गईं २१६
संयम और त्याग का चमत्कार (जंबू स्वामी, प्रभव स्वामी) २२२
भूखे का मोक्ष २२७
कुर्सी तो मिलनी ही चाहिए! २३०
पर धनवान की मुक्ति संभव नहीं (ईसा) २३३
जो गटकर खाएगा, वही झटका खाएगा २३५
नकली सिक्का २४३
रत्नों की पोटली २४५
सूफी संत हाफिज २४९
हाथी का बच्चा क्या करता है २५१
मीठा भोजन २६५
खंधक मुनि २६८
सम्राट श्रेणिक २६८
दुश्मनों को प्यार से खत्म करता हूं (लिंकन) २७९
स्वर्गगामी : नरकगामी २८१
बैठे-बैठे प्रतिक्रमण (आचार्य भिक्षु) २८६
क्या मैं बूढ़ा बनूंगा (बुद्ध) २८७
थावच्चापुत्र २८७
बगीचा उजड़ गया २९२
कड़वेपन का राज २९३
आंखें बंद कर चलने का अभ्यास २९५
मधुबिंदु २९६
पुत्रों की परीक्षा ३०८
आर्द्रकुमार ३१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारिभाषिक कोश

अक्रियावस्था—देखें—शैलेषी अवस्था।

अघाती कर्म—जो कर्म आत्मा के मूल गुण—ज्ञान-दर्शन आदि का घात नहीं करते, वे अघाती कर्म हैं। वे चार हैं—१. वेदनीय २. आयुष्य ३. नाम ४. गोत्र।

अध्यवसाय—चेतना का एक अतिसूक्ष्म स्तर।

अनशन—अन्न, पानी, खाद्य (मेवा आदि) और स्वाद्य (लवंग आदि)—इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। वह दो प्रकार का होता है—इत्वरिक और यावत्कथिक। उपवास से लेकर छह मास तक का अनशन इत्वरिक है। आमरण अनशन को यावत्कथिक कहा जाता है। अनशन के तीन भेद भी हैं—१. भक्तप्रत्याख्यान २. इंगिनीमरण ३. प्रायोपगमन। ये उत्तरोत्तर कठिन हैं।

साधु या श्रावक जीवन के अंत-काल में अनशनपूर्वक देह त्याग करके समाधिमरण को प्राप्त होता है। इसे 'संथारा' की संज्ञा दी गई है। यह आत्म-हत्या नहीं, अपितु आत्म-साधना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अनार्यक्षेत्र—मनुष्यक्षेत्र का वह हिस्सा, जहां लोगों का जीवन असभ्य और अशिष्ट होता है तथा अर्हत द्वारा प्रदत्त उपदेश के श्रवण का लाभ प्राप्त करने की सुविधा नहीं होती। देखें—आर्यक्षेत्र।

अप्रमत्त—संयमी साधक की वह अवस्था, जिसमें वह अध्यात्मलीन बन जाता है, अपने आत्म-स्वभाव के प्रति संपूर्ण जागरूक हो जाता है। इस अवस्था में तीन आश्रवों—मिथ्यात्व, अव्रत और प्रमाद का निरोध हो जाता है। यह स्थिति सातवें गुणस्थान में प्राप्त होती है। देखें—गुणस्थान।

अयोगी—देखें—शैलेषी अवस्था।

अवसर्पिणी—ह्रास-काल—कालचक्र का वह अर्धांश, जिसमें क्रमशः सुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटता है और दुःख वृद्धिंगत होता है। इसका कालमान दस कोटाकोटि अद्धा सागरोपम का होता है। इसके छह विभाग (अर) होते हैं– १. एकांत सुखमय २. सुखमय ३. सुख-दुःखमय ४. दुःख-सुखमय ५. दुःखमय ६. एकांत दुःखमय। देखें–उत्सर्पिणी।

अवेदी–व्यक्ति की वह अवस्था, जिसमें वह वासनाजन्य विकार से मुक्त हो जाता है। यह स्थिति नवें गुणस्थान के उत्तरार्ध में प्राप्त होती है। वेद का अर्थ है–काम-वासना। तीनों वेद–स्त्री, पुरुष और नपुंसक समाप्त कर देने पर आत्मा अवेद बनती है। देखें–गुणस्थान।

आगम–जैन-धर्म के मूल शास्त्र आगम कहलाते हैं। इनमें तीर्थंकर महावीर की वाणी के आधार पर गणधरों, ज्ञानी स्थविरों द्वारा गुंफित सूत्र–ग्रंथ समाविष्ट किए गए हैं। गणधरों द्वारा बनाए गए आगम 'अंग' तथा विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा बनाए गए आगम 'उपांग' आदि कहलाते हैं। देखें–अंग, गणधर, तीर्थंकर।

श्वेतांबर-परंपरा में स्थानकवासी एवं तेरापंथ द्वारा बत्तीस आगम स्वीकृत हैं–ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद, एक आवश्यक।

अन्य श्वेतांबर परंपराएं अड़तालीस या चौरासी आगम भी मानती हैं।

आरा–कालचक्र के दो विभाग होते हैं–१. अवसर्पिणी (ह्रासकाल) २. उत्सर्पिणी (विकासकाल)। अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी का एक कालखंड अर या आरा कहलाता है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में छह-छह अर या आरे होते हैं। देखें–अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी।

आर्यक्षेत्र–मनुष्यक्षेत्र का वह हिस्सा, जहां लोगों का जीवन सुसभ्य और शिष्ट होता है तथा अर्हत द्वारा प्रदत्त उपदेश के श्रवण का लाभ प्राप्त करने की सुविधा होती है। देखें–अनार्यक्षेत्र।

आश्रव–कर्म-आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणामों को आश्रव कहते हैं। उसके पांच प्रकार हैं–१. मिथ्यात्व २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय ५. योग।

विस्तार में उसके बीस प्रकार भी बताए गए हैं।

उत्सर्पिणी–विकास-काल–कालचक्र का वह अर्धांश, जिसमें क्रमशः दुःख घटता जाता है और सुख वृद्धिंगत होता जाता है। इसका कालमान दस कोटाकोटि अद्धा सागरोपम का होता है। इसके छह विभाग (अर) हैं–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. एकांत दुःखमय २. दुःखमय ३. दुःख-सुखमय ४. सुख-दुःखमय ५. सुखमय ६. एकांत सुखमय। देखें—अवसर्पिणी।

कायोत्सर्ग—कायचेष्टा और कायासक्ति छोड़ना। तपस्या के बारह भेदों में अंतिम भेद है—व्युत्सर्ग। इसमें शरीर, कषाय आदि के परित्याग की साधना की जाती है। षड् आवश्यक में पांचवें आवश्यक का नाम भी कायोत्सर्ग है। जैन-साधना-पद्धति में इसे भेद विज्ञान की हेतुभूत प्रक्रिया के रूप में बहुत महत्त्व दिया गया है। आधुनिक दृष्टि से यह शरीर के शिथिलीकरण और चेतना के जागरण का अभ्यास है।

केवलज्ञान—आत्मा द्वारा जगत के समस्त मूर्त एवं अमूर्त तथा उनकी त्रैकालिक सभी पर्यायों का प्रत्यक्ष बोध केवलज्ञान है। इसमें इंद्रियों और मन की कोई अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा पर आए ज्ञानवरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तेरहवें व चवदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में होता है। देखें—गुणस्थान।

केवली—केवलज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति। देखें—केवलज्ञान।

गणधर—तीर्थ-स्थापना के प्रारंभ में होनेवाले तीर्थंकर के विद्वान शिष्य, जो उनकी वाणी का संग्रहण कर उसे अंग-आगम के रूप में गुंफित करते हैं। देखें—अंग, आगम, तीर्थंकर।

गुणस्थान—कर्म-विशुद्धि की तरतमता के अनुरूप प्राणी के उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की विभिन्न भूमिकाएं/स्तर गुणस्थान हैं। इन्हें जीवस्थान भी कहा जाता है। गुणस्थान चौदह हैं—१. मिथ्यादृष्टि २. सास्वादनसम्यग्दृष्टि ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५. देशविरत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्त-संयत ८. निवृत्तिबादर ९. अनिवृत्तिबादर १०. सूक्ष्मसंपराय ११. उपशांतमोह १२. क्षीणमोह १३. सयोगीकेवली १४. अयोगीकेवली।

गुप्ति—मन, वचन और काया के संवरण को गुप्ति कहा जाता है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये उसके तीन प्रकार हैं। आठ प्रवचन-माताओं में पांच समितियों और तीन गुप्तियों का समावेश किया गया है, जो कि पांच महाव्रतों के साथ साधु के लिए अवश्य पालनीय हैं। देखें—समिति।

छद्मस्थ, छद्मस्थता—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय को छद्म कहते हैं। छद्म का अर्थ है—अज्ञान या केवलज्ञान का अभाव। इस अवस्था में रहनेवाले प्राणी छद्मस्थ कहलाते हैं। प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त प्राणी छद्मस्थ हैं। छद्मस्थता केवलज्ञान की बाधक स्थिति है। इस बाधा के दूर होते ही प्राणी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। देखें–केवलज्ञान, गुणस्थान।

जातिस्मरण–देखें–जातिस्मृति ज्ञान।

जातिस्मृति ज्ञान–यह मतिज्ञान का एक प्रकार है। इसके द्वारा प्राणी अपने पूर्वजन्म या जन्मों का ज्ञान स्मृति के रूप में करता है। विशेष क्षयोपशम होने पर अथवा विशेष निमित्त मिलने पर भी जातिस्मृति ज्ञान हो सकता है। यहां जाति का अर्थ है–पूर्वजन्म।

तिर्यंच–एकेंद्रिय से चतुरिंद्रिय तक के सारे प्राणी तथा पशु-पक्षी आदि पंचेंद्रिय प्राणी तिर्यंच कहलाते हैं। शब्दांतर से देव, नारक और मनुष्य को छोड़कर शेष सभी प्राणी तिर्यंच हैं।

तीर्थंकर–

- धर्मचक्र-प्रवर्तक।
- साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका–इन चार तीर्थों के संस्थापक अथवा द्वादशांगी-प्रवचनरूप तीर्थ के कर्ता।
- चार घनघाती कर्मों का क्षय करके जो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि आत्म-गुण प्राप्त कर लेते हैं तथा आठ प्रातिहार्य आदि विशिष्ट उपलब्धियों के धारक होते हैं, वे ही अर्हत, अरहंत, जिन या तीर्थंकर कहलाते हैं।
- नमस्कार महामंत्र का प्रथम पद उनके लिए प्रयुक्त है। जीवन की समाप्ति पर वे सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।
- प्रत्येक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में भरतक्षेत्र तथा ऐरावत क्षेत्र में चौबीस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं। यह 'चौबीसी' कहलाती है। देखें–अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी।
- भरतक्षेत्र में वर्तमान 'चौबीसी' के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ व अंतिम (चौबीसवें) तीर्थंकर महावीर थे।

त्रस जीव–हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के निमित्त जो प्राणी गमनागमन करने की अर्हता से संपन्न होते हैं, वे त्रस जीव हैं। द्वींद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक के सभी जीव त्रस हैं। जो जीव स्थावर नहीं हैं, वे त्रस जीव हैं। देखें–स्थावर जीव।

त्रिशष्टिशलाकापुरुष–कुछ मनुष्य विशेष पुण्य प्रकृति के उदय के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणामस्वरूप अपने-अपने युग के शलाकापुरुष के रूप में उत्पन्न होते हैं। इनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रति वासुदेव—इस प्रकार तिरसठ शलाकापुरुष अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में होते हैं। देखें—अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी।

इनमें तीर्थंकर धर्म के क्षेत्र के तथा शेष लौकिक क्षेत्र के विशिष्ट/मान्य पुरुष होते हैं। बलदेव वासुदेव के बड़े भाई होते हैं तथा प्रति वासुदेव का वध वासुदेव द्वारा किया जाता है।

चक्रवर्ती छह खंड के अधिपति, वासुदेव या प्रति वासुदेव तीन-तीन खंड अधिपति होते हैं।

देश—वस्तु (द्रव्य) के बुद्धिकल्पित अंश को देश कहते हैं। यह अंश वस्तु से अलग नहीं होता, किंतु उपयोगिता की दृष्टि से इसकी कल्पना की जाती है।

प्रत्येक अजीव अस्तिकाय (पुद्गल को छोड़कर) के स्कंध, देश और प्रदेश—ये तीन भेद होते हैं। पुद्गलास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु—ये चार भेद होते हैं।

देखें—स्कंध, प्रदेश, पुद्गल, परमाणु।

ध्यान—एकाग्र चिंतन अथवा योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) के निरोध को ध्यान कहते हैं। उसके चार प्रकार हैं—१. आर्त २. रौद्र ३. धर्म्य ४. शुक्ल। इनमें से प्रथम दो प्रकार—आर्त और रौद्र अशुभ हैं—कर्म-बंधन के हेतु हैं। इनमें से एकाग्र चिंतन की स्थिति बनती है, मात्र इस अपेक्षा से ये ध्यान मान लिए गए हैं। चूंकि ये व्यक्ति के चैतन्य-विकास में सहायक नहीं बनते, इसलिए ये दोनों तप की कोटि में नहीं हैं। धर्म्य और शुक्ल शुभ हैं; इन्हें तप माना गया है।

अध्यात्म-साधना में उपवास आदि बाह्य तप की अपेक्षा ध्यान आदि आभ्यंतर तप को अधिक महत्त्व दिया गया है।

नय—हर वस्तु तत्त्वतः अनंतधर्मात्मक होती है। वस्तु के विवक्षित धर्म का संग्रहण और अन्य धर्मों का खंडन न करनेवाले विचार को नय कहा जाता है। सत्य की मीमांसा में ज्ञाता या वक्ता का दृष्टिकोण या नय जानना आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से विवक्षा की जाती है, उसके अनुसार ही वक्ता के कथन का तात्पर्यार्थ समझा जा सकता है। चूंकि वक्ता एक साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनंत धर्मों के विषय में नहीं बता सकता, अतः वह एक धर्म को प्रमुखता देता है और अन्य धर्मों को गौण करता है। इसे जानकर ही हम उसका अभिप्राय समझ सकते हैं। स्याद्वाद की पद्धति में नय के आधार पर सत्य की व्याख्या की जाती है।

नवकारसी—सूर्योदय के पश्चात एक मुहूर्त तक चारों प्रकार के आहार (अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य) का त्याग। देखें—मुहूर्त।

यह तपस्या का सबसे छोटा प्रकार माना गया है।

सामान्यतः रात्रिभोजन वर्जन के पश्चात ही यह तप किया जाता है। अर्थात रात्रि में चारों प्रकार के आहार के त्याग के उपरांत नवकारसी की जाती है।

निकाचित कर्म—जो कर्म किसी पुरुषार्थ से परिवर्तित नहीं हो सकते, जिनमें उद्वर्तना, अपवर्तना आदि में से कोई भी 'करण' का प्रयोग संभव नहीं है, वे कर्म निकाचित कर्म कहलाते हैं। ऐसे कर्मों को भोगना एकमात्र विकल्प है।

कर्मवाद की अवधारणा में परिवर्तन को मान्य किया गया है। जो कर्म निकाचित नहीं हैं, उन्हें पुरुषार्थ आदि के द्वारा बदला जा सकता है। पर कुछ कर्म ऐसे भी हैं, जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। वे निकाचित कर्म हैं। जो निकाचित नहीं हैं, वे दलिक कर्म कहलाते हैं। साधना के द्वारा हम उन दलिक कर्मों में परिवर्तन कर सकते हैं, उनकी स्थिति का ह्रस्वीकरण किया जा सकता है, रस-विपाक का मंदीकरण किया जा सकता है।

निकाचित कर्मों का बंधन तीव्र अध्यवसाय या परिणामों के कारण ही होता है। इसलिए इन्हें अपवाद रूप मानकर साधक शेष कर्मों की निर्जरा के लिए साधना का पुरुषार्थ करता रहे, यह अपेक्षित है। देखें—निर्जरा।

निर्जरा—

- तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं।
- कारण को कार्य मानकर तपस्या को भी निर्जरा कहा गया है। उसके अनशन, ऊनोदरी आदि बारह भेद हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

● सकाम और अकाम के रूप में वह दो प्रकार की भी होती है। जो मात्र आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से तथा शुद्ध साधनों के द्वारा की जाती है, वह सकाम निर्जरा है। जिसमें इस लक्ष्य और साधन-शुद्धि की बात नहीं होती, वह अकाम निर्जरा है। यह दोनों प्रकार की निर्जरा सम्यक्त्वी एवं मिथ्यात्वी दोनों के होती है।

परमाणु—सूक्ष्मतम (अविभाज्य) पुद्गल को परमाणु कहते हैं। पौद्गलिक वस्तु का सूक्ष्मतम (अविभाज्य) भाग, जब तक वह वस्तु के संलग्न रहता है, प्रदेश कहलाता है तथा वही जब अलग हो जाता है, तब परमाणु कहलाने लगता है। देखें—प्रदेश।

परमाणु चाहे स्वतंत्र हो, चाहे स्कंध के संलग्न हो, वह सदा अपना अस्तित्व बनाए रखता है। लोक में अनंतानंत परमाणु अस्तित्व में हैं। उनकी संख्या सदा अचल रहती है। अर्थात न एक भी नया परमाणु उत्पन्न होता है और न एक भी विद्यमान परमाणु नष्ट होता है। केवल परमाणु के पर्याय बदलते हैं।

परीषह—साधु-चर्या पालन करने के दौरान उत्पन्न होनेवाले कष्ट परीषह कहलाते हैं। वे बाईस प्रकार के होते हैं—१. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४. उष्ण ५. मच्छर-दंश ६. अचेल ७. अरति-रति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषीधिका ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृण-स्पर्श १८. मैल १९. सत्कार २०. प्रज्ञा २१. ज्ञान २२. दर्शन।

इनमें से स्त्री और सत्कार—ये दो अनुकूल परीषह हैं। शेष बीस प्रतिकूल परीषह हैं।

पुण्य—शुभरूप में उदय में आनेवाले कर्म-पुद्गल पुण्य हैं। पुण्योदय से जीव को भौतिक दृष्टि से शुभ की प्राप्ति होती है, किंतु उसका आध्यात्मिक शुभ से कोई संबंध नहीं है। मोक्षाराधना की दृष्टि से पुण्य उतना ही हेय है, जितना पाप। पाप की तरह वह भी बंधन ही है।

पुण्य का बंधन शुभ योग के बिना नहीं हो सकता। शुभ योग से जहां एक ओर निर्जरा होती है, वहीं दूसरी ओर पुण्य का बंध होता है। साधक मात्र निर्जरा के लिए शुभ योग में प्रवृत्त हो, पुण्योपार्जन के लिए नहीं। ऊपर के गुणस्थानों में पुण्य-बंध की स्थिति क्रमशः घटते-घटते मात्र दो समय की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रह जाती है और अंततोगत्वा अयोग अवस्था (चौदहवां गुणस्थान) में बंध होता ही नहीं। इस प्रकार समग्र शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा हो जाने पर आत्मा मुक्त हो जाती है। देखें—निर्जरा, गुणस्थान।

घाती कर्म केवल पापरूप हैं; अघाती कर्म शुभरूप होने पर पुण्य तथा अशुभरूप होने पर पाप हैं। इस अपेक्षा से पुण्य आत्मा के लिए उतने हानिकारक नहीं हैं, जितने कि घाती कर्म हैं। देखें—अघाती कर्म।

उपचार से सत्प्रवृत्ति को भी पुण्य कहा गया है। अन्न, पान आदि उसके नौ प्रकार बताए गए हैं।

पुद्गल—जो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त होता है, वह पुद्गल है। लोक के सभी मूर्त/दृश्य पदार्थ पुद्गल ही हैं। सामान्य भाषा में उसे भौतिक तत्त्व या जड़ पदार्थ कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी सभी प्रकार की भौतिक ऊर्जा एवं भौतिक पदार्थों का समावेश पुद्गल में होता है।

पुद्गल परमाणु और स्कंध—दोनों रूप में होते हैं। पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति **पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गलः** की गई है। यानी जिसका गलन-मिलन का स्वभाव है, वह पुद्गल है।

पुद्गल को छोड़कर शेष द्रव्यों में इस गुण का अभाव होता है।

पुद्गल की अनेक वर्गणाएं हैं, जो जीव द्वारा ग्रहण की जाती हैं। उनमें से कर्म-वर्गणा के पुद्गल महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रतिक्रमण—स्वीकृत व्रतों का पर्यालोचन और उनमें लगे दोषों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है।

आवश्यक क्रिया, जो प्रत्येक साधु और श्रावक के लिए प्रतिदिन दो बार करणीय है, उसे भी प्रतिक्रमण कहा जाता है। हालांकि प्रतिक्रमण षड्-आवश्यक में से मात्र चौथा आवश्यक है।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए यह प्रतिदिन दो बार करणीय है, शेष तीर्थंकरों के साधु दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं।

प्रदेश—पदार्थ का अविभाज्य अंश, जो उस पदार्थ के संलग्न होता है, प्रदेश कहलाता है। सभी अस्तिकायों के प्रदेश होते हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्य-असंख्य प्रदेश होते हैं। आकाशास्तिकाय के प्रदेश अनंत होते हैं। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी तथा अलोकाकाश अनंतप्रदेशी है। पुद्गलास्तिकाय के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनंत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकते हैं। काल तथा परमाणु-पुद्गल दोनों अप्रदेशी हैं।

जीवास्तिकाय (एक जीव) के भी असंख्य प्रदेश हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और जीवास्तिकाय (एक जीव)—इन चारों के प्रदेशों की संख्या समान है।

प्रदेश को 'अविभागी परिच्छेद' भी कहा जाता है। पौद्गलिक वस्तु से पृथक हो जाने पर प्रदेश 'परमाणु' कहलाता है। देखें—पुद्गल, परमाणु।

महाव्रती—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांचों का पूर्ण/अखंडित रूप महाव्रत है। इसमें हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का मन, वचन व काया से कृत, कारित एवं अनुमोदनवर्जन के साथ आजीवन त्याग करना होता है।

महाव्रत को स्वीकार करनेवाला महाव्रती कहलाता है।

मार्गानुसारी—कोई भी जीव ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप मोक्ष-मार्ग की अंशरूप में भी स्वल्प आराधना करता है, वह मार्गानुसारी कहलाता है।

यहां मार्ग मोक्ष-मार्ग का सूचक है।

मुहूर्त—अड़तालीस मिनट का कालमान मुहूर्त कहलाता है।

दो समय से लेकर अड़तालीस मिनट में एक समय कम तक का कालमान अंतर्मुहूर्त कहलाता है।

मोक्ष—चेतना का वह चरम स्तर, जहां पूर्व समस्त कर्मों का बंधन क्षीण हो जाता है और नए बंधन की प्रक्रिया बिलकुल बंद हो जाती है। इस अवस्था को प्राप्त आत्मा ही परमात्मा कहलाती है। कर्म-मुक्त अवस्था को प्राप्त होने पर वह जन्म, मरण, रोग, शोक, दुःख आदि समस्त सांसारिक दुविधाओं से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाती है। उसका पुनरवतार नहीं होता।

कर्म-मुक्त दशा में आत्मा मात्र एक समय में लोकाग्रस्थित स्थान-विशेष में पहुंच जाती है। इस स्थान को सिद्धक्षेत्र या सिद्धशिला कहा जाता है। कभी-कभी इसे भी मोक्ष कहते हैं।

मोहकर्म, मोहनीय कर्म—प्राणी के दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (आचार) को विकृत करनेवाले कर्म को मोह कर्म या मोहनीय कर्म कहते हैं।

मोहनीय कर्म की मुख्य दो प्रकृतियां हैं।—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं–१. सम्यक्त्वमोहनीय २. मिथ्यात्व-मोहनीय ३. मिश्रमोहनीय।

चारित्रमोहनीय की पचीस प्रकृतियां है–१. अनंतानुबंधी क्रोध २. अनंतानु-बंधी मान ३. अनंतानुबंधी माया ४. अनंतानुबंधी लोभ ५. अप्रत्याख्यान क्रोध ६. अप्रत्याख्यान मान ७. अप्रत्याख्यान माया ८. अप्रत्याख्यान लोभ ९. प्रत्याख्यान क्रोध १०. प्रत्याख्यान मान ११. प्रत्याख्यान माया १२. प्रत्याख्यान लोभ १३. संज्वलन क्रोध १४. संज्वलन मान १५. संज्वलन माया १६. संज्वलन लोभ १७. हास्य १८. रति १९. अरति २०. भय २१. शोक २२. जुगुप्सा २३. स्त्रीवेद २४. पुरुषवेद २५. नपुंसकवेद।

यौगलिक काल–अवसर्पिणी के प्रथम तीन आरों में तथा उत्सर्पिणी के अंतिम तीन आरों में मनुष्यों का जीवन मुख्यतः प्रकृति पर आधारित रहता है। सभी आवश्यक सामग्री की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है। भाई और बहिन के रूप में एक युगल जन्म लेता और वही आगे चलकर पति-पत्नी के रूप में बदल जाता है। इसे यौगलिक काल कहा जाता है। यौगलिक मनुष्य प्रकृति से बहुत सरल और अल्पकषायी होते हैं। उनका जीवन अत्यंत सुखी और शांत होता है। देखें–अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, आरा।

लव–काल का एक सूक्ष्म भाग। एक मुहूर्त में ७७ लव होते हैं। देखें–मुहूर्त।

वीतराग–राग-द्वेष से मुक्त आत्मा को वीतराग कहते हैं। वीतराग ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। देखें–गुणस्थान। दूसरे शब्दों में क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार कषायों से मुक्त–'अकषाय' को वीतराग कहते हैं।

व्रती–सावद्य–पापकारी प्रवृत्तियों का विधिपूर्वक त्याग करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव व्रती कहलाता है। उसकी दो श्रेणियां हैं–महाव्रती और अणुव्रती। अणुव्रती या बारह व्रतों को धारण करनेवाला श्रावक कहलाता है। देखें–महाव्रती, श्रावक।

शैलेषी अवस्था–चौदहवें गुणस्थान में जीव मन, वचन और काया का समस्त व्यापार निरुद्ध कर संपूर्ण अक्रिय या अयोग अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यह शैलेषी अवस्था है। इसका कालमान पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में लगनेवाले समय जितना होता है। इस अवस्था के पश्चात जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवशिष्ट कर्मों का क्षय कर सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। देखें—गुणस्थान।

श्रद्धालु—देखें—सम्यक्त्वी।

श्रावक—हिंसा, असत्य आदि सावद्य—पापकारी प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव। श्रावक पांचवें गुणस्थान में अवस्थित होता है। श्रावक को देशव्रती या व्रताव्रती भी कहते हैं। देखें—गुणस्थान।

संकल्पजा हिंसा—मानसिक संकल्पपूर्वक प्राणी की घात करना संकल्पजा हिंसा है। अहिंसा अणुव्रत को स्वीकार करनेवाला इस प्रकार की हिंसा से उपरत रहता है।

आरंभजा और विरोधजा हिंसा के प्रकारों से यह भिन्न है।

गृहस्थ जीवन चलाने के लिए की जानेवाली कृषि, व्यापार आदि प्रवृत्तियां आरंभ है। इनमें होनेवाली हिंसा आरंभजा हिंसा है। शत्रु द्वारा आक्रमण करने पर प्रतिरक्षार्थ युद्ध आदि में होनेवाली हिंसा विरोधजा हिंसा है। श्रावक आरंभजा एवं विरोधजा हिंसा से नहीं बच सकता, पर संकल्पजा हिंसा का अवश्यमेव त्याग करे।

संथारा—देखें—अनशन।

समिति—चरित्र (संयम) के अनुकूल होनेवाली प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग—ये पांच समितियां बताई गई हैं। आठ प्रवचन-माताओं में पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों का समावेश होता है। देखें—गुप्ति।

सम्यक्त्व, सम्यक्त्वी/सम्यग्दृष्टि—तत्त्व के बारे में सम्यक/यथार्थ श्रद्धा—जो तत्त्व जैसा है, उसे उसी रूप में समझना सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय एवं सम्यक्त्व-मोहनीय) तथा चारित्र-मोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होती है। दर्शन-मोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय मोहकर्म के ही दो भेद हैं।

जो प्राणी सम्यक्त्व से संपन्न होता है, जिसकी तत्त्व के प्रति श्रद्धा सम्यक/यथार्थ है, वह सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि है। देखें—मोहकर्म।

यथार्थ तत्त्वश्रद्धा, सम्यक देव, गुरु व धर्म की आराधना, तीव्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायों से विरति—ये सारी बातें सम्यक्त्वी के लिए अनिवार्य हैं।

शम, संवेग आदि पांच लक्षण, निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ आचार तथा शंका, कांक्षा आदि पांच दूषणों से मुक्ति—यह सम्यक्त्वी की पहिचान है।

सम्यग्दृष्टि—देखें—सम्यक्त्वी।

सुलभबोधि—जो जीव सम्यक दर्शन के सम्मुख होकर बोधि-प्राप्ति की दिशा में गति करने के लिए उद्यत हो जाता है, वह सुलभबोधि कहलाता है।

स्कंध—प्रत्येक अजीव-अस्तिकाय के पूर्ण द्रव्य को स्कंध कहा जाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का केवल एक-एक स्कंध है। वह सदैव एक और अखंड रहता है। पुद्गलास्तिकाय के अनंत स्कंध होते हैं। उनकी रचना परमाणुओं के संघात (मिलन) या स्कंधों के भेद (विघटन) से होती है। संघात से रचना में दो से लेकर अनंत तक के परमाणु एकीभूत हो जाते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से बनानेवाला स्कंध द्विप्रदेशी, तीन परमाणुओं के मिलने से बननेवाला स्कंध त्रिप्रदेशी स्कंध कहलाता। इसी क्रम में चार प्रदेशी, ····दश प्रदेशी····सौ प्रदेशी···· हजार प्रदेशी····संख्येय प्रदेशी, असंख्येय प्रदेशी और अनंतप्रदेशी स्कंध होते हैं। देखें—परमाणु, प्रदेश।

स्थावर जीव—हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के निमित्त जो जीव गमनागमन करने की अर्हता से रहित होते हैं, वे स्थावर जीव हैं। एकेंद्रिय जीव—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक स्थावर जीव हैं। जो जीव त्रस नहीं हैं, वे स्थावर जीव हैं। देखें—त्रस जीव।

स्वयंबुद्ध—शास्त्र-श्रवण, सत्संग आदि किसी बाहरी निमित्त के बिना जो स्वयं बोधि प्राप्त कर मुक्त होता है, उसे स्वयंबुद्ध कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरक वचन

- धर्म की बहुत छोटी-सी मर्यादा है—जैसा कहना, वैसा करना। (१)
- सबसे श्रेष्ठ और पवित्र धर्म है—सत्य और अहिंसा। (३)
- धर्म जीवन का सर्वोच्च तत्त्व है। (४)
- संतोष से बढ़कर संसार में कोई धन नहीं है, त्याग से बढ़कर कोई उपलब्धि नहीं है। (१०)
- शांति की चाह सार्वकालिक है,सार्वजनीन है। (१३)
- हर-एक संप्रदाय में धर्म हो सकता है, पर संप्रदाय धर्म नहीं है। (१४)
- धर्म एक परम वैज्ञानिक तत्त्व हैं। (१४)
- भविष्य उसी धर्म का है, जो जाग्रत है और जाग्रति का पाठ पढ़ाता है। (१५)
- जो कोई मार्ग व्यक्ति को मंजिल तक पहुंचाता है, वह उपादेय है, सही है। (१७)
- जहां वैचारिक आग्रह जागता है, वहां सत्य सो जाता है। (१७)
- व्यक्ति किसी धर्म-संप्रदायविशेष से संबद्ध न होकर भी यदि सन्मार्गी है, सत्यनिष्ठ है, प्रामाणिक है, नैतिक है, चरित्रवान है....तो उसकी मोक्ष-प्राप्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। (१७)
- यह संभव नहीं है कि आप परिग्रह से तो बंधे रहें और हिंसा से सर्वथा बचना चाहें। (१९)
- जहां ममकार है, वहां अहिंसा नहीं हो सकती। ममत्व की मात्रा जितनी कम होती है, अहिंसा का विकास उतना ही अधिक होता है। (१९)
- किसने कहा कि अहिंसा कायरों का धर्म है? अहिंसक में जो वीर वृत्ति होती है, वह एक हिंसक में नहीं हो सकती। (१९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- हिंसा और भय तथा अभय और अहिंसा में तादात्म्य संबंध है। (२०)
- जिस दिन धर्म को भी प्रयोग का धरातल प्राप्त होगा, उस दिन विज्ञान भी धर्म के समक्ष प्रणत हो जाएगा। (२४)
- गुणहीन व्यक्ति किसी के आकर्षण का केंद्र नहीं हो सकता। (३१)
- जो स्वयं नहीं बदलता, वह दुनिया को भी नहीं बदल सकता। (३३)
- धन का अनावश्यक संग्रह अनेक विकृतियां एवं कठिनाइयां पैदा करता है। (३६)
- परिस्थितियां आपको बदलने के लिए बाध्य करें, उससे पूर्व ही आप संभलें। समझदारी और विवेक का तकाजा यही है। (३७)
- कौन व्यक्ति धर्मस्थान में जाकर कितनी पूजा-उपासना करता है, यह धार्मिकता की सही कसौटी नहीं है। सही कसौटी यह है कि वह लोगों के साथ कैसे पेश आता है। (४०)
- स्याद्वाद एक ऐसा धागा है, जो बिखरे हजारों मोतियों की एक माला बना देता है। (४३)
- तपस्या उस सीमा तक ही करनी चाहिए, जिस सीमा तक मानसिक प्रसन्नता रह सके। (४४)
- सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता। (४५)
- हालांकि ज्योतिष की बहुत-सी बातें ज्यों-की-त्यों मिल जाती हैं, तथापि उसके आधार पर पुरुषार्थहीन बनकर बैठ जाना, उचित नहीं है। (४६)
- शरीर को कष्ट देना धर्म नहीं है। धर्म की साधना है—कष्ट आएं तो उन्हें समभाव से सहना। (४७)
- निष्ठा का बल अचिंत्य है। (४९)
- आत्मशांति और धर्म में अविनाभावी संबंध है। (५४)
- जो उपासना व्यक्ति की आत्मपवित्रता में हेतुभूत बनती है, आत्मशांति का साधन बनती है, वह निश्चय ही धर्म है। (५५)
- यदि आचार के साथ उपासना भी चलती है तो कोई कठिनाई नहीं, बल्कि सोने में सुगंध की बात है, पर आचार को सर्वथा गौण करके केवल उपासना और क्रियाकांडों को सब-कुछ मान लेना कतई उचित नहीं है। (५९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- आचारधर्म की प्रतिष्ठा ही धर्म की वास्तविक प्रतिष्ठा है। इसके माध्यम से ही स्वस्थ समाज संरचना परिकल्पना आकार ग्रहण कर सकती है। (६०)
- सत्य के प्रति ऋजु दृष्टिकोण रखनेवाला व्यक्ति ही सच्चा धार्मिक है। (६३)
- सह-अस्तित्व का सिद्धांत स्वीकार किए बिना विश्व-शांति की बात कभी आकार ग्रहण नहीं कर सकती। (७७)
- साधना की सफलता का पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जागरूकता। (७८)
- आदर्श वही है, जो साध्य तो है, पर किसी-किसी के लिए है। (७९)
- परिग्रह तिजोरी में नहीं, बल्कि अपनी वृत्तियों में है, मन की आसक्ति में है। (८३)
- जिसके मन में आसक्ति नहीं है, वही सही माने में अपरिग्रही है। (८३)
- धर्म होता है तन, मन और आचार से। धन के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। धर्मस्थानों के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। धर्म का शाश्वत संबंध है धार्मिक से। यदि उसके जीवन-व्यवहार में धर्म नहीं है तो उसका क्या उपयोग है? (८४)
- मजहब बल्बों के समान हैं, जो कि सीमित दायरे में प्रकाश करते हैं। धर्म सूर्य के समान है। उसके आलोक में सारा संसार आलोकित हो जाता है। (८६)
- यह कैसी विडंबना है कि व्यक्ति परमात्मा से तो मिलना चाहता है, पर स्वयं के अस्तित्व से अनभिज्ञ रहता है। (९१)
- श्रम से जी चुराने की मनोवृत्ति बहुत घातक है। इससे न केवल व्यक्ति की शक्तियां कुंठित हो जाती हैं, बल्कि उसका जीवन भी स्वयं के लिए भारभूत-सा बन जाता है। ऐसी स्थिति में सुख और शांति की अनुभूति का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। (९७)
- जो व्यक्ति सतत पुरुषार्थ करता रहता है, उसकी कदापि हार नहीं होती। वह देर-सवेर अपने अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति में निश्चय ही सफल होता है। (९८)
- अधैर्य न केवल मोक्ष में बाधक है, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में बाधक है। (१०१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- जीव का बचना अहिंसा नहीं है। वह तो अहिंसा का परिणाम है। अहिंसा है—अपनी आत्मा को दुष्प्रवृत्तियों से बचाना, समस्त जीव-जगत के प्रति संयमित होना। (१०६)
- यद्यपि मैं सभी क्षेत्रों में नारी और पुरुष की बराबरी की बात नहीं करता, तथापि यह आवश्यक मानता हूं कि नारी को विकास का पूरा अवसर और अधिकार मिले, उसकी विशेषताओं का सही-सही मूल्यांकन हो और उसके सम्मान की रक्षा की जाए। (११२)
- यदि व्यक्ति स्वयं से शुभ शुरुआत करने की मानसिकता बना लेता है तो कठिन-से-कठिन कार्य भी आसान हो जाता है। कोई मंजिल उससे दूर नहीं रहती। (११५)
- अध्यात्म-विकास का पहला सूत्र है—स्वयं सत्य खोजना। (११८)
- हालांकि धन जीवन चलाने के लिए आवश्यक है, तथापि उसके साथ जब आत्म-नियंत्रण का अभाव रहता है तो वही दुःख और अशांति का कारण बन जाता है। (११९)
- वही उपासना धर्म है, जो हमारे जीवन की पवित्रता में हेतुभूत बनती है, उसका साधन बनती है। जिस उपासना का जीवन की पवित्रता से कोई संबंध नहीं रहता, उसकी हमारे लिए भी कोई उपादेयता नहीं है। (१२०)
- परिग्रह की सुरक्षा अहिंसा से कभी हो नहीं सकती। (१२३)
- आसक्ति परिग्रह है और परिग्रह की सुरक्षा हिंसा है। (१२३)
- साधु को पैसा देना पाप है और साधुओं द्वारा पैसे का संग्रह करना महापाप है। (१२६)
- धार्मिक व्यक्ति को यह समझकर आसक्ति में कमी करनी चाहिए कि अपने कर्मों का भोक्ता मैं स्वयं हूं; बुराई का फल मुझे ही भोगना पड़ेगा, फिर मैं आसक्त क्यों बनूं। (१२७)
- सही मार्ग पकड़े बिना मंजिल कैसे मिल सकती है? शांति का मार्ग पकड़े बिना उसकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी? (१२७)
- पता नहीं कि किन व्यक्तियों की करतूतों ने अहिंसा को कायर और कमजोर व्यक्तियों को हथियार बना दिया। (१३२)
- जो व्यक्ति स्वयं भयभीत रहता है, वह हिंसक है। इसी प्रकार जो औरों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भयभीत बनाता है, वह भी हिंसक है। (१३२)

- अभय और अहिंसा दोनों एक ही हैं। जो कोई व्यक्ति भयभीत होता है, वह स्वयं की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के कारण ही होता है। अतः अभय बनने के लिए हिंसा से उपरत होना जरूरी है। (१३३)
- अहिंसक वह होता है, जो मार सकता है, फिर भी किसी को मारता नहीं। (१३४)
- विचार-भेद के कारण लड़ना बहुत बड़ा पाप है। (१३६)
- जब सही तत्त्व के प्रति व्यक्ति श्रद्धानिष्ठ हो जाता है, तब गलत तत्त्व–बुराई के प्रति ग्लानि का भाव स्वतः पैदा हो जाता है। (१५६)
- वही धर्म वास्तव में धर्म है, जो सुधार की बात करे। जिस धर्म में सुधार की चर्चा नहीं, कार्यक्रम नहीं, उसे धर्म कहने का कोई औचित्य नहीं है। (१६३)
- जब तक जीवनगत धर्म की बात मूल्य नहीं पाती, तब तक वह हमारा बहुत हित नहीं कर सकता। (१६४)
- धर्म का संबंध आस्था से है। जन्म से उसका कोई संबंध है ही नहीं। वह तो समझ-बूझकर स्वीकार करने का तत्त्व है। समझ-बूझकर स्वीकार किया जानेवाला धर्म की आत्मगत हो सकता है। (१६४)
- आत्मगत धर्म ही जीवन के लिए वरदान साबित होता है। (१६४)
- मुनि का धर्म सरलता है तो गृहस्थ का धर्म वक्रता कैसे हो सकेगा? (१६६)
- गुस्सा करनेवाला व्यक्ति दूसरों का नुकसान करे या न भी करे, पर अपना अहित तो कर ही लेता है। (१७१)
- जिस दर्शन या धर्म में अहिंसा, अपरिग्रह आदि का आदर्श रूप नहीं है, वह अधूरा है। इसी प्रकार जिसमें इनका व्यावहारिक रूप नहीं है, वह भी अधूरा है। (१८२)
- धार्मिकता के अभाव में उपासना का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। (१८४)
- विद्यार्थी की कोई उम्रविशेष नहीं होती, यह तो एक मानसिकताविशेष का नाम है। व्यक्ति का मानस जब तक जिज्ञासु है, ग्रहणशील है, वह विद्यार्थी है। (१८६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- खुद को पूर्ण मानना अपने विकास का द्वार बंद करना है, जबकि विद्यार्थी बनकर रहना सतत विकास की यात्रा है। (१८६)
- स्वयं पढ़ने से जितना ज्ञान प्राप्त नहीं होता, उतना अध्यापन से होता है, बशर्ते कि जिज्ञासा का भाव मौजूद हो, ग्रहण करने की मानसिकता बनी हुई हो। (१८७)
- व्यक्ति-निर्माण से बढ़कर और कोई निर्माण नहीं है। (१९५)
- हिंसा की मनोवृत्ति ही व्यक्ति के दुःख और अशांति का मूलभूत कारण है। (१९६)
- सुख और शांति का रास्ता यही है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सीमा तक स्वयं को अनुशासित करे कि मैं दूसरों का सुख नहीं छीनूंगा, दूसरों की अशांति का कारण नहीं बनूंगा। (१९६)
- धर्म तो अजन्मा तत्त्व है, शाश्वत तत्त्व है। आत्मा के साथ इसका तादात्म्य है। जब आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है, तब धर्म का त्रैकालिक अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। (२०३)
- धर्म जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उससे वह पृथक हो नहीं सकता। जो धर्म जीवन से पृथक होता है, वह वस्तुतः धर्म है ही नहीं। (२०३)
- जो धर्म वर्तमान क्षण में व्यक्ति को सुख और शांति की अनुभूति करा सके, वह जाग्रत धर्म है। (२०४)
- व्यक्ति के जीवन में ज्यों-ज्यों त्याग और संयम के फूल खिलते हैं, त्यों-त्यों उसका जीवन सुख और शांति से महकने लगता है। (२०५)
- संत-जन त्याग और संयम के मूर्त रूप होते हैं, अध्यात्म के जीवंत प्रतीक होते हैं। (२०७)
- आत्मदर्शन शांति से जीने का दर्शन है। (२०८)
- धर्म को जीवन में अपनाने का अर्थ है—सत्य और अहिंसा को स्वीकार करना। मेरी दृष्टि में ये दोनों इतने व्यापक तत्त्व हैं कि धर्म के छोटे-बड़े समग्र सिद्धांत इनमें समाविष्ट हो जाते हैं। (२०९,२१०)
- साधना सजगता का ही दूसरा नाम है। साधक स्वयं सजगता का जीवन जीता है और जन-जन को सजगता का संदेश सुनाता है। (२११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- जो स्वयं ही उत्पथ में हैं, वे दूसरों को सही पथ पर कैसे लाएंगे? जो स्वयं ही अंधकार में हैं, वे दूसरों को प्रकाश कैसे बांटेंगे? (२११)
- अच्छे व्यक्तियों को समर्थन देने का अर्थ है–अच्छाइयों को समर्थन देना। (२१५)
- जहां अच्छे व्यक्ति आगे आएंगे, अच्छाइयां प्रतिष्ठित होंगी, वहां समाज और राष्ट्र का वातावरण भी स्वस्थ बनेगा। (२१५)
- अच्छा और बुरा बनना व्यक्ति के स्वयं के हाथ का खेल है। वह अच्छा बनना चाहे तो अच्छा बन सकता है और बुरा बनना चाहे तो बुरा भी बन सकता है। (२१५)
- संकल्प विवेक-चेतना झंकृत करने की प्रक्रिया है। (२१७)
- अनावश्यक संग्रह व्यक्ति तभी करता है, जब वह अनावश्यक अपेक्षाएं पालता है। (२२१)
- संग्रह करनेवाला पैसों का नहीं, दुःखों का संग्रह करता है। (२२२)
- आकांक्षा ही संसार है और जिस-जिस सीमा तक व्यक्ति इससे छूटता जाता है, उस-उस सीमा तक उसका मोक्ष होता जाता है। यानी आकांक्षा से मुक्ति ही मोक्ष है। (२२७)
- जब तक मूर्च्छा नहीं टूटती है, तब तक धन के बिना भी व्यक्ति परिग्रही बन जाता है। (२३३)
- सच्चरित्र, नैतिक और सदाचारी बनने में जो आत्मतोष और आत्मिक आह्लाद मिलता है, उसकी संसार के किसी पदार्थ से तुलना नहीं की जा सकती। (२३६)
- यदि वर्तमान शुद्ध और स्वस्थ है तो भविष्य को सुखमय बनाने की चिंता करना बेमानी है। (२५०)
- सच्चा धार्मिक वह है, जिसका जीवन पवित्र है, जो अपने मन में सहज शांति और तोष का अनुभव करता है। (२५५)
- धन, इज्जत, जमीन, जायदाद आदि की संपन्नता धार्मिक व्यक्ति की पहचान नहीं है। धार्मिक की पहचान है–आत्मतोष। (२५५)
- धर्म है तो वह जीवन-व्यवहार में आए। वह धन की तरह छिपाकर रखने की चीज नहीं है। (२५६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- लोग दुःख नहीं चाहते, पर उसका कारण नहीं मिटाते। (२५६)
- पूर्ण वीतराग बनना दीर्घकालीन साधनासापेक्ष है, पर आंशिक वीतरागता तो हम और आप आज भी प्राप्त कर सकते हैं। (२६१)
- 'जैसे को तैसा' का सिद्धांत राजनीति में मान्य हो सकता है, पर धर्मनीति में इसका कोई महत्त्व नहीं है। (२६१)
- कोई संकीर्ण वृत्तिवाला व्यक्ति चूने-पत्थर के मंदिर में किसी को घुसने से रोक सकता है, पर मन-मंदिर में उपासना करने से कोई किसी को नहीं रोक सकता। (२६२)
- हिंसा और अहिंसा का संबंध किसी प्राणी के मरने और जीने से नहीं है। उसका संबंध है स्वयं के उत्थान और पतन से, उसका संबंध है स्वयं के प्रमाद और अप्रमाद से, स्वयं की सत और असत वृत्तियों से। (२६३)
- खाद्य-संयम अहिंसा है; अनेक प्रकार की शारीरिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समुचित समाधान है। (२६७)
- आसक्ति जितनी कम होती है, पाप का बंधन उतना ही शिथिल होता है। इसके ठीक विपरीत आसक्ति जितनी गहरी होती है, बंधन उतना ही प्रगाढ़ होता है। (२६८)
- अनुस्रोत अनंत जन्म-मृत्यु का घुमाव है, जबकि प्रतिस्रोत निर्वाण है, मुक्ति है। (२७०)
- भोग अनुस्रोत का मार्ग है और त्याग प्रतिस्रोत का। (२७०)
- धन शरीर के स्तर पर सुविधा प्रदान करता है, जबकि सुख का संबंध हमारी आत्मा से है। (२७१)
- सही मार्ग पर बढ़नेवाला निश्चय ही एक दिन अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। लक्ष्य भले कितना ही दूर क्यों न हो, वह उसकी सफलता में बाधक-कारण नहीं बनता। (२७१)
- मैत्री आत्मोदय का एकमात्र मार्ग है। इसका विकास करने के लिए दूसरों की भूलें भूलना आवश्यक है, स्वयं की भूलों का परिमार्जन करना जरूरी है। यह वैर का गट्ठर जिसके सिर पर रहता है, वह रात-दिन इसके भार से दबा रहता है। इसे उतारने से ही दिमाग हलका होता है, मन स्वस्थ होता है। (२७७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- मैत्री का विकास ही शांति का वास्तविक आधार है। (२७७)
- शांति का एकमात्र मार्ग धर्म है, संयम है। (२७९)
- जिसके मन में पाप के प्रति ग्लानि नहीं होती, वह नास्तिक या अधार्मिक होता है। (२८१)
- जिसके मन में पाप का भय रहता है, वह आस्तिक या धार्मिक होता है। (२८१)
- अप्रमत्तता महानता का लक्षण और आत्म-विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है। (२८७)
- जागरण ही जीवन का सूर्योदय है, प्रभात है। (२८९)
- अहिंसा सबसे बड़ा मंगल है, भव-बंधन से मुक्ति का मार्ग है। (२९०)
- जहां व्यक्ति के जीवन का सही ढंग से निर्माण नहीं होगा, वहां समाज का निर्माण कैसे होगा? जहां व्यक्ति ही अस्वस्थ होगा, वहां समाज अस्वस्थ कैसे नहीं होगा? (२९४)
- राह के बिना चाह मात्र कल्पना है, सपना है। (२९५)
- संयम सुख का मौलिक आधार है, शांति का वाचक है। (२९८)
- आचारसंपन्न साधक ही साधु नाम को सार्थक करता है। (३००)
- चरित्र जीवन का अभिन्न साथी है, जबकि उपासना उसमें प्रेरक है। जो उपासना व्यक्ति के लिए अपना चरित्र उज्ज्वल रखने की प्रेरणा न बने, उस उपासना का कोई महत्त्व नहीं है। (३०३)
- जीवन की हर प्रवृत्ति में धर्म की पुट रखने की कला आ जाती है तो जीवन स्वतः निर्मित हो जाता है। (३०४)
- हालांकि धर्म के मौलिक स्वरूप से कोई घृणा कर नहीं सकता, तथापि जहां वह संकीर्णता के साथ जुड़ जाता है, वैमनस्य फैलाता है, वहां वह घृणा का पात्र बन ही जाता है। (३०५)
- जो धर्म युगीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत न कर सके, उसे जनता अस्वीकार कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं। (३०६)
- जो धर्म अपनी प्रासंगिकता बनाए रखता है, वह जीवित धर्म है। उसे कभी कोई नकार नहीं सकता। (३०६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म के दो रूप हैं—पर्व-धर्म और नित्य-धर्म। पर्व-धर्म का अर्थ है—क्रियाकांड-उपासना। नित्य-धर्म का अर्थ है—सत्य, अहिंसा....मैत्री आदि का व्यवहारगत होना। हालांकि क्रियाकांड या उपासना कोई निरर्थक तत्त्व नहीं है, उसका भी जीवन में मूल्य है, तथापि मात्र वे क्रियाकांड हमारे लिए उपयोगी हैं, जो नित्य-धर्म को पुष्ट करें, जीवन की पवित्रता साधें। जो क्रियाकांड इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते, उनकी कोई सार्थकता समझ में नहीं आती।

लोग अपने-अपने धर्म को ऊंचा और श्रेष्ठ साबित करने का प्रयत्न करते हैं, पर सबसे श्रेष्ठ और पवित्र धर्म है—सत्य और अहिंसा। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इसे सिद्धांततः सभी एकमत से स्वीकार करते हैं। इसकी दूसरी विशेषता है कि इसे करने के लिए व्यक्ति को अतिरिक्त समय लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। बस, अपने हर व्यवहार/प्रवृत्ति के साथ जोड़ने की अपेक्षा है। यह धर्म का व्यावहारिक धर्म है और व्यावहारिक धर्म ही जाग्रत धर्म है।

ISBN 81-7195-103-1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org